डॉ० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी

जयशंकर प्रसाद और स्कन्दगुप्त

जयशंकर प्रसाद और 'स्कन्दगुप्त'

लेखक

डॉ॰ राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी,

एम॰ ए॰, डी॰ लिट्॰

विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

अपनी बात

हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों के लाभार्थ मैंने 'प्रसाद' कृत स्कन्दगुप्त नाटक का अध्ययन लिखा था। यह देखकर मुझे प्रसन्नता हुई कि विद्यार्थियों ने उसको उपयोगी पाया और उसका स्वागत किया। प्रस्तुत संस्करण उक्त 'अध्ययन' का परिवर्द्धित और संशोधित रूप है। इसमें मैंने परीक्षार्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए कई नए अध्याय जोड़ दिए हैं। विश्वविद्यालयों की परीक्षाओं में जो प्रश्न पूछे जाते हैं। उनको ध्यान में रखते हुए मैंने इस संस्करण में कई नवीन प्रश्न जोड़ दिए हैं। यथास्थान टीका-टिप्पणी वाले भाग में भी आवश्यक संशोधन कर दिए गये हैं। आशा है प्रस्तुत रूप में यह 'अध्ययन' अधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

राजा बलवन्तसिंह कॉलेज
आगरा
१५-११-६८

—राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी

अनुक्रमणिका

खण्ड १

भूमिका

खण्ड २

खण्ड ३

खण्ड 1
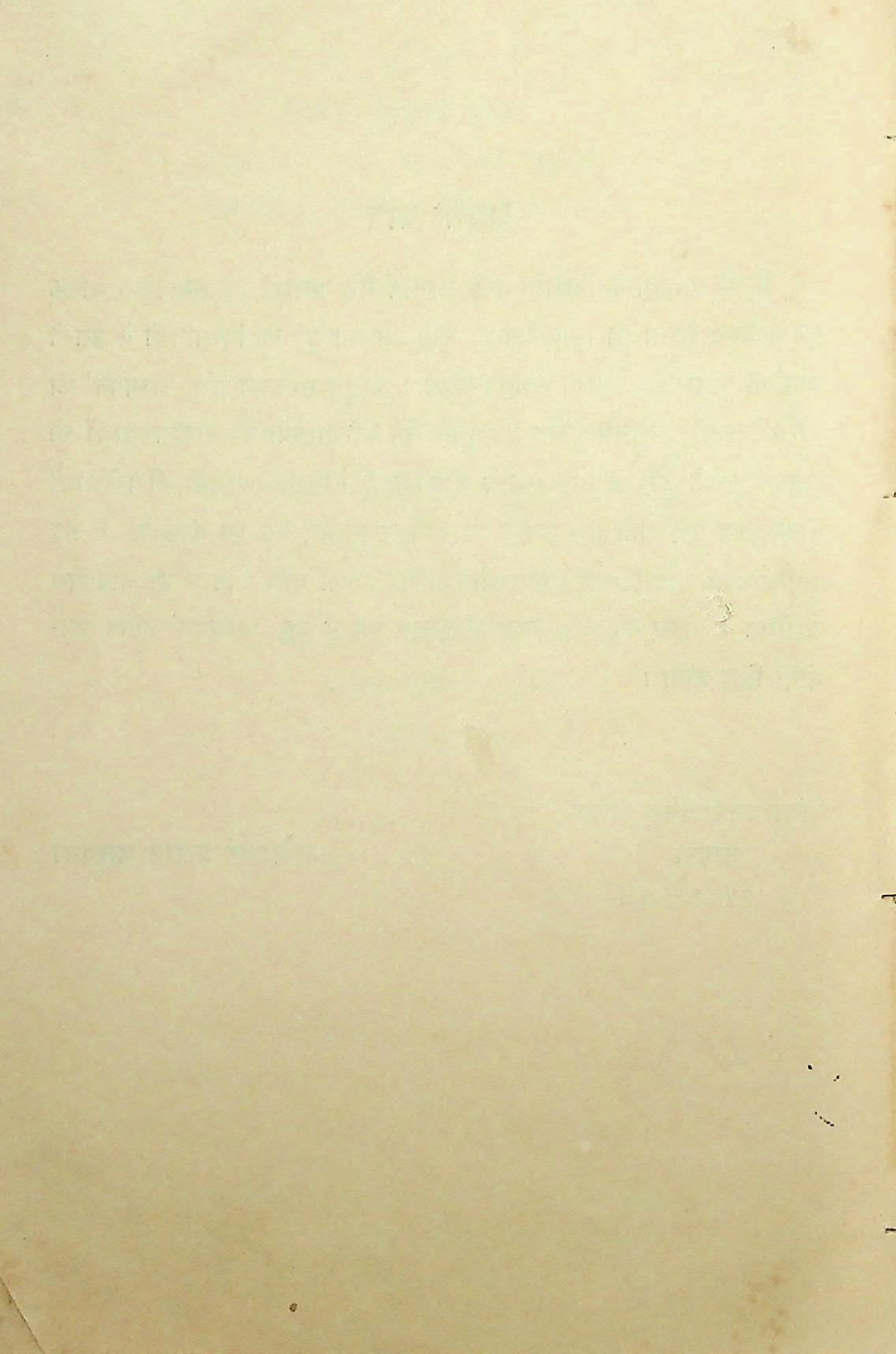
१

प्रसाद का जीवन वृत्त, व्यक्तित्व एवं कृतित्व

उज्ज्वल गाथा कैसे गाऊँ मधुर चाँदनी रातों की,
अरे खिल-खिलाकर हँसते होने वाली उन बातों की।

× × × ×

छोटे से जीवन की कैसे बड़ी कथाएँ आज कहूँ!
क्या यह अच्छा नहीं कि औरों की सुनता मैं मौन रहूँ!
सुनकर क्या तुम भला करोगे मेरी भोली आत्मकथा!
अभी समय भी नहीं, थकी सोई है मेरी मौन व्यथा!

—(आत्मकथा, जयशंकर प्रसाद)

वंश-परिचय—प्रसाद जी की उक्त पंक्तियों में उनके जीवन की कथा और व्यथा—दोनों ही निहित हैं। उनका जन्म ऐसे कुल में हुआ, जहाँ 'सोने के कटोरे में दूध भात खाते हैं' वाली लोकोक्ति चरितार्थ होती थी और ४७ वर्ष के छोटे-से जीवन में उन्होंने जो अनेक बड़े-बड़े कार्य किये, उनकी कथा सचमुच बहुत बड़ी है। प्रसाद जी के ऊपर इतनी विपत्तियाँ पड़ीं कि उनकी चर्चा जितनी कम की जाय, उतना ही अच्छा है।

सुँघनी-साहु का घराना काशी में प्रसिद्ध है। इनके पितामह शिवरत्न साहु जरदा, सुरती और तम्बाकू के व्यापारी थे। इसी व्यापार में उन्होंने धन एवं यश—दोनों ही उपार्जित किये। वह बड़े ही उदार-हृदय एवं दानी थे। उनकी दानशीलता की चर्चाएँ अब तक सुनी जा सकती हैं। कहते हैं कि मिलने पर

लोग 'जय महादेव' शब्द द्वारा उनका स्वागत किया करते थे। यह प्रतिष्ठा काशी में काशीनरेश के अतिरिक्त केवल उनको ही प्राप्त थी।

साहु शिवरत्न के पुत्र बाबू देवीप्रसाद जी अपने पिता के समान व्यवसाय-कुशल एवं उदारमना थे। उन दिनों काशी में दो ही स्थान थे जहाँ गुणियों का आदर होता था—एक काशी नरेश के यहाँ, और दूसरे सुँघनी साहु के यहाँ। उन दिनों बाहर से आने वाले कवि, भाट, कलाकार, बाजीगर और पंडित सभी काशीराज के दरबार से लौटकर इनके यहाँ अवश्य आते थे।

बाबू देवीप्रसाद के दो लड़के हुए—ज्येष्ठ का नाम था शम्भुरत्न और कनिष्ठ थे चरितनायक बाबू जयशंकर प्रसाद।

जन्म और बाल्यकाल—ऐसे सम्पन्न परिवार में प्रसाद जी का जन्म[१] सन् १८९० में हुआ। प्रसाद जी का बचपन बड़े ही लाड़-प्यार और विपुल वैभव के बीच व्यतीत हुआ। वह अपने बाल्य-काल की स्मृतियाँ अपने इष्ट-मित्रों को प्रायः सुनाया करते थे। उन्हें कसरत करने तथा घुड़सवारी का बहुत शौक था। यही कारण है कि अन्तिम दिनों तक उनका शरीर स्वस्थ, सुन्दर, तेजोमय एवं भव्य बना रहा था। उनका व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली था।

प्रसाद जी की स्कूली शिक्षा "नहीं के बराबर" थी। वह बनारस के क्वीन्स कॉलेज में पढ़ते थे। जब वह सातवें दर्जे में थे, तभी बारह वर्ष की अवस्था में उनके पिता जी का देहावसान हो गया। समस्त परिवार पर यह एक भयानक वज्रपात था। परिवार की व्यवस्था का भार दोनों भाइयों पर आ पड़ा। शम्भुरत्न बड़े थे, अतः अधिक भार उन्हीं पर था। उन्होंने छोटे भाई जयशंकर की पढ़ाई का प्रबन्ध घर पर ही कर दिया। जयशंकर ने विभिन्न अध्यापकों की सहायता से संस्कृत, अंग्रेजी, फारसी, हिन्दी तथा उर्दू का ज्ञान प्राप्त किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि संस्कृत के अध्ययन की ओर इनकी विशेष रुचि थी। इन्हीं दिनों इनके मन में पुरातत्त्व के अध्ययन की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। यह प्रवृत्ति कालान्तर में पल्लवित हुई और प्रसाद जी ने अपने

---

१. जन्म-तिथि : माघ शुक्ला १२, संवत् १९४६।

प्राचीन साहित्य सम्बन्धी ज्ञान तथा बौद्धकालीन इतिहास, वेद, पुराण, उपनिषद् स्मृति आदि गहन विषयों के अध्ययन के फलस्वरूप हिन्दी-साहित्य को खोजपूर्ण कृतियों से पूरित किया।

प्रसाद जब १७ वर्ष के थे, तब उनके बड़े भाई शम्भुरत्न का स्वर्गवास हो गया। १५ वर्ष की अवस्था से पहले ही माता का स्वर्गवास चुका था। अब परिवार और व्यवसाय का समस्त उत्तरदायित्व जयशंकर पर ही था। किशोर जयशंकर के सम्मुख दो बड़ी समस्याएँ थीं—(१) बड़े भाई की दानशीलता और शाहखर्ची के कारण चढ़ा हुआ कर्ज और (२) पारिवारिक झगड़े। इनकी नाबालिगी से नाजायज फायदा उठाकर इनके कुछ स्वार्थी निकट सम्बन्धी इनकी जायदाद हड़पने की कोशिश में थे। प्रसाद ने संसार के इस घात-प्रतिघात का साहसपूर्वक सामना किया और सफल हुए। सन् १९२९-३० ई० तक उन्होंने समस्त पारिवारिक कर्ज अदा कर दिया। जीवन के इन संघर्षमय दिनों ने प्रसाद पर गहरा प्रभाव डाला और संसार के सम्बन्ध में एक विशेष विचारधारा प्रदान की। विनोदशंकर व्यास ने लिखा है—"मुझे जब कभी वह अपनी जीवन-कहानी सुनाते तो उनका चेहरा तमतमा उठता, आँखें भर आतीं और ललाट पर संसार की कठोरता की एक रेखा स्पष्ट खिंच जाती थी।"[1]

प्रसाद जी की तीन शादियाँ हुईं। दूसरी पत्नी की मृत्यु के बाद उनके विचार गम्भीर हो गये थे। फिर से घर बसाने की उन्हें कोई लालसा नहीं थी परन्तु अपनी भाभी के शोकमय जीवन को सुलझाने के लिए, वह तीसरा विवाह करने को बाध्य हुए। रत्नशंकर उनकी तीसरी पत्नी की ही सन्तान हैं।

सन् १९३७ की जनवरी में वह लखनऊ में होने वाली प्रदर्शिनी देखने गये। वहाँ से लौटने पर २८ जनवरी से उन्हें ज्वर आने लगा। २२ फरवरी को कफ की जाँच करके डॉक्टरों ने बताया कि उन्हें राजयक्ष्मा (तपेदिक) हो गया है। प्रसाद जी इस रोग के परिणाम से भली-भाँति परिचित थे। फलतः उनकी बातों में जीवन के प्रति उदासीनता झलकने लगी।

---

१. **प्रसाद और उनका साहित्य, पृ० २१।**

डॉक्टरों की राय थी कि उन्हें जलवायु परिवर्तन के लिये कहीं अन्यत्र ले जाना चाहिए, परन्तु प्रसाद जी ने एक न मानी। जब लोगों ने बहुत आग्रह किया, तब उन्होंने बड़े ही करुण स्वर में कहा—"जो होना होगा, वह यहीं होगा। ऐसी अवस्था में अब घर से बाहर जाने में और भी कष्ट होगा।"

१४ नवम्बर (एकादशी) की शाम को उनकी हालत ज्यादा खराब हो गई। डॉक्टरों ने रात के समय अन्तिम घड़ी का संकेत देते हुए कहा—"जो कुछ कहना-सुनना हो, कह-सुन लीजिए।" उन्होंने केवल इतना ही कहा—"साँस लेने में बहुत कष्ट हो रहा है, केवल उसे दूर करने की दवा दीजिए।"

प्रातः ४½ बजे ब्रह्म मुहूर्त की वेला में प्रसाद जी इस भौतिक जगत को त्याग अमरों के लोक में पहुँच गये।

व्यक्तित्व—"साहित्यिक कार्यक्रम तो उनका पूर्ण था ही, साथ ही पारिवारिक प्रबन्ध में भी त्रुटि नहीं थी। फिर भी सन्तान की ममता के जाल से वह अलग न हो सके। उनके दार्शनिक विचार और सिद्धान्त स्वयं एक पहेली-से बन गये।"[1]

जीवन की कठिनाइयों के बीच उनके व्यक्तित्व का निर्माण हुआ और उनके विचारों में गम्भीरता आई, गम्भीर अध्ययन ने उन्हें दार्शनिकता दी। उनकी रचनाओं पर इन बातों की छाया है।

श्री विनोदशंकर व्यास और प्रसाद जी का निकट का घनिष्ठ परिचय था। व्यास जी ने अपनी पुस्तक 'प्रसाद और उनका साहित्य' में प्रसाद जी के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में बहुत-कुछ लिखा है। पाठकों की जानकारी के लिए उसके कतिपय अंश यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

"मैंने देखा है कि प्रसाद जी की दिनचर्या ही साहित्यिक थी। प्रातःकाल से रात्रि तक वे या तो पढ़ते-लिखते अथवा लेखकों और कवियों से साहित्यिक

---

१. **प्रसाद और उनका साहित्य, पृ० ३६।**

चर्चा करते रहते। उन्हें इतना अवकाश ही न मिलता कि वे अपने व्यवसाय की ओर ध्यान देते।

× × ×

६ से ६ बजे रात तक बातें होती रहतीं। कभी-कभी आने वाले लोगों में साहित्यिक प्रश्नों पर तर्क भी होने लगता। प्रसाद जी मौन होकर सुनते और अन्त में कभी बहुत पूछने पर अपना मत प्रकट करते।

× × ×

प्रसाद जी की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वह किसी को दुःखी और अपमानित नहीं करना चाहते थे।

मैंने अपने इतने दिनों के लम्बे साथ में उन्हें सर्वदा मृदुभाषी, हँसमुख, मिलनसार, सहृदय और व्यवहार-कुशल पुरुष ही पाया। हाँ, वे इण्टरव्यू और विवादग्रस्त प्रश्नों के उत्तर देने से सदैव दूर रहते थे, क्योंकि बीसवीं शताब्दी के पत्रकारों की, तिल को ताड़ बना देने वाली आदत से भली-भाँति परिचित थे।

जिन लोगों ने उनकी रचनाओं की तीव्र आलोचना लिखी है, उनके प्रति भी प्रसाद जी कोई द्वेष न रखते थे।

हिन्दी के साहित्यिक बाजार में उन दिनों दलबन्दी की धूम थी। एक ओर विख्यात प्रोपेगेण्डिस्ट पं० बनारसीदास चतुर्वेदी अपना बंगीय शंख फूँक रहे थे और दूसरी तरफ बाबू दुलारेलाल भार्गव उदीयमान लेखकों का साँचा तैयार कर रहे थे। ये दोनों महापुरुष प्रसाद जी के विरोध में थे।

× × ×

जिस दिन 'कामायनी' समाप्त हुई, उनके चेहरे पर एक अपूर्व शान्ति विराज रही थी।

मैंने कहा—"आपने हिन्दी-साहित्य के भण्डार में सब कुछ भरा है, उसके प्रत्येक अंग की पूर्ति की है।"

वे मौन थे। केवल इतना ही कहा—"कामायनी लिखकर मुझे सन्तोष है।"

"शान्त गम्भीर सागर, जो अपनी आकुल तरंगों को दबा कर धूप में मुसकरा उठा है या फिर गहन आकाश, जो झंझा और विद्युत को हृदय में

समाकर चाँदनी की हँसी हँस रहा है—ऐसा ही कुछ प्रसाद का व्यक्तित्व था।"[१]

साहित्य सृष्टि—सन् १६०० में (उस समय इनकी अवस्था ११ वर्ष की थी) प्रसाद जी ने अपनी माता के साथ धाराक्षेत्र, ओंकारेश्वर, पुष्कर, उज्जैन, जयपुर, व्रज और अयोध्या आदि तीर्थ-स्थानों की यात्रा की। अमर-कण्टक पर्वत-माला के बीच नर्मदा की नौका-यात्रा उन्हें जीवन भर न भूली। उन दृश्यों ने उन्हें बहुत प्रभावित किया। "प्रकृति के अनुपम सौन्दर्य की छाया में प्रथम बार उनकी कविता ने विकास के आलोक में पदार्पण किया। उसी के साथ ही कवि का प्रादुर्भाव हुआ।"[२]

इसके बाद, एक बार वह कलकत्ता और जगन्नाथपुरी गये। एक बार लखनऊ तथा दो बार प्रयाग गये। बस, यही उनकी यात्राओं का विवरण है। पुरी के समुद्र तट पर बैठकर ही उन्होंने 'जागरण' शीर्षक कविता लिखी थी।[3] नमूना देखिए—

> **"जहाँ साँझ सी जीवन-छाया;**
> **ढीले अपनी कोमल काया।**
> **नील नयन से ढुलकाती हो;**
> **ताराओं की पाँति घनी रे।"**

पुरी से लौटने के बाद ही 'कामायनी' का कथा-भाग आगे बढ़ने लगा था।

सन् १६०७-८ के आस-पास प्रसाद जी की कविताएँ सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगीं। उनकी वे प्रारम्भिक कविताएँ व्रजभाषा की पुरानी शैली में थीं। इसके बाद उन्होंने खड़ीबोली में लिखना शुरू किया। नई शैली की कविता लिखने वालों में प्रसाद प्रथम थे। उनकी प्रेरणा से काशी से 'इन्दु' नामक मासिक-पत्र निकला, जिसमें उनकी रचनाएँ बराबर

---

१. **प्रसाद और उनका साहित्य, पृ० १८।**
२. **प्रसाद के नाटक—डॉ० नगेन्द्र।**
३. **१६ दिसम्बर, सन् १६३१।**

प्रकाशित होती रहतो थीं। कतिपय कठिनाइयों के कारण 'इन्दु' असमय में ही बन्द हो गया।

प्रसाद जी की प्रारम्भिक कविताओं का संग्रह 'कानन-कुसुम' लगभग सन् १९११-१२ में प्रकाशित हुआ था। उनकी प्रारम्भिक कविताओं की अन्य पुस्तकें—'प्रेम-पथिक' और 'महाराणा का महत्त्व' हैं। इन काव्य-ग्रन्थों ने हिन्दी कविता के क्षेत्र में उथल-पुथल मचा दी थी। प्रसाद जी युग-प्रवर्त्तक कवि थे।

प्रसाद जी ने पद्य ही नहीं, गद्य भी लिखा। उन्होंने नाटक, उपन्यास, कहानियाँ, निबन्ध—सभी कुछ लिखे।

उनका सबसे पहला नाटक 'सज्जन' है। प्रारम्भिक नाटकों में उन्होंने काव्य का अधिक सहारा लिया है। 'करुणालय' नाटक ऐसी रचना है, जिसमें नाटक के सभी पात्र कविता में बातें करते हैं। इसके बाद उन्होंने नाटक लिखने की यह शैली छोड़ दी। उन्होंने नाटकों में युग-परिवर्तन किया, अनेक ऐतिहासिक नाटक लिखे और वे नाटक खूब प्रसिद्ध हुए। उनके जैसा नाटककार हिन्दी में आज भी कोई नहीं है। उनके ऐतिहासिक नाटकों का आधार-स्तम्भ प्राचीन भारतीय सभ्यता है। उनके प्रसिद्ध नाटक हैं—चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ, कामना तथा ध्रुवस्वामिनी।

प्रसाद जी की सर्वप्रथम कहानी 'ग्राम' सन् १९११ में 'इन्दु' में प्रकाशित हुई थी। यह हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी है। सन् १९१२ में प्रसाद जी की पाँच मौलिक कहानियों का 'छाया' नामक संग्रह हिन्दी में प्रकाशित होने वाला प्रथम मौलिक कहानी-संग्रह था। कविता और नाटकों की भाँति प्रसाद जी ने कहानी के क्षेत्र में भी युगान्तर उपस्थित किया। प्रसाद जी की कहानियाँ भी प्राय: प्रचीन भारतीय-सभ्यता से सम्बद्ध हैं। इन्होंने कुछ सामाजिक कहानियाँ भी लिखीं। इनकी कहानियों के पाँच संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रसाद ने तीन उपन्यास लिखे—कंकाल, तितली तथा इरावती। 'इरावती' अन्तिम ऐतिहासिक उपन्यास है जो अधूरा ही रह गया था।

प्रसाद जी हिन्दी-साहित्य के निष्णाता और प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे। उन्होंने लिखा और खूब लिखा, जो कुछ लिखा—वह लाजवाब लिखा। उनकी कृतियाँ हमारे साहित्य की स्थायी सम्पत्ति हैं। हमें उन पर गर्व है।

काल-क्रम के अनुसार उनकी रचनाओं को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) पूर्व-काल, सन् १९१० से सन् १९२२ तक। (२) मध्यकाल, सन् १९२३ से सन् १९२९ तक। (३) अन्तिम काल, सन् १९२९ से १९३७ तक। प्रसाद जी ने अपने साहित्यिक जीवन के पूर्व-काल में 'सज्जन, कल्याणी-परिणय, करुणालय, प्रायश्चित्त, विशाख, राज्यश्री, अजातशत्रु, झरना, प्रतिध्वनि छाया, प्रेमपथिक, महाराणा का महत्त्व तथा चित्राधार'—ये रचनाएँ दीं। मध्यकाल में उनके द्वारा लिखे गये ग्रन्थों के नाम हैं—'जनमेजय का नागयज्ञ, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, कामना, आकाशदीप, आँसू, कंकाल और एक घूँट।' उनके अन्तिम काल अर्थात् सन् १९२९ से और सन् १९३७ के बीच के समय की रचनाओं के नाम हैं—'आँधी, तितली, ध्रुवस्वामिनी, इन्द्रजाल, लहर, कामायनी, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध और इरावती (अधूरा उपन्यास)।' सारांश यह है कि उनके साहित्यिक जीवन का मध्य तथा अन्तिम काल अधिक महत्त्वपूर्ण है, अर्थात् इन्होंने सन् १९२२ से लेकर सन् १९३७ तक के अल्प समय में हिन्दी साहित्य को अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियाँ दीं।

प्रसाद की रचनाओं का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

(१) **नाटक**—नाटककार के रूप में प्रसाद जी का स्थान सर्वोपरि है। इन्होंने कुल मिलाकर १३ नाटक लिखे।[1]

(२) **तीन उपन्यास**—कंकाल, तितली और इरावती।

(३) **पाँच काव्य**—कानन-कुसुम, झरना, आँसू, महाराणा का महत्त्व और कामायनी (महाकाव्य)।

(४) **निबन्ध**—इन्होंने साहित्य के विविध विषयों से सम्बन्धित निबन्ध लिखे। एक निबन्ध-संग्रह 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' के नाम से प्रकाशित हुआ है।

---

१. **ब्यौरा 'प्रसाद की नाट्यकला' शीर्षक के अन्तर्गत देखें।**

(५) **कहानी**—प्रसाद की विविध कहानियों के पाँच संग्रह हैं—छाया, प्रतिध्वनि, आकाशदीप, आँधी और इन्द्रजाल।

भाषा और शैली—प्रसाद की रचनाओं पर उनके गम्भीर अध्ययन एवं पाण्डित्य की छाप सर्वत्र मिलती है। उनकी भाषा संस्कृतनिष्ठ एवं अपेक्षाकृत क्लिष्ट है। छोटे-छोटे वाक्यों में संगीत जैसी लय भर देना, उनकी विशिष्ट विशेषता है। उनका वाक्य-विन्यास अत्यन्त चुस्त एवं गठा हुआ है। बात को स्पष्ट करने के लिये वह उपमाओं एवं उक्तियों का अनूठा चमत्कार दिखाते हैं। प्रसाद जी पहले कवि थे, बाद में कुछ और। अत: निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि उनकी भाषा में हमें सदा-सर्वदा काव्यात्मक चमत्कार देखने को मिलता है। भावावेश के स्थलों पर उनकी भाषा भावात्मक हो गई है, जिसके प्रवाह में पाठक बह जाता है। प्रारम्भ में उनकी भाषा सरल थी, ज्यों-ज्यो उनका अध्ययन बढ़ता गया, त्यों-त्यों भाषा गम्भीर होती गई। भावों और विचारों की भाँति प्रसाद की भाषा का भी विकास हुआ। ज्यों-ज्यों अध्ययन गम्भीर होता गया। त्यों-त्यों भाषा में प्रवाह, प्रौढ़ता, सौन्दर्य एवं सौष्ठव का समावेश होता गया। भाषा सर्वथा प्रांजल व परिष्कृत है। गम्भीरता के साथ-साथ उसमें सहृदयता का विशेष पुट है।

प्रसाद की नाट्य-कला

हिन्दी-साहित्य में प्रसाद जी का महत्त्व मुख्यतया नाटककार के रूप में है। उन्होंने कुल मिलाकर १३ नाटक लिखे। उनका रचना-क्रम इस प्रकार से है—

१. सज्जन .... सन् १९१०-११
२. कल्याणी-परिणय .... सन् १९१२
३. करुणालय .... सन् १९१२
४. प्रायश्चित्त .... सन् १९१४
५. राज्यश्री .... सन् १९१५
६. विशाख .... सन् १९२१
७. अजातशत्रु .... सन् १९२२

८. कामना .... यह रचना लिख तो गई थी—
.... सन् १९२३-२४ में, परन्तु प्रकाशित हुई सन् १९२७ में।

९. जनमेजय का नागयज्ञ .... सन् १९२६
१०. चन्द्रगुप्त .... सन् १९२८
११. स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य .... सन् १९२८
१२. एक घूँट .... सन् १९२९
१३. ध्रुवस्वामिनी .... सन् १९३३

विशेष—(१) 'राज्यश्री' के अनन्तर प्रसाद ने ६-७ वर्ष तक कोई नाटक नहीं लिखा।

(२) 'अजातशत्रु' लिखने के वाद फिर चार वर्ष तक वह हमारे सामने नाटककार के रूप में नहीं आए।

(३) 'ध्रुवस्वामिनी' उनका अन्तिम नाटक है।

(४) सज्जन, प्रायश्चित्त, करुणालय तथा कल्याणी-परिणय—ये चार एकांकी रूपक हैं।

(५) इनके प्रायः समस्त नाटक ऐतिहासिक हैं। उन पर बौद्धकालीन वातावरण की छाप है।

डॉक्टर नगेन्द्र ने प्रसाद के नाटकों के आधार के सम्वन्ध में बहुत सुन्दर विश्लेषण किया है। जैसे—

"प्रसाद के सभी नाटकों का आधार सांस्कृतिक है। आर्य संस्कृति में उन्हें गहन आस्था थी, इसलिए उनके नाटकों में भारत के इतिहास का प्रायः यही परिच्छेद है (चन्द्रगुप्त मौर्य, हर्ष), जिसमें उनकी संस्कृति अपने पूर्ण वैभव पर थी—ब्राह्मण और बौद्ध संस्कृतियों के संघर्ष से जब स्वरूप प्रखर हो उठा था।"

एक ओर चाणक्य ब्राह्मण-धर्म की व्याख्या करता हुआ घोषित करता है—

"ब्राह्मण एक सार्वभौम शाश्वत बुद्धि-वैभव है—वह अपनी रक्षा के लिए, पुष्टि के लिए और सेवा के लिए इतर वर्णों का संगठन कर लेगा।"

दूसरी ओर भगवान् बुद्ध की शीतल वाणी सुनाई देती है—

"विश्व के कल्याण में अग्रसर हो। असंख्य दुःखी जीवों को हमारी सेवा की आवश्यकता है।........विश्व-मैत्री हो जायेगी, विश्व-भर अपना कुटुम्ब दिखाई पड़ेगा।"

इन्हीं दोनों धूपछाँही डोरों से बुना हुआ प्रसाद के नाटकों का आधार है। प्रसाद के नाटकीय विधान में हमें उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा के दर्शन होते हैं। विशाख, जनमेजय का नागयक्ष, अजातशत्रु आदि नाटक तो उन्होंने लिखे ही, 'करुणालय' एक गीति-नाट्य है, 'कामना' रूपक है और उनके 'एक घूँट' में आधुनिक सांकेतिकता या संकेतवाद (प्रतीकवाद) की प्रवृत्ति दृष्टि-गोचर होती है।

डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने अपनी पुस्तक 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' में लिखा है—"एक ओर तो उनके नाटकों में प्राचीन भारतीय नाट्य-शास्त्र के समस्त अङ्गों का परिपाक हुआ और दूसरी ओर उन्होंने पश्चिमी सिद्धान्तों का समावेश भी अपने नाटकों में दिखाया है। हमारे विचार से आरम्भिक रचनाओं में प्रसाद का झुकाव प्राचीन अथवा भारतीय सिद्धान्तों की ओर है, और कालान्तर में यह धीरे-धीरे अर्वाचीन सिद्धान्तों की ओर झुकते गये हैं। 'सज्जन' में संस्कृत-नाटकों की शैली पर आरम्भ में नान्दी पाठ है, उसके बाद सूत्रधार आता है और अपनी स्त्री से नाट्याभिनय का प्रस्ताव करता है। 'सज्जन' के कथोपकथन भी संस्कृत-नाटकों की शैली के हैं। उनमें यथा-स्थान पद्य का सम्मिश्रण है।"

'सज्जन' के बाद के नाटकों में यद्यपि प्रस्तावना का अभाव है तथापि कई नाटकों का प्रथम दृश्य प्रायः परिस्थिति एवं पात्रों का परिचायक मात्र है। इस प्रकार विधिवत् प्रस्तावना न होने पर भी उनमें प्रस्तावना का उद्देश्य निहित है। 'अजातशत्रु' और 'स्कन्दगुप्त' इस शैली के उदाहरण हैं।

भरत-वाक्य के ढंग का एक पद्य 'प्रसाद' के कई नाटकों के अन्त में मिलता है। यथा—विशाख, जनमेजय का नागयज्ञ, कामता, करुणालय तथा राज्यश्री। 'एक घूँट' यद्यपि चरम नवीनता का उदाहरण है, तथापि उसके अन्त में उसके विषय से अनुकूल एक पद्य दे दिया गया है।

प्रसाद के नाटकों में कई स्थलों पर संस्कृत नाट्यशास्त्र में वर्जित अनेक दृश्य भी आ गए हैं। यथा—

(क) 'जनमेजय का नागयज्ञ' में जरत्कारु की मृत्यु और बाद में हवनकुण्ड नागों की आहुति।

(ख) 'प्रायश्चित्त' में जयचन्द द्वारा आत्महत्या।

(ग) 'अजातशत्रु' में श्यामा की हत्या। यद्यपि उसका अन्त मृत्यु में नहीं होता है तथापि दर्शकों के ऊपर अनिष्टकारी प्रभाव पड़ता है।

वैसे प्रसाद की रचनाओं में वर्जित दृश्य दिखाने वाले गर्भकों, प्रवेशकों, विष्कम्भकों का प्रायः अभाव ही रहा है।

प्रसाद के नाटकों में प्राचीन भारतीय संस्कृत के निरूपण के अतिरिक्त हमें सामयिक समस्याओं—देशभक्ति, दाम्पत्य सम्बन्ध-विच्छेद, धार्मिक अथवा जातीय दम्भ आदि का भी प्रौढ़ विवेचन मिलता है। यह बात अवश्य है कि ऐतिहासिक घटनाओं के कारण प्रसाद के नाटकों की कथावस्तु की सीमाएँ कुछ संकुचित हो गई हैं।

प्रसाद के पात्रों के विकास के सम्बन्ध में तीन बातें विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं—

(१) उनके चरित्र अन्तर्द्वन्द्व को लेकर चलते हैं। चरित्र-निर्माण की सबसे बड़ी सफलता यही है।

(२) चरित्रों के विकास में उन्होंने एक सूत्र रखा है—"कोई भी पात्र अपने संस्कारों और जातिगत व्यवहारों से परे नहीं जा पाता। यदि जाना भी चाहता है तो ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं कि अपनी मनमानी करने में वह असमर्थ हो जाता है।" प्रसाद के चरित्र-विधान के सूत्र का सबसे बड़ा उदाहरण 'चाणक्य' है। वह अपनी समस्त कूटनीति के पश्चात् ब्राह्मण-वृत्ति को ही धारण कर सन्तोष करता है।

(३) चरित्र-चित्रण करते समय प्रसाद ने एक नवीन प्रणाली का उपयोग किया है। प्रत्येक नाटक में ऐतिहासिक घटनाओं के साथ एक ऐसा भी मनुष्य है जो विषमता में समता लाने का उद्योग करता है। संस्कारों में परिवर्तन, अधर्म पर धर्म की विजय, कठोरता पर कोमलता का प्रभुत्व और

विरोधी के प्रति करुण का भाव उत्पन्न करना उसका प्रधान कार्य है। कभी-कभी यह काम किसी साधु-महात्मा से कराया गया है, जैसे—गौतम, व्यास, पर्णदत्त आदि से।

इन व्यक्तियों को लाकर प्रसाद ने देश और काल-तत्त्व की भी रक्षा कर ली है और मानवता का आदेश भी सुरक्षित रख लिया है।[1]

सारांश रूप में प्रसाद के पात्रों का विभाजन निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है—

(क) पुरुष-पात्र प्रायः तीन प्रकार के मिलते हैं—

१—जीवन के तत्त्वों को सुलझाने वाले तत्त्ववेत्ता आचार्य।

२—जीवन-संग्राम में प्रवृत्त होकर जूझने वाले कर्मठ सैनिक।

३—राजपुत्रों को राजनीति के दाँव-पेच सिखाने वाले कूटनीतिज्ञ।

(ख) स्त्री-पात्रों की निम्नलिखित चार श्रेणियाँ मिलती हैं—

१—राजनीति की आग से खेलने वाली राजमहिषियाँ।

२—जीवन-क्षेत्र में प्रेम का सम्बल लेकर कूदने वाली स्वाभिमानिनी राज-पुत्रियाँ।

३—जीवन के भँवर में पड़ी हुई मध्यवर्गीय दुर्बल नारियाँ।

४—अपने निस्पृह बलिदान से नाटक के जीवन में एक करुण गन्ध छोड़ जाने वाली फूल-सी सुकुमारियाँ।

समस्त प्रकार के चरित्रों में अपने व्यक्तित्व की साँस फूँक देना प्रसाद की चरित्र-चित्रण कला की सबसे बड़ी विशेषता है।

अंक और दृश्य-विभाजन के सम्बन्ध में 'प्रसाद' अनिश्चित हैं। इस दशा में उन्होंने किसी एक निश्चित क्रम को नहीं अपनाया है।

संवाद और पात्रों द्वारा वस्तु-निर्देशन में प्रसाद ने एक नूतनता ला दी है। इनके संवादों में भारतेन्दु काल के संवादों का तर्क भी बना रहा और साथ ही उनमें भावुकता की छाप भी लग गई। प्रसाद ने संवादों के सम्बन्ध में 'स्वगत' और 'सूच्य'—दोनों शैलियों का समुचित उपयोग किया है।

---

१. हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास, पृ० १९९।

इनके संवादों में एक दोष प्रायः पाया जाता है। वे अपेक्षाकृत अधिक लम्बे होने के कारण कहीं-कहीं अस्वाभाविक एवं अरुचिकर हो गये हैं। इन भाषणों में प्रसाद के कवि-हृदय की भावुकता है। इस कारण किसी हद तक उनका यह दोष क्षम्य भी है।

जीवन में सुख और दुख—दोनों का सम्मिश्रण है। नाटक में भी दोनों का चित्रण होता है—प्रसाद ने दोनों का समन्वय किया है। प्रो० शिलीमुख ने ठीक ही लिखा है—'प्रसाद की सुखान्त भावना प्रायः वैराग्यपूर्ण अथवा मानव-प्रेम से भरित शान्ति होती है।"[1] डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में—"ये नाटक सुखान्त अथवा दुखान्त न होकर प्रसादान्त हैं। उनके पात्र किसी सांसारिक उद्देश्य के लिए भयानक संघर्ष में प्रविष्ट होकर उसे प्राप्त करें या न करें, उन्हें शान्ति अवश्य मिलती है। इस दशा में प्रसाद के नाटक संस्कृत (प्राचीन) और अंग्रेजी (अर्वाचीन) दोनों ही शैलियों से भिन्न हैं।"[2]

भारतीय विचारधारा सदा से आदर्शवादी रही है। भारतीय परम्परा नाटक को सुखान्त रखने की पक्षपाती है। संस्कृत नाटककारों ने अपने नायक-नायिकाओं को इस प्रकार चुना है कि ये फल-प्राप्ति के अधिकारी हों। इस प्रकार नाटक के अन्त में उन्हें फलागम के साथ सुख और शान्ति की प्राप्ति हो जाती है।

दुःखान्त नाटक के सम्बन्ध में अंग्रेजी धारणा यह है कि नाटक के नायक का अन्त मृत्यु अथवा कठोर असफलता में हो।

'प्रसाद' ने आदर्श और यथार्थ का अपूर्व समन्वय किया है। उन्होंने भावना में दार्शनिकता का पुट दे दिया है। उन्होंने कर्त्तव्य को सर्वोपरि मान आत्म-संतोष को उसका परिणाम माना है।

'प्रसाद' जी ने अपनी कल्पना और नाट्य-कुशलता द्वारा ऐसे वातावरण की सृष्टि की है, जिसमें अपराध करने वाला स्वयं अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान प्राप्त कर पश्चात्ताप करता है और यदि अपने कृत्यों के कारण उसे मृत्यु

---

१. प्रसाद की नाट्यकला, पृ० ६५।

२. प्रसाद के नाटक (निबन्ध)।

का सामना करना पड़ता है तो उसे भी वह बड़े संतोष और हर्ष से स्वीकार करता है। उस अवस्था में उसका अवसाद सुख का रूप धारण कर लेता है और उसे असली आत्म-सन्तोष की प्राप्ति होती है। नरदेव का अभूतपूर्व त्याग, विम्बसार की मृत्यु, वन्धुल की हत्या पर मल्लिका की दशा, भटार्क की हत्या, स्कन्द का राज-त्याग, चाणक्य का वन-गमन और रामगुप्त की मृत्यु आदि सभी प्रसंग, जो नाटकों को अन्यथा दुःखान्त रूप दे सकते थे, इसी प्रकार की सुखान्त भावना पर अवलम्बित हैं।[1] वे सचमुच प्रसादान्त हैं, उनमें नाटकों के उपयुक्त स्वरूप का निरूपण हुआ है।

मानवीय भावों और आदर्शों में इस उदात्त वृत्ति का सृजन 'प्रसाद' की अनुपमता और विश्वकल्याण के प्रति उनकी विशाल-हृदयता का सूचक है। हिन्दी नाटकों के लिए तो यह एक अनुपम देन है।

प्रसाद के नाटकों में गीत—प्रसाद के नाटकों में आए सुन्दर गीतों ने नाट्य कला में मणि-कांचन संयोग वाली बात चरितार्थ की है। उनके कारण नाटकों की सुन्दरता में श्री वृद्धि हुई है। उनके ये गीत केवल कल्पना प्रसूत नहीं हैं, वे मानवीय भावनाओं की अनुभूति हैं। उनके नाटकों में प्रयुक्त ये गीत परिस्थिति विशेष के अनुकूल हैं और गाने वाले पात्र के चरित्र का उद्घाटन करने में विशेष सहायक होते हैं।

प्रसाद के नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता उनकी 'भाषा' है। उनकी भाषा संस्कृत-निष्ठ हिन्दी है, वह सर्वथा साहित्यिक है। भावुकता के साथ-साथ प्रसाद उत्कट कल्पना का भी संयोग करते हैं। फलतः उनकी भाषा में क्लिष्टता भी आ गई है।

कतिपय महानुभाव उनकी भाषा को 'पथरीली' एवं नाटकों को 'अन-भिनेय' वताते हैं। हमारे विचार से प्रसाद की भाषा 'पथरीली' न होकर सरल एवं मधुर है। उसमें काव्य का लालित्य है। सामान्य व्यवहार की दृष्टि से वह कुछ कठिन अवश्य है। साहित्यिकता और क्लिष्टता—दो भिन्न वस्तुएँ हैं।

---

१. **हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास, पृ० २०१-२०२।**

थोड़ा-बहुत आवश्यक परिवर्तन करके, विशेषकर कथोपकथनों को कुछ छोटा करके, उनके नाटकों का अभिनय किया जा सकता है।

प्रसाद के नाटकों का प्रभाव—प्रसाद के नाटकों का व्यापक प्रभाव किसी लेखक पर नहीं पड़ा। यह एक आश्चर्य की बात भले ही हो, परन्तु साहित्यिक नाटकों की परम्पराएँ पूर्वरूपानुसार ही चलती रहीं। डॉ० सोमनाथ गुप्त ने इसके दो कारण माने हैं—

(१) प्रसाद का व्यक्तित्व इतना ऊँचा था, जिसने सूर और तुलसी की भाँति अन्य नाटककारों के व्यक्तित्व को अपने में छिपा लिया। अन्य लेखकों में उस 'सब' का अभाव है जो प्रसाद जी की रचनाओं में भरा पड़ा है।

(२) प्रसाद के अतिरिक्त हिन्दी के लेखकों में कोई इतना अध्ययनशील और मननशील लेखक नहीं हुआ, जो अपने उद्योग से इस बुद्धिवादी युग में शिक्षित समुदाय के सामने कोई नवीन वस्तु रखता।

"भाव, भाषा, शैली, कला आदि सभी दृष्टियों से प्रसाद-युग हिन्दी नाटक साहित्य का स्वर्ण-युग है।"

२

नाट्य-कला की उत्पत्ति और विकास

चंचल समीर जलराशि पर अपना चित्र अंकित कर देता है, सूर्य की किरणें जल-थल पर अपना शीतोष्ण प्रभाव ही उत्पन्न नहीं करतीं, अपितु विभिन्न पदार्थों में प्रतिफलित होकर विभिन्न रंगों का उद्घाटन भी करती हैं। दीपशिखा अपने चारों ओर प्रकाश को विकीर्ण कर एक विशेष प्रकार का आकर्षक वातावरण उत्पन्न कर देती है—कौन कह सकता है सृष्टि के कितने रूप हैं ? प्रकृति का प्रत्येक पदार्थ अपने आसपास एक नहीं, अनेक प्रकार के चित्रों का सृजन करता रहता है। मानव भी इस नियम का अपवाद नहीं है। चैतन्य मनुष्य पर बाह्य सृष्टि की विविध वस्तुओं की प्रतिच्छाया भी पड़ती है और छाप भी पड़ती है। फलस्वरूप उसका हृदय दोलित हो उठता है और उसी क्षण वह अपने हृदय पर पड़ने वाले इन प्रभावों को व्यक्त करने के लिए उत्सुक हो उठता है। इन प्रभावों को व्यक्त करने के लिये उसके पास अनेक माध्यम अथवा साधन हैं। अभिव्यक्ति के इन विभिन्न माध्यमों को 'कला' कहते हैं।

यद्यपि मूल अभिव्यक्ति कलाकार के अन्तर की अभिव्यक्ति, एकरस अथवा अखण्ड ही रहती है, तथापि उसकी अभिव्यक्ति में हमें उपकरण-भेद दिखाई देता है। जब हम भिन्न-भिन्न कला-कृतियों पर विचार करते हैं, तब हमारी दृष्टि उनके मूर्त्त रूप पर जाती है और तभी हमें कलाओं की भिन्नता के दर्शन होते हैं।

कलाकार की मानसिक अभिव्यक्ति ही कला का बाह्य रूप धारण करती है। अभिव्यक्ति के बाह्य उपकरणों को मूर्त्त आधार सामग्री कहते हैं। इसी भेद के आधार पर कलाओं का वर्गीकरण किया जाता है।

जिस प्रकार प्रकृति के पदार्थों में हमें सुन्दरता और उपयोगिता—ये दो गुण दिखाई देते हैं, उसी प्रकार मनुष्य के द्वारा निर्मित पदार्थों अथवा उसकी कला-कृतियों में हमें लालित्व एवं उपयोगिता के दर्शन होते हैं। लालित्य और उपयोगिता सापेक्ष हैं। किसी पदार्थ में लालित्य का प्राधान्य होता है और किसी में लालित्य की अपेक्षा उपयोगिता की प्रधानता होती है।

इस प्रकार कला-कृतियों के दो विभाग किये जाते हैं :—(१) जिनमें उपयोगिता की प्रधानता हो, और (२) जिनमें सुन्दरता की प्रधानता हो। इन्हें क्रमश: 'उपयोगी कला' और 'ललित कला' कहते हैं। पहली द्वारा प्राय: हमारी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। बढ़ई, लोहार, कुम्हार, सभी के व्यवसाय 'उपयोगी कला' के अन्तर्गत आते हैं। द्वितीय वर्ग की कलाओं द्वारा हमारो मानसिक तृप्ति होती है। यदि 'उपयोगी कला' का सम्वन्ध मनुष्य की शारीरिक और आथिक उन्नति से है तो 'ललित कला' का सम्बन्ध उसके मानसिक विकास से है। 'ललित कला' वाले वर्ग के अन्तर्गत पाँच कलाएँ रखी गई हैं—(१) वास्तु-कला, (२) मूर्त्ति-कला, (३) चित्र-कला, (४) संगीत-कला, तथा (५) काव्य-कला।

ललित कलाओं को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) जो नेत्रेन्द्रिय द्वारा मानसिक तृप्ति प्रदान करती हैं और (२) जो श्रवणेन्द्रिय द्वारा मानसिक तृप्ति प्रदान करती हैं। वास्तुकला, मूर्त्तिकला तथा चित्रकला प्रथम विभाग के अन्तर्गत आती हैं और संगीत-कला तथा काव्य-कला द्वितीय विभाग के अन्तर्गत आती हैं।

काव्य-कला के प्रमुख भेद दो हैं—(१) गद्य और (२) पद्य। 'नाटक' दोनों ही के अन्तर्गत आता है। 'नाटक' पद्य में भी होते हैं और गद्य में भी। नाटक देखे भी जाते हैं और पढ़े भी जाते हैं। काव्य के अन्य अंग—उपन्यास, कविता, निबन्ध, कहानी—तो केवल पठन या श्रवणेन्द्रिय द्वारा मानसिक तृप्ति प्रदान

करते हैं परन्तु 'नाटक' ही काव्य का एक ऐसा अंग है जो श्रवणेन्द्रिय और नेत्रेन्द्रिय—दोनों के ही द्वारा मन को आनन्दित करने की सामर्थ्य रखता है। इस प्रकार तृप्ति-विधान के आधार पर काव्य के दो भेद हो जाते हैं—(१) श्रव्य-काव्य और (२) दृश्य-काव्य। दृव्य-काव्य के अन्तर्गत केवल 'नाटक' आता है। यही कारण है कि दृश्य-काव्य को हम नाटक अथवा 'नाट्य-कला' कहते हैं।

क्षेत्र के व्यापकत्व के कारण काव्यकला में 'नाट्य-कला' को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है—"काव्येषु नाटकं रम्यम्।" श्रवणेन्द्रिय एवं नेत्रेन्द्रिय—दोनों ही द्वारा प्रभावित करने की सामर्थ्य के कारण नाटक में अन्तःकरण के भावों को व्यक्त करने की पूर्ण शक्ति रहती है। नाटक का प्रभाव व्यापक एवं स्थायी होता है, उसके द्वारा बाह्य और अन्तर—दोनों ही प्रकार के ज्ञान भली प्रकार कराये जा सकते हैं।

संस्कृत में दृश्य-काव्य को 'रूपक' कहते हैं। संस्कृत के आचार्यों ने 'नाटक' को रूपक का एक भेद बताया है। रूपक के १० भेद माने गये हैं।[1] रूपकों के साथ-साथ उपरूपकों की भी चर्चा की है तथा उनके १८ भेद बताये हैं।[2]

नाटकों के उत्पत्ति-काल के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कहना अत्यन्त कठिन है। हाँ, इतना अवश्य है कि इनका उल्लेख हमें भारतवर्ष के प्राचीनतम वाङ्मय में मिल जाता है। श्री जयशङ्कर प्रसाद ने इस सम्बन्ध में काफी खोज

---

१. **रूपक के भेद**—१—नाटक, २—प्रकरण, ३—भाण, ४—प्रहसन, ५—डिम, ६—व्यायोग, ७—समवकार, ८—वीथी, ९—अंक और १०—ईहामृग।

२. **उपरूपक के भेद**—१—नाटिका, २—मोहक, ३—गोष्ठी, ४—साटक, ४—नाट्यरासक, ६—प्रत्थान, ७—उल्लास्य, ७—काव्य, ९—प्रेक्षण १०—रासक, ११—संलापक, १२—श्रीगदित, १३—शिल्पक, १४—विलासिका, १५—दुर्मल्लिका, १६—प्रकरणिका, १७—इल्लीश, और १८—मणिका। (रूपक-रहस्य से उद्धृत)

की, और उन्होंने अपने निबन्धों में सप्रमाण यह सिद्ध किया कि नाटकों को ही आदि पाठ्य-काव्य माना जाना चाहिए ।

कतिपय विदेशी विद्वान् भारतीय 'नाट्यकला' को पश्चिम की देन बताते हैं । उनका विचार है कि भारतीय नाट्यकला पाश्चात्य नाट्यकला को देखकर विकसित हुई है । इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन है कि उनकी यह धारणा सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है । हमारे यहाँ कम से कम ढाई हजार वर्ष पूर्व नाट्यकला चरम विकास को प्राप्त हो चुकी थी । निम्नलिखित प्रमाण विचारार्थ प्रस्तुत हैं ।

१—वेदों में कई स्थलों पर संवाद-सूक्त आये हैं । उनमें सोमयोग तथा पुरुरवा और उर्वशी का संवाद, विशेष रूप से उल्लेखनीय है । इन सूक्तों के कथोपकथन तो सर्वथा नाटकीय ही हैं, उन्हें नाटक का आधार-स्तम्भ कहा जा सकता है । आदि-काव्य 'वाल्मीकि रामायण' में भी नाट्य-विषयक उल्लेख मिलते हैं । यथा—

"नाराजके जनपदे प्रहृष्टाः नटनर्तकाः" —(१-६७-१२)

अर्थात् —"जिस जनपद में राजा नहीं है, वहाँ नट और नर्तक प्रसन्न नहीं दिखाई देते ।" अभिप्राय यह है कि प्राचीन काल में राजा लोग नटों को अपने आश्रय में रखकर नाटक का अभिनय करने के लिए प्रोत्साहन दिया करते थे ।

महाभारत में भी 'नट' शब्द की कई स्थलों पर चर्चा मिलती है । हरिवंश पुराण में तो रामायण से कथा लेकर नाटक खेलने का स्पष्ट उल्लेख है । इसी प्रकार अग्निपुराण में भी श्रव्य तथा दृश्य-काव्यों की विशद विवेचना मिलती है । इन ग्रन्थों का रचना-काल भले ही संदिग्ध हो, परन्तु इतना सुनिश्चित है कि भारतीय नाट्यकला अत्यन्त प्राचीन है, वह किसी अन्य देश का अनुकरण मात्र नहीं है ।

२—संस्कृत के नाटकों की परम्परा ईसा से पहले से चली आती है । नाट्य रचना के विभिन्न नियमों का पालन करते हुए तीसरी-चौथी शताब्दी पूर्व से अनेक नाटककारों ने अपनी श्रेष्ठ नाट्य-कृतियाँ प्रस्तुत की थीं । भास,

कालिदास, भवभूति, शूद्रक, श्रीहर्ष, विशाखदत्त, राजशेखर आदि अनेक विश्व-विख्यात नाटककार इसी परम्परा में हुए हैं। अतः आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व भारतवर्ष में नाट्यकला का जन्म और विकास हो चुका था।

३—ईसवी सम्वत् के आस-पास हमारे यहाँ भरतमुनि द्वारा 'नाट्यशास्त्र' जैसा सुन्दर ग्रन्थ लिखा जा चुका था। नाट्यकला का जैसा सर्वाङ्गीण, सूक्ष्म एवं मनोवैज्ञानिक विवेचन भरतमुनि कृत 'नाट्यशास्त्र' में हुआ है, वैसा विश्व के समस्त प्राचीन वाङ्मय में अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

'नाट्यशास्त्र' में लिखा है—"एक बार वैवस्वत मनु के दूसरे युग में प्रजाजन बहुत दुःखी हुए। इस पर इन्द्र तथा अन्य देवताओं ने जाकर ब्रह्मा जी से प्रार्थना की कि आप मनोविनोद का कोई ऐसा साधन उत्पन्न कीजिए जिसके द्वारा सबका चित्त प्रसन्न हो सके। इस पर ब्रह्मा जी ने चारों वेदों को बुलाया और उन चारों की सहायता से उन्होंने पंचम वेद 'नाट्यशास्त्र' की रचना की। इस नये वेद के लिये ऋग्वेद से सम्वाद, सामवेद से गान, यजुर्वेद से नाट्य और अथर्ववेद से रस लिया गया था।"

यथा—**सर्व शास्त्रार्थ सम्पन्नं सर्व शिल्प प्रवर्तकम्।**
नाट्याख्यं पंचमं वेदसे इतिहासं करोम्यहम्॥

—(नाट्यशास्त्र, १।१५)

तथा—**जग्राह पाट्यं ऋग्वेदात्सामेभ्यो गीतमेव च।**
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥

—(नाट्यशास्त्र १।१७)

यहाँ सम्वाद, गीत और नाट्य के तत्त्वों के अतिरिक्त रस तत्त्व पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। रस के अभाव में नाटक के साहित्यिक एवं कलात्मक स्वरूप की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती।

वेदमूलक होने के कारण भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' की यहाँ तक प्रशंसा

कर डाली कि संसार में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो नाट्य[1] के द्वारा प्रदर्शित न की जा सकती हो। यथा—

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगी न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥

—(नाट्यशास्त्र, १।११६)

अब हम इस विषय में कतिपय विदेशी विद्वानों के मतों का संक्षेप में उल्लेख कर देना अत्यन्त आवश्यक समझते हैं—

डॉक्टर रिजवे ने नाटक की उत्पत्ति का कारण मृत वीरों की पूजा माना है। उनके मतानुसार मृत व्यक्तियों की आत्माओं की प्रसन्नता के हेतु तथा उनके प्रति आदर का भाव प्रदर्शित करने के लिए ही नाटकों का प्रणयन हुआ था। हमारे विचार से इनके कथन में आंशिक सत्य अवश्य है। श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि आदर्श एवं वीर पुरुषों के चरित्र से सम्बन्ध रखने वाले नाटक इस कोटि के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं।

जर्मन विद्वान् डॉक्टर पिशेल ने नाटक की उत्पत्ति पुत्तलिका नृत्य से मानी है। इनके मतानुसार यह पुत्तलिका नृत्य सर्वप्रथम भारतवर्ष में ही प्रारम्भ हुआ था और तत्पश्चात् विदेशों में भी इसका प्रसार हुआ। नाटकों के सम्बन्ध में प्रयुक्त होने वाले कतिपय शब्दों—सूत्रधार, स्थापक आदि—के कारण इस मत को सहारा मिल जाता है। इनका कहना है कि जैसे पुत्तलिका-नृत्य में एक संचालक के हाथ में सूत्र रहता है तथा दूसरा व्यक्ति पुत्तलिकाओं को स्थापित करता रहता है, ठीक उसी प्रकार नाटक के 'सूत्रधार' तथा 'स्थापक' भी नाटकों के पात्रों का यथावत् संचालन करते रहते हैं।

---

१. 'नाटक' शब्द 'नट्' धातु से बना है, जिसका अर्थ—सात्विक भावों का प्रदर्शन है। यथा—
"नाट्यमिति च नट् अवस्यंदने इति नटेः
किंचिच्चत्वगार्थत्वात्सात्विक बाहुल्यम्। अतएव तत्कारिषु नटव्यपदेशः।"
—('दशरूपक' पर धनिक की टीका)

पुत्तलिका-नृत्य से नाटक की उत्पत्ति मानना, हमारे विचार से असङ्गत हैं, क्योंकि—

(१) पुत्तलिका-नृत्य आज दिन तक हमारे देश में स्वतन्त्र रूप से प्रचलित हैं। बच्चे कठपुतली के नाच को बड़े चाव से देखते हैं, तथा—

(२) हमारे प्राचीन ग्रन्थों में पुत्तलिकाओं का उल्लेख स्वतन्त्र रूप से मिलता हैं। गुणाढ्य की 'वृहत्कथा' में लिखा है कि मायासुर की कन्या के पास एक ऐसी कठपुतली थी जो नाचती-गाती थी और हवा में उड़ सकती थी। 'महाभारत' में लिखा है कि उत्तरा ने अपने पति अभिमन्यु से एक पुत्तलिका लाने को कहा था।

कतिपय विद्वान् छाया-नाटकों से 'नाटक' की उत्पत्ति मानते हैं। आधुनिक सिनेमाओं की भाँति पहले छाया-नाटक दिखाये जाते थे। रूपान्तरित होकर उन्होंने 'नाठक' का रूप धारण कर लिया। इस मति की पुष्टि के लिए विद्वानों ने काफी खोजबीन की हैं परन्तु वे अपने मत को समीचीन एवं युक्तियुक्त सिद्ध नहीं कर पाये हैं।

इन आधुनिक विद्वानों के मतों का विश्लेषण करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नाटक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रायः दो मत हैं—एक मत तो यह है कि उनका उदय लौकिक और सामाजिक कृत्यों से हुआ। हमारा निवेदन है कि ये कल्पनाशील विद्वान् इस बात को भूल जाते हैं कि भारतवर्ष में—धार्मिक, सामाजिक और लौकिक कृत्य भिन्न वस्तुएँ नहीं है, इनमें कोई विशेष भेद नहीं है। एक के विना अन्य की स्थिति असम्भव हैं। भारतवर्ष में 'धर्म' जीवन का अनिवार्य अङ्ग रहा है।

इस देश में जितने भी आनन्द-प्राप्ति के साधन है, उन सबका मूल 'धर्म' में ही स्थिति है। नाटक की रचना भी धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि के लिए हुई थी। यही कारण है कि भारतवर्ष के प्राचीन नाट्य-साहित्य में दुःखान्त नाटकों का अभाव है। सारांश रूप में हम कह सकते हैं कि भारतीय नाटकों का उदय वैदिक कर्मकाण्ड तथा धार्मिक अवसरों पर होने वाले अभिनयात्मक नृत्यों से हुआ। पीछे से रामायण, महाभारत आदि काव्य-ग्रन्थों से उसे पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हुई और वह विकसित होकर अपने पूर्ण रूप में आ गया।

३

नाटक का मूल आधार : अनुकरण

किसी भी अवस्था के अनुकरण को 'नाट्य' कहते हैं—"अवस्थानुकृति-र्नाट्यम् ।" नाटक के लिए संस्कृत के आचार्यों ने 'रूपक' शब्द का प्रयोग नहीं किया है। उनके मतानुसार रूपक काव्य की वह विशेष दशा है जिसमें लोक-परलोक की घटिक-अघटित घटनाओं के दृश्य दिखाने का आयोजन किया जाता है और इस कार्य के लिये अभिनय की सहायता ली जाती है। गीत आदि के उपकरणों के अभाव में नाटक की रचना हो सकती है, परन्तु अनु-करण के अभाव में उसकी प्राण-प्रतिष्ठा असम्भव है। जैसे हम अन्यत्र निवेदन कर चुके हैं कि 'नट' का शाब्दिक अर्थ ही सात्विक भावों का प्रदर्शन है। अनुकरण दृश्य-काव्य का अनिवार्य तत्त्व है। नाटक में भिन्न-भिन्न श्रेणी के और विभिन्न अवस्था के व्यक्तियों का अनुकरण करके हम वही आनन्द लेते हैं जो इतिहास के अध्ययन किंवा चित्र के देखने से प्राप्त होता है। पात्रों को अनुकरण करके तथा प्रेक्षकों को नाटक देखकर अपने भावों को प्रकाशित करने का पूर्ण अवसर प्राप्त होता है। इस प्रकार नाटक के मूल में चार मनोवृत्तियाँ काम करती हैं; यथा—१—अनुकरण, २—पारस्प-रिक परिचय द्वारा आत्मा का विस्तार, २—जाति की रक्षा, तथा ४—आत्मा भिव्यक्ति। विभिन्न देशों में नाट्यकला की उत्पत्ति पर संक्षिप्त विचार कर हम यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि 'अनुकरण' ही नाटक का मूल हेतु है—

भारतवर्ष में रामायण जैसे प्राचीन एवं सर्वप्रचलित कथानकों के अनुकरण के लिए नाटकों की रचना हुई थी। यूनान के करुणरसात्मक नाटक की उत्पत्ति 'डायोनियस' नामक देवता के अनुकरण में किये गये नृत्य के रूप में हुई। डायोनियस का पर्व यद्यपि वर्ष के आरम्भ में बसन्त आगमन के समय मनाया जाता है, तथापि यह समारोह नव वर्ष के स्वागतार्थ नहीं, वल्कि नवीन वर्ष के अहंकार और दण्ड का विधान करने के आशय से होता है। इस पाप का प्रायश्चित्त वर्ष के अन्त में उसे मृत्यु-दण्ड देकर किया जाता है। नव वर्ष का अहङ्कार और उसका दण्ड, उस दण्ड का प्रायश्चित्त, फिर नव वर्ष का आगमन, डायोनियस के पर्व तक ही सीमित नहीं रहा। उसमें देश के अन्य वीर पुरुषों की स्मृतियाँ मनाई जाने लगीं तथा महाकाव्यों के वीर-पुरुषों का अनुकरण होने लगा। लोग वीर पुरुषों की समाधि पर एकत्र होते और उनके साहसपूर्ण कार्यों का नाटक रचते, उनके जीवन के कष्टों का प्रदर्शन करते। इस प्रकार भारतीय और पाश्चात्य नाटक-कला का प्रारम्भ मूलतः एक ही, वीर-पूजा—ही था। अन्तर केवल एक था। भारतीय नाट्यकला में जीवन का केवल सुखद पक्ष निखरता था और नाटक चित्त को प्रसन्न करने के लिए ही खेले जाते थे, यूनान के नाटक में हत्या, पीड़ा आदि के दृश्यों की प्रधानता रहती थी। वहाँ के सुखान्त नाटक प्रायः हास्य नाटकों के पर्याय थे, जिनमें अश्लील स्वाँग एवं गीतों की प्रमुखता रहती थी।

आगे चलकर यूनान के नाटकों में अस्वाभाविकता की मात्रा बढ़ गई। वहाँ नकाबपोशी का रिवाज हो गया, अभिनेतागण नकल करने की धुन में चेहरे पर नकाब लगाकर आने लगे। नकाबपोशी का एक रूप हम अपने देश में भी देख सकते हैं। रामलीला में अभिनेतागण चेहरे लगाकर अंगद, हनूमान, रावण आदि का स्वाँग करते हैं।

यूनान से चलकर जब पाश्चात्य सभ्यता रोम पहुँची, तब नाटकीय कृतियों की सृष्टि का केन्द्र भी रोम वन गया। यहाँ विशेषकर हास्य नाटकों की रचना हुई और नाटक खेलना रोमन दासों का काम हो गया है।

मध्य युग में यूरोप में नाट्य-साहित्य का फिर उत्थान हुआ। इस युग में नकाबपोशी का अन्त हुआ। अनुकरण कार्य के लिए यह एक शुभ संकेत था।

शेक्सपियर के हाथ में आकर नाट्यकला को नवीन स्फूर्ति एवं दिशा प्राप्त हुई। तब से लेकर आज तक बराबर नाट्य-साहित्य की उन्नति एवं श्री-वृद्धि होती आ रही है। आधुनिक युग में अंग्रेजी का सबसे बड़ा नाटककार जॉर्ज बर्नार्ड शा हुआ है। वहाँ के रंगमंच पर अब जीवन का सर्वाङ्गीण चित्रण सफलतापूर्वक किया जाता है। बोलचाल की भाषा ही—अब नाटकों की भाषा बन गई है और रंगमंच पर सामायिक वातावरण दिखाई देता है।

जब से सिनेमाओं का चलन बढ़ गया है, तब से नाटकों का रिवाज कम हो गया है—भारतवर्ष में तो विशेष रूप से थियेटर कम्पनियाँ, रासमण्डलियाँ आदि एमदम ठप्प हो गई हैं। कारण स्पष्ट है—सिनेमा में सब प्रकार के दृश्य अत्यन्त सरलतापूर्वक दिखाए जा सकते हैं, और साथ ही उनके साथ रंगमंच आदि की समस्या उपस्थित नहीं होती। इङ्गलैंड, अमरीका आदि देशों में स्थिति थोड़ी भिन्न है। यद्यपि वहाँ सिनेमाओं का काफी जोर है; तथापि वहाँ की नाट्यकला पूर्णतया जीवित है। वहाँ के निवासी आज दिन भी नाटकों को पूर्ण उत्साह एवं चाव के साथ देखते हैं। थियेटरों में वहाँ इतनी भीड़ होती है कि बैठने के लिए बहुत पहले से स्थान आरक्षित (रिजर्व) करना पड़ता है अतः हमारे विचार से सिनेमा के प्रचार के कारण नाट्यकला का ह्रास हो जाना आवश्यक नहीं है। साहित्य की पूर्णता के लिए नवीन नाटकों की उद्भावना अनिवार्य है। नाटक वास्तविकता की नकल है और सिनेमा उस नकल की नकल है। सिनेमा हमें असलियत से बहुत दूर छोड़ देता है। अब भारत में भी श्रेष्ठ नाटकों की रचना और उसके अभिनय के लिए उपयुक्त, उन्नत रंगमंच के निर्माण का प्रयत्न हो रहा है। इसको प्रोत्साहन देने के निमित्त केन्द्रीय सरकार ने 'नाटक अकादमी' की स्थापना की है। आज भारत के अनेक श्रेष्ठ कलाकार भारतीय रंगमंच के विकास की ओर पर्याप्त ध्यान दे रहे हैं। शिक्षा-संस्थाओं में, विशेष अवसरों पर एकांकी नाटकों का अभिनय होता रहता है।

४

नाटक के आवश्यक त व

संस्कृत साहित्य-शास्त्र के आचार्यों ने नाटक के आवश्यक तत्त्व तीन माने हैं—वस्तु-संगठन, नायक तथा रस। इन्हीं तीन तत्त्वों के आधार पर रूपकों के भेद निर्धारित किये गये हैं।

पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार नाटक के छह तत्त्व होते हैं; यथा—वस्तु, पात्र, कथोकथन, देश-काल, शैली और उद्देश्य। हमारे विचार से भारतीय और पश्चिमी तत्त्वों में कोई मौलिक भेद नहीं है। संस्कृत के आचार्यों ने तत्त्वों को अपेक्षाकृत अधिक व्यापक रूप दे दिया है, पाश्चात्य विद्वानों ने उनके खण्ड कर दिए हैं। सुविधा के विचार से हम नाटक के छह तत्त्व ही मान लेते हैं। दृश्य-काव्य का कथानक, जिसे Story या Plot कहते हैं, 'वस्तु' कहलाता है। नाटकीय घटनाओं एवं व्यापारों को संचालित करने वाले व्यक्ति 'पात्र' कहलाते हैं। पात्रों के वार्तालाप को 'कथोकथन' कहते हैं। समस्त नाटकीय व्यापार जिस स्थान और जिस समय से सम्बद्ध होता है, उसे 'देश-काल' कहते हैं। भावों और विचारों को व्यक्त करने के लिए लेखक भाषा के जिस रूप को अपनाता है, उसे 'शैली' कहते हैं। प्रत्येक नाटककार अपने नाटक में जीवन की जो व्याख्या एवं आलोचना करता है अथवा जिस प्रमुख भाव को व्यक्त करता है, वही नाटक का 'उद्देश्य' होता है।

विशेष—(१) वस्तु का स्थान दोनों ही शास्त्रों में है।

(२) नाटकीय कथोपकथन तथा देश-काल 'नायक' तत्त्व के ही अन्तर्गत आ जाते हैं, क्योंकि इनसे नायक का सम्बन्ध रहता है।

(३) रस का विवेचन भारतीय शास्त्र की विशेषता है। पाश्चात्य विद्वानों ने केवल मनोवेग (Emotion) को ही स्वीकार किया है।[1]

(४) उद्देश्य को लेकर भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों में विशेष रूप से मत-भेद रहा है। भारतवर्ष के साहित्यिक प्रणेता ऋषिगण रहे हैं। वे आत्मा का परमात्मा में विलय ही जीवन का लक्ष्य मानते हैं। अतः भारतीय साहित्य के अन्य अंगों की भाँति नाटकों का भी उद्देश्य—जीवन के उदात्त स्वरूप का दर्शन तथा परमोज्ज्वल आदर्श की प्रतिष्ठा रहा है। इसी कारण संस्कृत के आचार्यों ने सुखान्त नाटकों का विधान किया है। इसके विपरीत, पाश्चात्य साहित्य में जीवन के संघर्ष और विक्षोभ ही भरे पड़े हैं। जीवन की गति-विधि कैसी होती है, परिस्थिति के चक्र में पड़कर मनुष्य किस प्रकार का आचरण करता है ? इसी का अंकन करना पाश्चात्य साहित्य का उद्देश्य रहता है। पाश्चात्य विचारधारा के अनुसार दो विरोधी शक्तियों का पारस्परिक संघर्ष ही कथावस्तु को जन्म देता है। भारतीय नाट्य-शास्त्र धर्म और काम की सिद्ध को नाट्य-रचना का मूल सिद्धान्त मानता है, और पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र किसी प्रकार के विरोध अथवा संघर्ष को नाटक का मूल आधार मानता है। कहने का सारांश यह है कि विरोध वाले तत्त्व को छोड़कर दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं।

हम अब आगे नाटक के प्रत्येक तत्त्व की व्याख्या करेंगे, ताकि नाटक की आलोचना प्रस्तुत करने में सुविधा हो—

१—**वस्तु अथवा कथावस्तु**—यह नाटक की कहानी है। इसे इस प्रकार मर्यादित रखा जाय कि नाटक एक निश्चित समय (३-४ घण्टे) में देखा जा सके। अतः आवश्यक है नाटककार कथानक-विशेष की महत्त्वपूर्ण घटनाओं एवं बातों का इस प्रकार संगुम्फन करे कि पाठक एवं दर्शक का चित्त उसमें बराबर रमा रहे।

---

१. इनके अन्तर और विवेचन के लिए देखें—लेखक की पुस्तक 'रीतिकाल और शृंगार रस का विवेचन'।

कथानक में बहुत-सी बातें ऐसी होती हैं जो दृश्य-विधान की दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण नहीं होतीं, परन्तु उनका उल्लेख आवश्यक होता है, संस्कृत के आचार्यों ने इसी कारण कथावस्तु के दो विभाग कर दिये हैं—(१) **दृश्य** – जिन घटनाओं को अभिनय द्वारा रंगशाला में प्रत्यक्ष रूप से दिखाया जाता है तथा (२) **सूच्य**—जों बातें या घटनाएँ किसी प्रकार केवल सूचित भर कर दी जाती हैं।

कथावस्तु दो प्रकार की होती है—(१) आधिकारिक और (२) प्रासंगिक। मूल कथावस्तु को 'आधिकारिक' तथा गौण कथावस्तु को 'प्रासंगिक' कहते हैं। नायक के साथ सीधी सम्बद्ध कथावस्तु आधिकारिक होती है, क्योंकि नाटक के फल को भोगने वाला अथवा स्वामित्व अधिकार को प्राप्त करने वाला पात्र ही अधिकारी (नायक) कहलाता है। मुख्य कथावस्तु की सौन्दर्य-वृद्धि एवं व्यापार-विकास में सहायता देने वाली दूसरी कथावस्तु गौण या प्रासंगिक कथावस्तु कहलाती है। रामायण में राम का चरित्र-विधान आधिकारिक कथावस्तु है और सुग्रीव का चरित्र, प्रधान वस्तु का साधक इतिवृत्ति होने के कारण, प्रासंगिक कथावस्तु है।

प्रासंगिक कथावस्तु भी दो प्रकार की होती है—(१) पताका, और (२) प्रकरी। प्रासंगिक कथावस्तु जब सानुबन्ध होती है अथवा जब आधिकारिक कथावस्तु के साथ बराबर चलती रहती है, तब उसे 'पताका' कहते हैं, और जब वह थोड़े समय तक चलकर ही समाप्त हो जाती है, तब उसे 'प्रकरी' कहते हैं रामायण के कथानक में सुग्रीव की कथा 'पताका' है और जटायु-प्रसंग, बालि-बध, स्वयंप्रभा से भेंट—ये घटनाएँ 'प्रकरी' के उदाहरण हैं।

वस्तु-भेद को निम्न प्रकार से सरलतापूर्वक समझा जा सकता है—
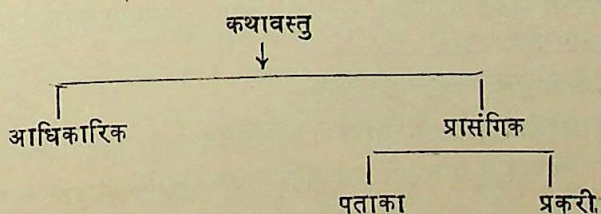
भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार वस्तु-विन्यास अथवा कथावस्तु से सम्बन्धित तीन बातें विशेष रूप से विचारणीय हैं—अर्थ-प्रकृति, (२) अवस्था, तथा (३) सन्धि। इन तत्त्वों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) अर्थ-प्रकृति—कथावस्तु को प्रधान फल की प्राप्ति की ओर अग्रसर करने वाले चमत्कारयुक्त अंश 'अर्थ-प्रकृति' कहलाते हैं।[1] इनके पाँच भेद माने गये हैं—(१) बीज, (२) बिन्दु, (३) पताका, (४) प्रकरी और (५) कार्य।

१. **बीज**—जिसके पहले अत्यल्प कथन किया जाय किन्तु उसका विस्तार अनेक रूप से हो, उसे 'बीज' कहते हैं। वह फल-सिद्ध का प्रथम हेतु होता है।

२. **बिन्दु**—वह बात जो निमित्त बनकर समाप्त होने वाली अवांतर कथा को आगे बढ़ाती है और प्रधान कथा को अविच्छिन्न रहती है।

३. **पताका**—जो प्रासंगिक कथा दूर तक व्याप्त हो।

४. **प्रकरी**—जो प्रासंगिक कथा थोड़े ही समय तक रहे, प्रसंगागत तथा एक देशस्थित चरित्र को 'प्रकरी' कहते हैं।

५. **कार्य**—नाटक में जहाँ फल की प्राप्ति होती है, वहाँ कार्य अर्थ प्रकृति होती है। इस फल-प्राप्ति तो 'कार्य' कह सकते हैं।

(२) अवस्था—नाटकीय व्यापार श्रृंखला को 'अवस्था' कहते हैं। जो प्रधान साध्य है—सब उपायों का आरम्भ जिसके लिए किया गया है, जिसकी सिद्धि के लिए सब 'समापन' (सामग्री) एकत्र हुआ है, उसे 'कार्य' कहते हैं।[2] घटनाक्रम के अनुसार कथावस्तु के भी मुख्य भाग पाँच ही माने गए हैं—(१) आरम्भ, (२) प्रयत्न, (३) प्राप्त्याशा, (४) नियताप्ति, और (५) फलागम।

पाश्चात्य विद्वानों ने इन अवस्थाओं को क्रमशः १. प्रारम्भ सीमा (Initial Action), २. विकास (Rising Action), ३. चरम सीमा (Climax), ४. उतार या निर्गत (Falling Action) तथा ५. अन्त या समाप्ति (Catastro-

---

१. **अर्थप्रकृतयः प्रयोजनसिद्धिहेतः**

२. **'अपेक्षितं तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबंधनः।
समापनं तु यत्सिद्धयै तत्कार्यमिति सम्मतम्॥'**

—(साहित्य-दर्पण)

phe) कहा है। इन नामों के अन्तर का कारण केवल सिद्धान्त-भेद है। पाश्चात्य साहित्य-शास्त्री किसी-न-किसी प्रकार के संघर्ष अथवा विरोध को नाटक का मूल आधार मानते हैं।

१. **आरम्भ**—मुख्य फल की सिद्धि के लिये जो औत्सुक्य होता है, उसे 'आरम्भ' कहते हैं।

२. **प्रयत्न**—फल-प्राप्ति के लिये अत्यन्त त्वरायुक्त व्यापार को 'यत्न' कहते हैं।

३. **प्राप्त्याशा**—जहाँ प्राप्ति को आशा, उपाय तथा अपाय की आशंकाओं से घिरी हो किन्तु प्राप्ति की सम्भावना हो, उस अवस्था को 'प्राप्त्याशा' कहते हैं।

४. **नियताप्ति**—अपाय के दूर हो जाने से जब फल-प्राप्ति निश्चित हो जाती है, उस अवस्था को 'नियताप्ति' कहते हैं।

५. **फलागम**—जहाँ फल की प्राप्ति हो जाय, वांच्छित कार्य की सिद्धि हो जाय, उस अवस्था को 'फलागम' कहते हैं।

(३) **संधि**—कथात्मक, उपर्युक्त पाँच अवस्थाओं के अर्थ-प्रकृति के रूप में संयोग से विस्तारी कथानक के पाँच भाग हो जाते हैं। इन विभागों को 'सन्धि' कहते हैं और ये नाटक-रचना के विभागों का निदर्शन करती हैं। इनके नाम हैं—(१) मुख सन्धि, (१) प्रतिमुख सन्धि, (३) गर्भ सन्धि, (४) विमर्श सन्धि, तथा (५) निर्वहण सन्धि।

१. **मुख सन्धि**—जहाँ अनेक अर्थ और अनेक रसों के व्यंजन 'बीज' नामक अर्थ-प्रकृति की 'आरम्भ' नामक दशा के साथ संयोग से उत्पत्ति हो, उसे 'मुख-सन्धि' कहते हैं।

२. **प्रतिमुख सन्धि**—जहाँ नाटकीय प्रधान फल का साधक इतिवृत्त कभी गुप्त और कभी स्पष्ट हो, उसे 'प्रतिमुख सन्धि' कहते हैं। इसमें 'प्रयत्न' अवस्था और 'बिन्दु' अर्थप्रकति का संयोग रहता है तथा 'मुख सन्धि' में दिये गये प्रधान फल का किंचितमात्र विकास होता है।

३. **गर्भ सन्धि**—इस सन्धि में 'प्राप्त्याशा' अवस्था और 'पताका' अर्थप्रकृति

रहती है। इसमें प्रतिमुख सन्धि में किंचित् प्रकाशित हुए बीज का बार-बार आविर्भाव, तिरोभाव तथा अन्वेषण होता रहता है।

४. अवमर्श या विमर्श सन्धि—इसमें 'नियताप्ति' अवस्था और 'प्रकरी' अर्थप्रकृति रहती है। गर्भ सन्धि की अपेक्षा 'बीज' का अधिक विस्तार होने पर उसके फलोन्मुख होने में जब शाप, क्रोध' विपत्ति आदि के कारण विघ्न उपस्थित होते हैं, तब 'विमर्श' सन्धि होती है।

५. निर्वहण सन्धि—इसमें 'फलागम' 'अवस्था' और 'कार्य' 'अर्थप्रकृति' का संयोग रहता है। इसमें पूर्वकथित चारों सन्धियों में यथास्थान वर्णित अर्थों के प्रधान प्रयोजन की सिद्धि के लिये समाहार हो जाता है और मुख्य फल की प्राप्ति हो जाती है।

सारांश—कार्य-व्यापार से अवस्थाएँ, वस्तु के तत्त्वों से अर्थ-प्रकृतियाँ, और रूपक-रचना के विभागों से सन्धियाँ सम्बद्ध हैं। इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जाता है—

कार्य-व्यापार (अवस्था)		वस्तु-तत्त्व (अर्थप्रकृति)		रूपक-रचना (संधि)
१—आरम्भ	+	बीज	=	मुख
२—प्रयत्न	+	बिन्दु	=	प्रतिमुख
३—प्राप्त्याशा	+	पताका	=	गर्भ
४—नियताप्ति	+	प्रकरी	=	विमर्श
५—फलागम	+	कार्य	=	निर्वहण

वह नाटक उत्तम समझा जाता है, जिसकी रचना समकोण त्रिभुज (Triangle) के समान होती है, अर्थात् जिसमें 'उठान' और 'अन्त' सब कुछ आपेक्षिक एवं समानुपात हों।

२—पात्र—इस तत्त्व को चरित्र-चित्रण भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत नाटक के पात्रों के भावों और विचारों के विकास से सम्बन्धित सामग्री की चर्चा की जाती है। प्रेक्षकों पर सबसे अधिक इसी तत्त्व का प्रभाव पड़ता है। नाटककार के लिये पात्रों के चरित्र-चित्रण का आधार केवल अभिनयात्मक ही होता है, अर्थात् उसे अपने पात्रों को रँगशाला में इस प्रकार उपस्थित करना पड़ता है कि

वे केवल अभिनय द्वारा ही प्रेक्षकों के हृदय पर सम्यक्, यथेष्ट एवं अपेक्षित प्रभाव डालने में समर्थ हों। किसी पात्र के चरित्र-चित्रण के मुख्य आधार पाँच हैं—(क) उस पात्र का आचरण, (ख) उसकी अन्य पात्रों से बातचीत, (ग) अन्य पात्रों की उसके सम्बन्ध में वार्त्ता, (घ) सूच्य घटनाएँ तथा (ङ) स्वगत-कथन। किसी भी पात्र के चरित्र-चित्रण का विवेचन करते समय इन पाँच बातों का ध्यान रखना चाहिए।

चरित्र-चित्रण ही वस्तुत: नाटक का प्राण होता है, उसी के द्वारा कथा-वस्तु विकसित होती है। इसी कारण संस्कृत के आचार्यों ने नायक और नायिकाओं को विशेष महत्त्व देते हुए उनका विस्तार के साथ वर्णन किया है।

नाटक के प्रधान पात्र अथवा अन्त में अधिकार प्राप्त करने वाले पात्र को 'नाटक' कहते हैं— 'अधिकार: फलस्वाम्यम् अधिकारी च तत्प्रभु:।' नायक की प्रिया पत्नी 'नायिका' कही जाती है। पठाक एक बात समझ लें। नायक चाहे कार्य करने की दृष्टि से प्रमुख पात्र न भी हो परन्तु फल अथवा अधिकार प्राप्त करने के कारण नायक है। उसकी प्रिय पत्नी चाहे पूरे नाटक में एक शब्द का भी उच्चारण न करे परन्तु नायिका कही जाती है। आप सहमत होंगे कि भारतीय साहित्य-शास्त्र के अनुसार नाटक के नायक एवं नायिका का निर्धारण सर्वथा सरल है। आचार्यों ने स्वभाव, व्यवहार आदि के अनुसार नायक-नायिका के अनेक भेद-उपभेद किये हैं। नायक—नाटक की कथा को शृङ्खला के रूप में अग्रसर करता हुआ अन्त तक ले जाता है। आचार्यों के मतानुसार नायक में निम्नलिखित सद्गुणों का होना अनिवार्य है—वह १—विनीत, २—मधुर, ३—त्यागी, ४—दक्ष, ५—प्रियंवद, ६—शुचि, ७—रक्तलोक, ८—स्वामी, ९—रूढ़वंश, १०—स्थिर, ११—युवा, १२—बुद्धिमान, १३—प्रज्ञावान, १४—स्मृति सम्पन्न, १५—उत्साही, १६—कलावान्, १७—शास्त्रचक्षु, १८—आत्मसम्मानी, १९—शूर, २०—दृढ़, २१—तेजस्वी, और २२—धार्मिक होना चाहिए।

३—**कथोपकथन**—नाटक के पात्रों से पारिस्परिक वार्तालाप को कथोपकथन कहते हैं। चरित्र-चित्रण और कथोपकथन का एक-दूसरे के साथ महत्त्व पूर्ण सम्बन्ध है। इसके द्वारा पात्रों की मनोवैज्ञानिक स्थिति पर विशेष प्रकाश

पड़ता है । कथोपकथन द्वारा चरित्र-चित्रण दो प्रकार का होता है—(अ) पात्र किसी अन्य पात्र से बात करे, तथा (ब) अन्य पात्र उसके विषय में उल्लेख करें अथवा वर्णन करें ।

श्रोता के विचार से कथोपकथन तीन प्रकार का होता है । यथा—(क) नियत श्राव्य—जिसको कुछ पात्रों से छिपाकर कहने का प्रयास किया जाय । बात इस प्रकार से की जाय कि उसे कुछ ही पात्र सुन रहे हों अथवा जिसका सुनाया जाना रंगमंच पर उपस्थित कुछ ही पात्रों के लिए अभीष्ट हो । (ख) सर्व-श्राव्य—जो बात रंगमंच पर उपस्थित समस्त पात्रों के लिए कही जाय । (ग) अश्राव्य—जो बात इस प्रकार से कही जाय, मानो उसे रंगमंच पर उपस्थित कोई भी नहीं सुन रहा है । ऐसे कथन को जो पात्र स्वयं अपने ही लिए कहता है, 'आत्मगत' अथवा 'स्वगत' कहते हैं । ऐसे कथन पात्र अपने मन के भाव प्रकट करने को कहता है ।

विशेष—प्रेक्षक अथवा दर्शक तो प्रत्येक बात सुन सकते हैं । उक्त भेद रंग-शाला के पात्रों को ध्यान में रखकर किये गए हैं ।

उपयुक्त कथोपकथनों के अतिरिक्त एक और विशेष प्रकार का कथोपकथन होता है जिसे 'आकाशभाषित' कहते हैं । यह भारतीय नाट्यशास्त्र की अपनी विशेषता है । इसमें पात्र ऐसा नाट्य करता है, मानो उससे कोई कुछ पूछ रहा है और वह उसका उत्तर देता जाता है । पात्र आकाश की ओर देखता हुआ इस प्रकार कहता है—'हाँ, क्या कहा ? मैं ऐसा क्यों कर रहा हूँ ?'—आदि । और फिर वह इनके उत्तर भी देता जाता है । आकाशभाषित का एकमात्र उद्देश्य—नाटक में रोचकता की वृद्धि करना होता है ।

४—**देश-काल**—इस तत्त्व के अन्तर्गत दो बातें आती हैं । यथा—

(क) नाटक में इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि जिस देश और जिस समय से सम्बन्धित कथावस्तु हो, उन्हीं के अनुरूप वातावरण प्रस्तुत किया जाय ।

(ख) नाटक की घटनाएँ इस प्रकार से घटित की जायँ कि वे अस्वाभाविक प्रतीत न हों—उनका क्षेत्र कम-से-कम हो, स्थान-परिवर्तन कम हों, उनके

घटित होने की अवधि ऐसी हो जो नाटक के समय को देखते हुए अस्वाभाविक न बन जाय।

इस तत्त्व को 'संकलन-त्रय' भी कहते। इसके अन्तर्गत—वस्तु-सङ्कलन, काल-सङ्कलन तथा देश अथवा स्थान-सङ्कलन आते हैं। अंग्रेजी के विद्वानों ने इसका विशद् विवेचन किया है। इन्हें क्रमशः unity of place, unity of time तथा unity of action कहते हैं।

सङ्कलन-त्रय अथवा देश-काल के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं—

(क) घटनाचक्र और परिस्थिति (देश-काल) के अनुरूप हो। यदि नाटक की घटना का सम्बन्ध भारतवर्ष से है तो नाटक की प्रत्येक बात भारतीयता के अनुरूप होनी चाहिए। यदि कथानक रामायण की कथा से सम्बद्ध है, तो फिर उसमें सब बातें रामायण-काल के ही अनुरूप होनी चाहिए—वेश-भूषा, बोलचाल, रहन-सहन आदि सभी कुछ उसी के अनुरूप हों।

(ख) अभिनय के लिए एक विशेष कृत्य हो, घटनाएँ एक ही स्थान पर घटित हों और अल्पकाल में ही घटित होने वाली हों। कथानक में यदि रामायण-काल से लेकर अब तक की हजारों वर्षों के बीच की घटनाओं का समावेश है अथवा उसका घटना-चक्र चीन से लेकर फ्रांस तक चलता है तो यह विधान अत्यन्त अस्वाभाविक एवं कुरुचिपूर्ण समझा जाएगा। अतः स्वाभाविकता की दृष्टि से नाटक में सङ्कलन-त्रय का निर्वाह नितान्त आवश्यक है।

यूनान के प्राचीन आचार्यों ने तो यह सिद्धान्त ही बना दिया था कि आदि से अन्त तक समस्त अभिनय केवल एक ही कृत्य के सम्बन्ध में होना चाहिए, किसी एक ही स्थान से सम्बन्धित होना चाहिए, और एक ही दिन का होना चाहिए। अर्थात् एक दिन में, एक ही स्थान पर जो कुछ कृत्य हुए हों अथवा हो सकते हों, उन्हीं का अभिनय एक बार में होना चाहिए। नाटक-रचना का यह नियम यूनान से इटली गया और इटली से फ्रांस वालों ने लिया और उन लोगों ने इस नियम का बहुत समय तक पालन भी किया। तब से लेकर अब तक, इस सिद्धान्त में अनेक परिवर्तन किए जा चुके हैं परन्तु नाटकीय सौन्दर्य एवं उपयोगिता के विचार से इस सिद्धान्त का महत्त्व ज्यों-का-त्यों बना हुआ है।

काल-सङ्कलन के निर्वाह के लिए इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता है कि दो घटनाओं के बीच में बीतने वाले समय पर दर्शकों का ध्यान न जाने पाए। ऐसे अवसर पर इन दो दृश्यों के बीच में किसी प्रासङ्गिक कथावस्तु को डाल देना अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है। ऐसे अवसरों पर नाटककार प्राय: किसी प्रहसन (Comic) की व्यवस्था कर देते हैं। संस्कृत नाट्य शास्त्र में संकलन-त्रय का विधान नहीं मिलता। यह पाश्चात्य नाट्य-शास्त्र की ही देन है।

५—शैली—नाटक को उपस्थित करने के ढंग को 'शैली' कहते हैं। इसे 'नाटक का परिधान' कह सकते हैं। इसके अन्तर्गत पात्रों की भाषा, रंगमंच की व्यवस्था, नाटककार का व्यक्तित्व आदि बातें आती हैं। यदि 'रस' काव्य की आत्मा है तो 'शैली' उसका शरीर है। इसे हम नाटक का कलापक्ष अथवा रचना-चमत्कार कह सकते हैं। भारतीय नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत शैली का विवेचन करते समय वृत्तियों (कौशिकी, सात्त्वती, आरभटी और भारतीय) पर भी विचार किया जाता है।

६—उद्देश्य—नाटक की उत्पत्ति का विचार करते समय हमने देखा था कि प्रजाजन के मनोविनोद के लिए ही 'नाट्यशास्त्र' की रचना की गयी थी। अत: नाटक का मुख्य उद्देश्य मनोरंजक ढंग पर जीवन की व्याख्या करना हुआ। नाटक का महत्त्व मुख्यत: नैतिक है। अंग्रेजी के कवि शेली के विचारानुसार काव्य का समाज के कल्याण के साथ जो सम्बन्ध है वह नाटक में सबसे अधिक स्पष्ट रूप में दिखाई देता है। किसी देश के नाटकों को पढ़कर अथवा देखकर यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि उस देश का नैतिक स्तर कैसा है। संस्कृत आचार्यों ने तो लिखा नहीं है—'धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि ही नाटक का उद्देश्य है।' अर्थात् नाटक में इन तीनों, अथवा इनमें से किन्हीं दो, किंवा किसी एक की सिद्धि होना अनिवार्य है। जिस नाटक में इनमें से किसी एक की भी सिद्धि न हो—वह नाटक ही निरर्थक एवं व्यर्थ है। अन्य काव्य-रचना के समान नाटक का भी मुख्य उद्देश्य—रससिद्धि अथवा अनिर्वचनीय अलौकिक आनन्द की प्राप्ति है। पाठक एक बात विशेष रूप से समझ लें, रस-सिद्धान्त का विवेचन नाटकों के प्रसंग को ही लेकर उठाया गया था।

५

हिन्दी के नाटक-साहित्य का इतिहास

ईसा की १०वीं शताब्दी तक संस्कृत के अच्छे नाटकों की प्रचुरता रही। इसके पश्चात् १९वीं शताब्दी तक हमें कोई अच्छा नाटक नहीं मिलता। यद्यपि इस अन्धकाल में भी कुछ नाटक लिखे गए तथापि नाटक की रीति-रचना के अनुसार उन्हें नाटक नहीं कहा जा सकता। उनमें सफल नाटक के लक्षणों का अभाव है। १४वीं शताब्दी से लेकर १९वीं शताब्दी तक के इस मध्य युग में लिखे गये जो नाटक पाये गए हैं, वे हैं—विद्यापति कृत 'रुक्मिणी हरण' और 'पारिजात हरण'; कृष्णजीवन कृत 'करुणाभरण'; हृदयराम कृत 'हनुमन्नाटक'; निवाज कृत 'शकुन्तला नाटक' तथा ब्रजवासीदास कृत 'प्रबोध-चन्द्रोदय'। इनमें से प्रथम दो संस्कृत तथा अपभ्रंश के तथा शेष ब्रजभाषा के नाटक हैं।

इतने लम्बे समय तक नाट्य-रचना के उपेक्षित रहने का सबल कारण था। ईसा की ७वीं शताब्दी में हर्षवर्द्धन की मृत्यु हो जाने के पश्चात् धीरे-धीरे अराजकता का बोलबाल हो गया। इसके साथ ही उन्हीं दिनों भारतवर्ष पर मुसलमानों के आक्रमण आरम्भ हो गए, और यहाँ चारों ओर युद्ध एवं कठिनाइयों का वातावरण उत्पन्न हो गया। ऐसे समय में नाटक लिखने, खेलने और देखने की चर्चा भी न हो सकती थी। उस समय राज्य-सभा और मन्दिर नाटक अथवा अभिनय के प्रधान केन्द्र थे। आक्रमणकारी दोनों को नष्ट-भ्रष्ट करने पर तुले हुए थे। कालान्तर में, १४वीं शताब्दी के आरम्भ में उत्तरभारत में मुसलमानों का शासन प्रतिष्ठित हो गया। आगे चलकर मुगल बादशाहों ने संगीत और कला को प्रोत्साहन दिया, परन्तु वे नाट्य-कला का आदर

न कर सके। इस प्रकार लगभग ५०० वर्षों की दीर्घकालीन अवधि में नाट्य-कला के प्रेमियों को विदेशी जाति के सम्पर्क से कोई प्रोत्साहन न मिल सका। यह बात दूसरी है कि साधारण जनता में पौराणिक कथाओं और ऐतिहासिक व्यक्तियों से सम्बन्धित चरित्रों पर आधारित लीलाओं तथा रूपकों का लोक-नाट्य के रूप में प्रचार था।

सन् १६४३-१८६६ ई० में लिखे गये हिन्दी नाटकों के दो रूप इस समय मिलते हैं—साहित्यिक और रंगमंचीय। पहली श्रेणी के नाटक अधिकांशत: में काव्यत्व से भरपूर हैं और दूसरे वर्ग में रंगमंचीय आवश्यकताओं की पूर्ति पर अधिक ध्यान दिया गया है। आगे चलकर भी ये दोनों धाराएँ पृथक्-पृथक् रूप से वेगवती होकर हमारे साहित्य को आप्लावित करती रहीं। अतएव हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास वास्तव में इन्हीं दोनों धाराओं का इतिहास है।[1]

हिन्दी में नाटक-साहित्य का आरम्भ नाटकीय काव्य से हुआ है। 'हनुमन्नाटक' तथा 'समयसार' आदि इसी कोटि के नाटक हैं। परन्तु कलात्मक दृष्टि से हिन्दी साहित्य का सर्वप्रथम नाटक 'प्रबोध-चन्द्रोदय' (रचना-काल लगभग १६४३ ई०) है। यह संस्कृत के 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक का अनुवाद है। अनुवादक जोधपुर नरेश स्वर्गीय महाराज जसवन्तसिंह जी (१६२६-७८ ई०) थे अनुवाद में गद्य और पद्य—दोनों ब्रजभाषा में हैं।

दूसरा नाटक 'आनन्द रघुनन्दन' है। इसके रचना-काल का पता नहीं चलता, परन्तु अनुमान से यह सन् १७०० ई० के आस-पास लिखा हुआ माना जा सकता है। लेखक रीवाँ-नरेश महाराज विश्वनाथसिंहजू (१६६१-१७४० ई०) थे। यह नाटक हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक नाटक है और इसके गद्य की भाषा भी ब्रजभाषा है। इनका लिखा हुआ एक 'गीता रघुनन्दन' नामक नाटक और मिलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी की नाटक परम्परा, निर्माण की दृष्टि से दो रूपों क चली—अनुवादित एवं मौलिक। इन दोनों परम्पराओं में आगे

---

१. डा० सोमनाथ गुप्त : **हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास**, पृ० ३।

चलकर क्रमशः राजा लक्ष्मणसिंह (१८२६-९६ ई०) कृत 'शकुन्तला नाटक' (रचना काल सन् १८६१) और भारतेन्दु के पिता गोपालचन्द्र कृत 'नहुष' (रचना-काल सन् १८४१) लिखे गए।[1]

१९वीं शताब्दी में एँग्लो-सैक्शन संस्कृति की संदेशवाहक अंग्रेज जाति के साथ हिन्दी भाषा-भाषियों का सम्पर्क स्थापित हुआ और इससे देश में नई जागृति आई। अपना राज्य स्थापित करने के बाद अंग्रेजों ने नवीन या आधुनिक शिक्षा का प्रचार किया और अनेक स्कूलों, कॉलेजों आदि की स्थापना की। इन संस्थाओं में अंग्रेजी साहित्य का भी अध्ययन होता था। अंग्रेजों के पास अपना समुन्नत नाट्य-साहित्य था। इसके अतिरिक्त उन्होंने मनोरंजन के लिए कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, पटना आदि बड़े-बड़े नगरों में अभिनयशालाएँ भी स्थापित कीं। इस प्रकार अंग्रेजी के अध्ययन और अंग्रेजों के सम्पर्क के फलस्वरूप नाट्य-रचना को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। इस प्रकार अनुकूल वातावरण पाकर हिन्दी नाट्य-साहित्य का जन्म हुआ। हिन्दी में खेले जाने वाले नाटकों का आरम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से माना जाना चाहिए। उन्होंने सन् १८६२ में 'जानकी-मंगल' नामक हिन्दी में खेले जाने वाला सर्वप्रथम नाटक खेला।[2] इस प्रकार हिन्दी नाट्य-साहित्य का क्रमबद्ध इतिहास १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से माना जाता है। भारतेन्दु के साथ ही हिन्दी नाट्य-साहित्य की परम्परा आरम्भ हो गई और वह परम्परा आज तक चली आ रही है। हिन्दी नाट्य-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास इस प्रकार है—

(क) **भारतेन्दु काल** (सन् १८३७-१९०४)—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अनेक प्रकार के नाटक लिखे और नाट्य रचना की अनेक परम्पराओं को जन्म दिया। प्रत्येक परम्परा के अन्तर्गत छोटे-बड़े अनेक नाटक लिखे गए। ये परम्परा इस प्रकार हैं—

---

१. डॉ० सोमनाथ गुप्त : हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास पृ० ४-५।

२. हिन्दी भाषा में जो सबसे पहला नाटक खेला गया, वह 'जानकी-मंगल' था। यह स्वर्गवासी बाबू ऐश्वर्यनारायण सिंह के प्रयत्न से चैत्र शुक्ला १०, संवत् १९२५ (सन् १८६२ ई०) में बनारस थियेटर में बड़ी धूम-धाम से खेला गया था।

(अ) पौराणिक धारा—इसकी तीन उपधाराएँ हैं—(१) रामचरित-सम्बन्धी, (२) कृष्णचरित सम्बन्धी तथा (३) अन्य पौराणिक आख्यानों से सम्बन्धित।

(आ) ऐतिहासिक धारा (इ) समस्या-प्रधान धारा, (ई) राष्ट्रीय धारा, (उ) प्रेम-प्रधान धारा और (ऊ) प्रहसन धारा।

पौराणिक नाटक-धारा का श्रीगणेश भारतेन्दु द्वारा लिखी हुई 'चन्द्रावली' नाटिका से हुआ। ऐतिहासिक नाटक-धारा 'नीलदेवी' से प्रारम्भ होती है। 'भारत-दुर्दशा, नाटक लिखकर भारतेन्दु ने सबसे पहले देश-प्रेम की भावना और राष्ट्रीयता को रंगमंचीय रूप प्रदान किया। समस्या-प्रधान नाटक-धारा का जन्म भारतेन्दु की 'प्रेमजोगिनी' से मानना चाहिए। इस युग के प्रमुख नाटककार हैं—बालकृष्ण भट्ट, लाला श्रीनिवास दास, राधाचरण गोस्वामी, राधाकृष्णदास तथा किशोरीलाल गोस्वामी।

इस युग में संस्कृत, बँगला तथा अंग्रेजी के कई अच्छे-अच्छे नाटकों के हिन्दी में अनुवाद किये गए। अनुवाद की परम्परा भी भारतेन्दु से ही प्रारम्भ हुई थी। उनका 'विद्यासुन्दर' बँगला नाटक का अनुवाद है तथा 'पाखण्ड-विडंबन, धनंजय विजय, कर्पूरमंजरी तथा मुद्राराक्षस—संस्कृत नाटकों के अनुवाद हैं। इनके समकालीन विभिन्न भाषाओं के प्रमुख नाटक-अनुवादक इस प्रकार हैं—

१. संस्कृत—लाला सीताराम तथा देवदत्त तिवारी।
२. बँगला—केशवराम भट्ट।
३. अंग्रेजी—तोताराम तथा पुरोहित गोपीनाथ।

(ख) **संधि काल**—सन् १९०५ से १९१५ ई० तक का समय संधिकाल माना जाता है। यह काल भावुकता और बुद्धिवाद का संधिकाल है। इस युग में भारतेन्दु-काल की धाराएँ बहती रहीं और नवीन धाराओं का जन्म भी हुआ। बदरीनाथ भट्ट प्राचीन परम्परा वालों में प्रमुख हैं। जयशंकर प्रसाद का आविर्भाव हो गया था। उनका नाटक 'करुणालय' इसी संधिकाल में लिया गया था।

(ग) **प्रसाद युग** (सन् १९१५-३३)—इसे हम हिन्दी नाटक-साहित्य का

विकास युग कहते हैं। 'प्रसाद' ने हिन्दी नाट्य-साहित्य की काया ही पलट दी। उनके अधिकांश नाटक ऐतिहासिक हैं तथा उनका नाट्य-विधान सर्वथा नूतन है, जिसके ऊपर भारतीय नाट्य-शास्त्र की गहरी छाप है। इनके समकालीन नाटककारों में प्रमुख हैं : (अ) पौराणिक धारा—दुर्गादत्त पांडे, वियोगी हरि, कौशिक, मिश्रबन्धु, सुदर्शन, तथा गोविन्दवल्लभ पन्त।

(आ) ऐतिहासिक धारा—पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', प्रेमचन्द, बदरीनाथ भट्ट, मिलिन्द, उदयशंकर भट्ट और सेठ गोविन्ददास; (इ) राष्ट्रीय धारा—प्रेमचन्द; (ई) समस्या-प्रधान धारा—लक्ष्मीनारायण मिश्र; (उ) प्रेम-प्रधान धारा—व्रजनन्दन सहाय; (ऊ) प्रहसन—जी० पी० श्रीवास्तव।

पूर्व-परम्परा के अनुसार इस युग में भी संस्कृत, बँगला, अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं के नाटकों के अनुवाद एवं रूपान्तर हुए। प्रमुख अनुवादित ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

१. संस्कृत—मालतीमाधव, उत्तर-रामचरित, स्वप्नवासवदत्ता तथा मृच्छकटिक।
२ अंग्रेजी—शेक्सपियर के नाटक, टाल्सटाय के नाटक, मोलियर के नाटक तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं के नाटककारों के नाटक।
३. बँगला—द्विजेन्द्रलाल राय के नाटक, गिरीशचन्द घोष के नाटक, रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाटक।
४. गुजराती और मराठी के अनेक नाटक।

(घ) **वर्तमान युग** (सन् १९३३ से)—इसे हम 'प्रसादोत्तर नाटक-साहित्य' का युग भी कह सकते हैं। इस युग की समस्याएँ बदल गई हैं। प्रारम्भ में देश को स्वतन्त्र करने की समस्या थी, अब राष्ट्र-निर्माण की समस्या है। इस युग में दोनों ही प्रकार की समस्याओं से सम्बन्धित नाटक लिखे गए हैं। प्रमुख नाटककार इस प्रकार हैं—सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट, चतुरसेन शास्त्री, किशोरीदास, गोविन्दवल्लभ पंत, अश्क, हरिकृष्ण प्रेमी, लक्ष्मीनारायण मिश्र। सुमित्रानन्दन पंत ने 'ज्योत्स्ना' नामक एक प्रतीक रूपक लिखा है जो एक नई चीज है। इसमें अलङ्कार रूप में 'संध्या' तथा उसके क्रमिक 'विकास-ज्योत्स्ना,

ऊषा और प्रकाश' का सजीव वर्णन है। एकांकी नाटक इस युग की सबसे बड़ी विशेषता है। प्रमुख एकांकीकार हैं—भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र, राजकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, अश्क, प्यारेलाल, सद्गुरुशरण अवस्थी, विष्णु प्रभाकर, धर्मवीर भारती, विमला लूथरा, जगदीशचन्द्र आदि।

देश के वातावरण और चतुर्दिशी ज्ञान-विज्ञान के विकास ने नवीन प्रयोगों के प्रति प्रेरणा प्रदान की है और हिन्दी के नाटककारों ने उनसे पूरा-पूरा लाभ उठाया है। आजकल हिन्दी में नित्य नये और नाना प्रकार के नाटक लिखे जा रहे हैं। इस युग में अधिकतर समस्या-प्रधान नाटक लिखे जा रहे हैं। ऐतिहासिक, प्रेम-प्रधान, पौराणिक आदि धाराएँ भी समस्या में ही मिल गई हैं। प्रचलित धाराओं के अतिरिक्त भाव-नाट्य, गीति-नाट्य, रेडियो-नाटक, छाया-नाटक आदि भी हिन्दी में मिलते हैं। यह प्रसाद और उनके परवर्ती लेखकों की नई देन है।

६

'स्कन्दगुप्त' नाटक का विवेचन

(१)

नाटक की समीक्षा

स्कन्दगुप्त (विक्रमादित्य) एक ऐतिहासिक नाटक है। स्कन्दगुप्त पटना के गुप्त-राजवंश का एक सम्राट् था। समय—ईसवी सन् ४५० से ४७५ तक ठहरता है।

नायक—नाटक का नायक स्कन्दगुप्त है।

(नाटक का नामकरण ही नायक के नाम पर है। प्रसाद जी ने प्रायः नायकों के नाम के आधार पर ही अपने नाटकों का नामकरण किया है।)

नाटकीय नियमों के अनुसार नायक वह है जिसे अन्त में अधिकार मिले— "अधिकारः फलस्वाम्यम् अधिकारी च तत्प्रभुः।" इस दृष्टि से भी स्कन्दगुप्त ही नाटक का नायक है। यह बात दूसरी है कि उदारतावश उसने अपने सौतेले भाई पुरगुप्त को राज्यपाट सौंप दिया और स्वयं विरक्त हो गया। प्रेम-नैराश्य उसकी विरक्ति का प्रधान कारण था।

नाटक के पात्र—नाटक में पात्रों की संख्या काफी है। दास, दासी, सिपाही आदि के अतिरिक्त मुख्य पात्र २५ हैं। इनमें १७ पुरुष-पात्र हैं, और ८ स्त्री-पात्र। यथा—

पुरुष-पात्र—

१. स्कन्दगुप्त—युवराज (विक्रमादित्य)
२. कुमारगुप्त—मगध का सम्राट् (स्कन्दगुप्त का पिता)

३. पुरगुप्त—कुमारगुप्त का छोटा पुत्र (स्कन्दगुप्त का सौतेला भाई)
४. गोविन्दगुप्त—कुमारगुप्त का भाई
५. पर्णदत्त—मगध का महानायक
६. भटार्क—नवीन महाबलाधिकृत
७. चक्रपालित—पर्णदत्त का पुत्र
८. बन्धुवर्मा—मालव का राजा
९. भीमवर्मा—बन्धुवर्मा का भाई
१०. मातृगुप्त—(काव्यकर्त्ता कालिदास)
११. प्रपंचबुद्धि—बौद्ध कापालिक)
१२. शर्वनाग—अन्तर्वेद का विषयपति
१३. कुमारदास—(धातुसेन)-सिंहल का राजकुमार
१४. पृथ्वीसेन—मन्त्री कुमारामात्य
१५. खिंगिल—हूण आक्रमणकारी
१६. मुद्गल—विदूषक
१७. प्रख्यातकीर्ति—लंकराज कुल का श्रमण, महाबोधि-बिहार का स्थविर ।

(महाप्रतिहार, महादण्ड नायक, नन्दी ग्राम का दण्डनायक, प्रहरी, सैनिक इत्यादि अनेक पात्र ।)

स्त्री-पात्र—

१. देवकी—कुमारगुप्त की बड़ी रानी (स्कन्दगुप्त की माता)
२. अनन्तदेवी—कुमारगुप्त की छोटी रानी (पुरगुप्त की माता तथा स्कन्दगुप्त की विमाता)
३. जयमाला—मालवा की रानी (बन्धुवर्मा की पत्नी)
४. देवसेना—बन्धुवर्मा की बहिन (स्कन्दगुप्त की प्रेयसी)
५. विजया—मालवा के धनकुवेर की कन्या । (इसने भटार्क और स्कन्द दोनों से प्रेम किया)
६. कमल—भटार्क की माता

७. रामा—शर्वनाग की पत्नी

८. मालिनी—मातृगुप्त की प्रणयिनी।

(इनके अतिरिक्त सखी, दासी आदि अन्य अनेक स्त्री-पात्र हैं।)

नाटक की ऐतिहासिकता—प्रसाद के अधिकांश नाटकों की भाँति स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य भी एक ऐतिहासिक नाटक है। कथावस्तु के अतिरिक्त नाटककार ने चरित्र-चित्रण में ही इतिहास-सम्मत सूक्ष्मातिसूक्ष्म घटनाओं का उपयोग किया है।

मिलन्दस के स्तम्भ-लेख द्वारा प्रमाणित हो चुका है कि चन्द्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य द्वारा शासित विस्तृत साम्राज्य का उत्तराधिकारी कुमारगुप्त (प्रथम) था और उसका शासन-काल ईसवी सन् ४१५ के पूर्व ही प्रारम्भ हो चुका था। कुमारगुप्त विलासी और निर्बल शासक था। उन दिनों चारों ओर शान्ति का साम्राज्य था और कलाकौशल, साहित्य, धर्म इत्यादि की खूब श्री-वृद्धि हो रही थी। विभिन्न प्रान्तों के लिये अपने प्रतिनिधि नियुक्त कर कुमारगुप्त ने बंगाल से लेकर सौराष्ट्र तक और हिमालय से लेकर नर्मदा तक के साम्राज्य पर ४३ वर्षों तक शासन किया था। गुप्तकालीन मुद्राओं और शिलालेखों से प्रमाणित होता है कि कुमारगुप्त (प्रथम) के उपरान्त उसका पुत्र स्कन्दगुप्त राज्य का स्वामी बना। स्कन्द की माता के नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं है। मितरी वाली राजमुद्रा के आधार पर कुमारगुप्त (प्रथम) की पत्नी अनन्तदेवी की चर्चा मिलती है और उसी प्रमाण के आधार पर अनन्तदेवी का पुत्र पुरगुप्त ही कुमारगुप्त के साम्राज्य का उत्तराधिकारी माना जाता है। कुछ विद्वानों का मत है कि स्कन्दगुप्त और उसके भाई पुरगुप्त में राज्य की प्राप्ति के लिये युद्ध हुआ था, और कुछ विद्वानों का कहना है कि कुमारगुप्त के समय में ही स्कन्द की योग्यता और उसके पराक्रम की धाक जम गई थी। इस कारण स्कन्दगुप्त और पुरगुप्त में युद्ध होना असम्भव था। कतिपय विद्वानों का यह भी मत है कि जब स्कन्दगुप्त हूणों से युद्ध करने में लगातार व्यस्त रहने लगा था, उन दिनों पुरगुप्त ने उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रचकर शासक बनने का प्रयत्न किया था और सम्भवतः इसी कारण दुःखी होकर सम्राट् कुमारगुप्त के भाई महाराज

गोविन्दगुप्त पूर्वी प्रान्त छोड़कर मालवा चले आये थे। सन् ४६७-६८ तक उनके जीवित रहने का प्रमाण मिलता है।

जो भी हो, हमारे सम्मुख तीन ऐतिहासिक तत्त्व आते हैं। यथा—स्कन्दगुप्त और पुरगुप्त सौतेले भाई थे, उनमें मतभेद था तथा किसी-न-किसी रूप में गुप्तराज्यवंश में अन्तर्विद्रोह हुआ था। उन दिनों हूणों का जोर बढ़ चला था। इस अन्तर्विद्रोह ने अशान्ति की इस अग्नि में घी का काम किया और पुरगुप्त के शासन-काल में ही गुप्तों का बंगाल से लेकर सौराष्ट्र तक का एकछत्राधिपत्य भंग हो गया था।

ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि उदार चरित स्कन्दगुप्त ने अपने भाई की महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति करने का यथाशक्ति प्रयत्न किया हो। दक्षिण बिहार का राज्य पुरगुप्त को देकर वह स्वयं अन्तःकलह को शान्त करके राष्ट्रोद्धार में जी-जान से जुट गया हो।

पराक्रमी स्कन्दगुप्त ने पुष्यमित्रों और हूणों के आक्रमणों का डटकर सामना किया और राष्ट्र पर आई हुई महा विपत्ति की जड़ें उखाड़ फेंकी। वीर स्कन्दगुप्त ने म्लेच्छों का पूर्ण विध्वंस किया और सम्पूर्ण मालवा तथा सौराष्ट्र को पदाक्रान्त न होने देने के अतिरिक्त विचलित हुई कुललक्ष्मी को पुनः स्थापित किया। इसके लिये निश्चय ही उसे बड़ा कठोर संघर्ष करना पड़ा होगा और व्यक्तिगत रूप से कड़ी मर्यादा में आबद्ध संगत जीवन व्यतीत करना पड़ा होगा। ऐतिहासिक साक्ष्य के अनुसार धन-बल-सम्पन्न पुष्यमित्र को परास्त कर स्कन्दगुप्त राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। बाद में पश्चिमोत्तर प्रान्त में जाकर उसने बर्बर हूणों को परास्त किया।

उक्त समस्त ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर प्रस्तुत नाटक की रचना हुई है और यशस्वी स्कन्दगुप्त को एक सच्चे धीरोदात्त नायक के रूप में चित्रित किया गया है।

तात्त्विक विवेचन—स्कन्दगुप्त नाटक के सम्बन्ध में डॉक्टर जगन्नाथ प्रसाद शर्मा के ये शब्द महत्त्वपूर्ण होने के अतिरिक्त मान्य भी हैं—"रचना पद्धति

और नाटकीय गुण के विचार से 'प्रसाद' का सर्वोत्तम नाटक स्कन्दगुप्त है। इसमें पाश्चात्य एवं भारतीय नाट्य-शास्त्र के विहित सिद्धान्तों का व्यावहारिक प्रयोग बड़ा अच्छा हुआ है। वस्तु-तत्त्व, चरित्रांकन, सम्वाद और देशकाल का चित्रण इसमें बड़ी सूक्ष्मता से किया गया है। स्वयं लेखक को अपनी इस रचना से बड़ा सन्तोष था। सम्पूर्ण नाटक में पाश्चात्य सिद्धान्त के अनुसार सक्रियता का प्राधान्य है और भारतीय परम्परा के रस-सिद्धान्त का सुन्दर समन्वय जितना इस कृति में दिखाई पड़ता है उतना और कहीं नहीं। भले ही कुछ लोग काव्यात्मकता के आधिक्य के कारण नाक-भौं सिकोड़ें परन्तु भारतीय नाट्य-परम्परा की विशिष्टताओं से अवगत सहृदय समालोचक अवश्य ही इसका यथार्थ रसास्वादन करते हैं।"[१]

'स्कन्दगुप्त' प्रसाद को प्रौढ़ कृति है, इसमें किसी को किसी प्रकार की आपत्ति या सन्देह नहीं होना चाहिए।

कथावस्तु—नाटक की कथावस्तु सर्वथा ऐतिहासिक है। सम्पूर्ण घटना-चक्र का उतार-चढ़ाव इतिहास-सम्मत है।

आधिकारिक कथावस्तु—गुप्त-साम्राज्य के स्वामी कुमारगुप्त कुसुमपुर में विलासी जीवन व्यतीत कर रहे हैं। मदिरा और नर्तकियों से उन्हें अवकाश नहीं। युवराज स्कन्दगुप्त अपने दायित्व और पद के प्रति उदासीन-सा है। साम्राज्य का अन्धकारमय भविष्य उसे स्पष्ट दिखाई देता है। इस कारण वह चिन्तित भी है। गुप्त-राजवंश के उत्तराधिकार के नियमों की अव्यवस्था देखकर भी वह व्यथित है। उसे यही पता नहीं है कि वह राज्य का उत्तराधिकारी होगा भी या नहीं।

मालव राज्य पर विदेशियों का आक्रमण होता है। वीर स्कन्दगुप्त समय पर पहुँच कर उस राज्य की रक्षा करता है।

इसके बाद राजधानी में सम्राट कुमारगुप्त का स्वर्गवास होता है और

---

१. **'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन'**, पृ० ८६।

कौटुम्बिक कलह सामने आता है। परिणामस्वरूप स्कन्दगुप्त मालवा का सिंहासन स्वीकार करता है।

हूणों के आक्रमण जारी थे। उनसे आर्यावर्त्त की रक्षा करना स्कन्द अपना परम कर्त्तव्य समझता है। अभिषेक के पश्चात् वह सैन्य-संगठन में रत और आक्रमणकारियों से मोर्चा लेता हुआ दिखाई देता है। इसी बीच उसकी विमाता से उत्पन्न उसके छोटे भाई पुरगुप्त का षड्यन्त्र सामने आता है, जिसे वह दवा देता है। साम्राज्य का सेनापित भटार्क है। वह पुरगुप्त के साथ है। उसी की नीचता के कारण हूण आगे बढ़ते आते हैं। वह कुभा नदी पर बना पानी का बाँध तोड़ देता है इसके फलस्वरूप स्कन्दगुप्त अपनी सेना सहित आपत्ति में पड़ जाता है। सब लोग समझने लगते हैं कि स्कन्दगुप्त जल की लहरों की गोद में सदा के लिए सो गया।

इस प्रकार कुभा के रणक्षेत्र में स्कन्दगुप्त को सेना छिन्न-भिन्न हो जाती है। कठिन परिश्रम और भारी प्रयास के बाद वह फिर सेना को संगठित करता है और गुप्त-सामाज्य के बचे हुए कर्मठ वीर पुनः एकत्र होते हैं। खिंगिल गोपाद्रि से बढ़कर सिन्धु के समीप आता है। वहाँ फिर युद्ध होता है। इस बार हूण पूर्ण रूप से पराजित होते हैं। इस प्रकार स्कन्दगुप्त अपने जीवन-काल में एक बार आर्यावर्त्त को हूणों से निरापद बना ही देता है। (हूण मंगोल जाति की एक शाखा थी, जिसने प्रबल होकर एशिया और मध्य एशिया के देशों पर आक्रमण किये थे।)

यह तो हुई आधिकारिक कथावस्तु।

प्रासंगिक कथावस्तु—यह पताका और प्रकरी, दोनों रूपों में समाविष्ट है। स्कन्दगुप्त का देवसेना से प्रेम वाला प्रकरण तथा विजया का स्कन्दगुप्त के प्रति आकर्षण, में दो प्रसंग 'पताका' के अन्तर्गत समझने चाहिए। बलि के प्रश्न को लेकर बौद्ध और ब्राह्मणों का विवाद 'प्रकरी' समझना चाहिए। इन दोनों के द्वारा स्कन्दगुप्त के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है तथा घटना-चक्र को गति प्राप्त होती है।

प्रेमचर्या अन्त तक चलती है तथा ब्राह्मणों और बौद्धों वाला प्रसंग केवल

थोड़ी देर के लिये ही हमारे सम्मुख आता है। (देखें, नाटक का पृष्ठ १२६ से पृष्ठ १३० तक)।

मुद्गल एक विदूषक है। उसका अभिनय प्रेक्षकों के मनोरंजनार्थ है॥ पुरानी परिपाटी के अनुसार विदूषक को पेटू बताया गया है। कथावस्तु से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

चरित्र-चित्रण—नाटक के पात्रों का चरित्र-चित्रण तीन रूपों में होता है—(अ) पात्र के आचरण द्वारा, (आ) उसके स्वयं कथनों द्वारा तथा (इ) उसके सम्बन्ध में अन्य पात्रों के वचनों एवं कथनों द्वारा। अर्थात् किसी भी पात्र का चरित्र हम तीन बातों द्वारा आँकते हैं—वह क्या-क्या करता है, वह क्या कहता है तथा उसके विषय में आप लोगों की क्या राय है? स्कन्दगुप्त नाटक के पात्रों का चरित्र-चित्रण उपर्युक्त तीनों ही प्रकार से किया गया है और उसके विषय में धारणाएँ निर्धारित करने में पाठक अथवा प्रेक्षक को विशेष कठिनाई नहीं होती।

रस—प्रस्तुत नाटक में दर्शन की सम्पूर्ण वृत्तियाँ स्कन्दगुप्त में रमती हैं। स्कन्द के दुख से दुखी और सुख से सुखी होना प्रेक्षक के लिये आवश्यक बन जाता है। स्कन्दगुप्त का एक ही लक्ष्य था—आर्यराष्ट्र के गौरव की रक्षा करना। वह एक ही फल-प्राप्ति में आद्योपान्त तत्पर है—आक्रमणकारियों को हराकर देश को निरापद बनाना। इसके लिए गृह-कलह, कुचक्र आदि का सामना करना पड़ता है। अपने अखण्ड पुरुषार्थ के बल पर वह अपने उद्देश्य की प्राप्ति में सफल होता है। उसका जीवन सर्वथा सफल है। अतः स्कन्दगुप्त नाटक सुपर्यवसायी ही कहा जायगा।

प्रश्न उठता है कि नाटक में कौन-सा रस है? उत्तर स्पष्ट है कि वीर रस। वीर रस का स्थायी भाव है 'उत्साह'। उत्साह का यह भाव हमें शुरू से अन्त तक मिलता है। इतना ही नहीं, हमें उसके समस्त विभेद भी उपलब्ध होते हैं—दयावीर, दानवीर, त्यागवीर तथा युद्धवीर। स्कन्दगुप्त के व्यक्तित्व में चारों प्रकार की वीरता सन्निहित है। अतः वह पूर्ण वीर है। "·····अकेला स्कन्दगुप्त मालव की रक्षा करने के लिए सन्नद्ध है, जाओ निर्भय निन्द्रा का

सुख लो। स्कन्दगुप्त के जीते-जी मालव का कुछ न बिगड़ सकेगा।" इत्यादि उक्तियाँ स्कन्दगुप्त के उत्साह की ही अभिव्यंजना करती हैं। शत्रुओं को क्षमा करते समय वह दयावीर है, शत्रुओं को रणक्षेत्र में ललकारते समय वह युद्ध-वीर है, आजन्म कौमारव्रत की शपथ लेते समय वह त्यागवीर है तथा अपने छोटे भाई पुरगुप्त को राज्यसिंहासन देते समय वह दानवीर है।

स्कन्दगुप्त की कुछ विरक्तिमयी उक्तियाँ इस प्रकार की हैं जो सन्देह उत्पन्न करती हैं कि नाटक में शान्तरस क्यों नहीं है। यथा—"अधिकार-सुख कितना मादक और सारहीन है" इत्यादि। कुछ विद्वानों का मत है कि इसके द्वारा वीर रस की अखण्ड निष्पत्ति में हलका-सा व्याघात पड़ता है। हमारे विचार में नाटक में न तो शान्त रस ही है और न इस प्रकार की विरक्ति-भावना एवं निर्वेदात्मक वचनों द्वारा वीर रस की निष्पत्ति में व्याघात ही पड़ता है। स्कन्द-गुप्त की विरक्ति की भावना मूल-प्रवृत्ति नहीं है। वह केवल अस्थायी भावना है। इसका आधार है—गृहकलह और अनन्तदेवी एवं भटार्क का महत्त्व, लोभ एवं अधिकार-लिप्सा। फिर उच्च चरित्रवान होने के कारण वह राजपद का भूखा नहीं है। अतः उसके इन वचनों द्वारा निर्वेद संचारीभाव की अभिव्यंजना होती है, निर्वेद स्थायी भाव की नहीं।

प्रश्न हो सकता है कि नाटक में शृंङ्गार रस प्रधान क्यों नहीं है ? उसमें आद्योपान्त प्रेम-प्रकरण चलता है और अन्त में वियोगात्मक शृङ्गार के दर्शन होते हैं। यदि संयोग न हो पाए तो क्या शृङ्गार रस न होगा ? यहाँ भी वही उत्तर है। नाटककार का उद्देश्य और नायक ने जीवन का लक्ष्य भारत-वर्ष को निरापद बनाना है, न कि मनचाही प्रेयसी प्राप्त करना। शृंगार चर्चा आ जाने से प्रेक्षक का चित्त लगा रहता है तथा नायक के जीवन का सम्पूर्ण चित्रण हो जाता है। शृंगार रस भी नाटक के वीर रस का सहायक होकर आया है।

राष्ट्र की राजनीतिक परिस्थिति, अनन्तदेवी का षड्यन्त्र तथा समस्त उत्तरापथ स्थित धर्म-संघों का गुप्त विरोध उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत आते हैं।

अखण्ड उत्साह के परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाले समस्त कार्य-व्यापार अनुभव के अन्तर्गत आते हैं—विभिन्न युद्ध, मालव-सिंहासन की स्वीकृति,

देवकी और देवसेना की रक्षा, सब वन्दियों और विद्रोहियों को क्षमा प्रदान करना आदि।

नाटक में संचारी भावों की विविधता दिखाई पड़ती है। यथा—"बौद्धों का निर्वाण, योगियों की समाधि और पागलों की-सी सम्पूर्ण विस्मृति मुझे एक साथ ही चाहिए।........और! जाने दो.. गया ...सब कुछ गया।........ भविष्य अन्धकारपूर्ण, लक्ष्यहीन दौड़ और अनन्त सागर का संतरण है।........ कितना वीभत्स! सिंहों की विहारस्थली में शृगालवृन्द सड़ी लोथें नोंच रहे हैं...............आह! मैं वह स्कन्द हूँ, अकेला निस्सहाय!........ध्यान रखना राजधानी से अभी कोई सहायता नहीं मिली। हम लोगों को इस आसन्न विपत्ति में अपना ही भरोसा है" आदि। दृढ़तापूर्वक सावधान रहना, स्कन्द की अपनी विशेषता है। इस प्रकार चिन्ता, निर्वेद, दीनता जुगुप्सा, गर्व, धृति, उत्सुकता, आवेग, विषाद, ग्लानि, रति आदि विविध संचारी-भावों का यथास्थान समावेश पाया जाता है। वीर रस के समस्त अग-उपांगों का पूर्ण समावेश है और नाटक में वीर रस की सफल निष्पत्ति हुई है। सामाजिक के हृदय में स्थित 'उत्साह' स्थायी भाव साधारणीकृत होकर पूर्ण रूप से प्रकाशित हो उठता है और उसे आनन्दस्वरूप वीर रस की अनुभूति होती है।

नाटक का शास्त्रीय पक्ष

कार्यावस्थाएँ

नाटक का घटनाचक्र पाँच अंकों में विभाजित है। इनसे प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम—पाँचों अवस्थाओं का स्पष्ट बोध होता है।

प्रथम अंक में नाटक तथा उसके पात्रों का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। फल-समस्या का खुला उल्लेख है तथा प्रमुख पात्रों की मौलिक विशिष्टताओं के साथ उनके कुल, शील एवं प्रधान मनोवृत्तियों का निदर्शन है। गृहकलह, सम्राट् की कामुकता, युवराज की उदासीनता, महाबलाधिकृत वीरसेन की असामयिक मृत्यु एवं बर्बर हूणों के निरन्तर आक्रमणों के निदर्शन द्वारा यह

समस्या उत्पन्न होती है कि आर्यावर्त्त और गुप्त साम्राज्य के सम्मान की रक्षा किस प्रकार हो ?

द्वितीय अंक प्रयत्नावस्था का है। फल-प्राप्ति में दो विघ्न हैं—गृह-कलह जो अनन्तदेवी और भटार्क के कुचक्र के रूप में दिखाई पड़ता है, तथा बर्वर हूणों के आक्रमणों का आतंक। दोनों से देश की रक्षा करनी है।

प्रयत्नस्वरूप स्कन्दगुप्त ठीक समय पर कुसुमपुर में पहुँच अपनी माता देवकी की रक्षा करता है। इस प्रकार षड्यन्त्र पर नियन्त्रण होता है।

इसी अंक में स्कन्दगुप्त का राज्यारोहण और कुचक्रियों का बन्दी रूप में उपस्थित होना दिखाया जाता है। प्रयत्न के रूप का स्पष्ट दर्शन होने पर भविष्य उज्जवल प्रतीत होने लगता है।

तृतीय अंक में घटनाचक्र का क्रम पूर्ववत् चलता है। कुचक्र में विजया भी सम्मिलित हो जाती है। ठीक समय पर पहुँचकर मातृगुप्त और स्कन्दगुप्त श्मशान में देवसेना की रक्षा करते हैं। सीमान्त की गंगधार घाटी में युद्ध होता है। भटार्क विश्वासघात करता है। कुभा का बाँध काट देता है। स्कन्द और उसकी सेना बह जाती है।

इस प्रकार इस अंक में प्राप्त्याशा की स्थापना न होकर, स्कन्दगुप्त के दुःखों की चरम सीमा का बोध होता है। इसे पाश्चात्य नाटक-प्रणालो की चरम सीमा कहेंगे।

चौथे अङ्क में विरोधी दल की फूट, भटार्क की मनोवृत्ति में परिवर्तन और स्कन्दगुप्त आदि कुछ वीरों का बचकर आ जाना, उज्जवल भविष्य की आशा दिलाकर नियताप्ति का बोध कराते हैं।

पाँचवाँ अंक सुन्दर और प्रभावशाली है। यहाँ अन्त में विरोधियों का गढ़ टूटता है। विजया का रत्नागार लेकर भटार्क पवित्र उत्साह के साथ नवीन सेना संकलन करता है। उधर प्रख्यातकीर्त्ति एवं धातुसेना के प्रयत्नस्वरूप अनन्तदेवी और धर्म-संघों में भी अनबन हो जाती है तथा पर्णदत्त की साधना से साम्राज्य के बचे हुए वीर एकत्र होकर स्कन्दगुप्त की छत्रछाया में आर्यावर्त्त की रक्षा के लिए एक बार फिर उद्योग करते हैं और इस बार उद्योग सफल होता है।

दोनों विघ्न दूर होते हैं। खिंगिल बन्दी होता है। सिन्धु के इस पार न आने का आदेश देकर स्कन्दगुप्त उसे मुक्त करता है। यह तो हुई विदेशी आक्रमणकारियों के आतङ्क से मुक्ति।

युद्ध-क्षेत्र में ही पुरगुप्त को रक्त का टीका लगाकर स्कन्दगुप्त गृहकलह को सदा के लिए मिटा देता है। अत: फल-प्राप्ति (फलागम) का स्वरूप सर्वथा भव्य एवं अत्यन्त प्रभावोत्पादक बन जाता है।

यहाँ एक बात बता देना आवश्यक है। प्रथम अङ्क में आधिकारिक कथावस्तु की आरम्भावस्था की समाप्ति के साथ ही स्कन्दगुप्त के व्यक्तिगत जीवन से सम्बद्ध प्रेम की प्रासङ्गिक कथावस्तु का प्रारम्भ हो जाता है। यह प्रेमकथा भी अङ्कों के साथ चढ़ती-उतरती चलती है। अन्त में इस दिशा में स्कन्दगुप्त दरिद्र ही रह जाता है। विजया द्वारा यदि स्वर्ग भी मिले, तब भी स्कन्दगुप्त को विजया स्वीकार नहीं और मालव राजकुमारी देवसेना प्रतिदान के अपयश की आशङ्का से स्कन्दगुप्त को वरण करके मालवराज के सम्मान को ठेस नहीं पहुँचाना चाहती। इस प्रकार स्कन्दगुप्त अकेला रह जाता है। "मानव-जीवन का यह कठोर वैषम्य उसकी व्यक्तिगत कथा का मूल भाव है।" (देखें, 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन')

प्रेम की कहानी स्कन्दगुप्त के व्यक्तिगत जीवन तक ही सम्बन्धित रहती है। सामाजिक जीवन-पक्ष को प्रत्यक्ष रूप से वह कहीं भी प्रभावित नहीं करती।

अर्थ-प्रकृति

कार्य की अवस्थाओं के साथ अर्थ-प्रकृतियों का स्पष्ट विनियोग होता गया है।

बीज अर्थ-प्रकृति—प्रथम दृश्य—स्कन्दगुप्त और पर्णदत्त की बातचीत—"अधिकार का उपयोग करें! वह भी किस लिए ? त्रस्त प्रजा की रक्षा के लिए……। आपको अधिकारों का उपयोग करना होगा।" इसी स्थल से फलाधिकारी कार्य-व्यापार में संलग्न होता है।

बिन्दु—प्रथम अङ्क के अन्तिम दृश्य में, जहाँ मालव-विजय का प्रसंग है, यहाँ तक मुख्य कथावस्तु अविच्छिन्न नहीं रहती है। बिन्दु अर्थ-प्रकृति तृतीय अङ्क

के प्रथम दृश्य की समाप्ति तक चलती है। इसके बाद किसी नवीन पात्र अथवा नवीन ढंग के व्यापार का योग नहीं आता है।

पताका—यह बन्धुवर्मा के प्रसंग से प्रारम्भ होती है। फलाधिकारी के मुख्य कार्य-व्यापार में बन्धुवर्मा सर्वोत्तम साधक बनकर निरन्तर उद्योगशील बना रहता है। बन्धुवर्मा की मृत्यु के समय तक 'पताका' चलती है।

प्रकरी—इसमें शर्वनाग, धातुसेना, मातृगुप्त इत्यादि के अनेक छोटे-छोटे वृत्त आते हैं।

कार्य—जहाँ से गुप्त-साम्राज्य की विचलित लक्ष्मी को निरापद बनाने के लिए सब लोग एकत्र होते हैं, भटार्क कहता है—"श्री स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य की जय हो ! जैसो आज्ञा हो, वैसा ही करूँगा"—वहीं से कार्य का आरम्भ होता है। कार्य-अर्थप्रकृति कार्य को पूर्णता तक चलती है, जहाँ पर फलाधिकारी स्कन्दगुप्त आक्रमणकारियों पर विजय पा, पुरगुप्त को राज्यसिंहासन देकर आर्यावर्त्त एवं गुप्त साम्राज्य को सर्वथा निरापद और सुरक्षित बना देता है।

सन्धियाँ

मुख—स्कन्दगुप्त की मालव-राज्य की रक्षा के लिए प्रतिज्ञा करने पर मुख-संधि प्रारम्भ होती है। पर्णदत्त कहता है—"युवराज ! आज यह वृद्ध हृदय से प्रसन्न हुआ" आदि। यहीं पर प्रारम्भ अवस्था तथा बीज अर्थप्रकृति का बोध होता है। मुख-संधि प्रथम अंक की समाप्ति तक चलती है।

प्रतिमुख—हूणों की पराजय के साथ प्रतिमुख सधि का प्रारम्भ होता है। यहाँ पर बीज की लक्ष्यालक्ष्य-बोधक अनेक बातें हमारे सामने आती हैं। इसका विस्तार उस स्थल तक चलता है, जहाँ स्कन्दगुप्त देवसेना को प्रपंच बुद्धि के चंगुल से छुड़ाता है।

गर्भ—मगध में अनन्तदेवी, पुरगुप्त, विजया और भटार्क के सम्मेलन के साथ गर्भ-सन्धि प्रारम्भ होती है। यहाँ बीज का उतार-चढ़ाव दिखाई देता है और कौतूहल बढ़ जाता है। दुविधा की दशा चतुर्थ अंक के द्वितीय दृश्य तक चलती है। यहाँ तक गर्भ सन्धि रहती है।

विमर्श—स्कन्दगुप्त का विचित्र अवस्था में प्रवेश विमर्श-सन्धि का स्थल है। यह विपत्तिमूलक है। इसमें स्कन्दगुप्त किंकर्तव्यविमूढ़ दिखाई देता है—'कर्त्तव्य-विस्मृति····अनन्त सागर का सन्तरण है।' अब विपक्षी कुछ निर्बल पड़ते हैं और भटार्क कृतनिश्चय होकर सद्भावपूर्वक स्कन्दगुप्त के पास आता है और इस विपत्तिकाल की इतिश्री होती है। यहाँ तक विमर्श सन्धि रहती है। नियताप्ति कार्य की झलक का भी यही स्थल है।

निर्वहण—विरोधियों के पश्चात्ताप के साथ ही निर्वहण सन्धि प्रारम्भ होती है। यहाँ से विरोधी या तो मरते जाते हैं अथवा फलाधिकारी (स्कन्दगुप्त) के अनुकूल हो जाते हैं। भटार्क स्कन्दगुप्त की अधीनता स्वीकार करता है, विजया आत्महत्या कर लेती है, अनन्तदेवी और पुरगुप्त बन्दी होते हैं तथा हूण सेनापति परास्त होता है। निर्वहण सन्धि फल-प्राप्ति तक चलती है।

गीतों की योजना

नाटककार ने नाटक को रोचक बनाने के लिए यथावसर एवं यथास्थान गीतों का समावेश किया है—ये गीत स्थिति एवं पात्र के विचार से लिखे गये हैं, अतः सर्वथा स्वाभाविक प्रतीत होते हैं। अन्य नाटकों की भाँति स्कन्दगुप्त में भी एक पात्र—देवसेना—संगीत की अनुरागिनी है। पात्रों की दार्शनिकता द्वारा नाटक में गीतों के लिये समुचित वातावरण की सृष्टि करने में नाटककार सफल रहा है।

स्कन्दगुप्त नाटक में छोटे-बड़े सब मिलाकर १७ गीत हैं। पात्र स्थिति-भेद से इनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

(क) **नर्तकियों के गीत**—इनकी संख्या दो है। यथा—(i) कुसुमपुर के राज-मन्दिर में (पृ० १९), तथा (ii) भटार्क के शिविर में (पृ० १०९)।

(ख) **अपनी मनोव्यथा को व्यक्त करने के लिए पात्रों द्वारा एकान्त में गाये जाने वाले गीत**—इनकी संख्या चार है—(i) मातृगुप्त द्वारा (पृ० २३), (ii) विजया द्वारा (पृ० ८२) और (iii) देवसेना द्वारा गाए गए दो गीत (पृ० ४४ व १३७)।

(ग) **ईश-प्रार्थनाएँ**—इनकी संख्या चार है—पृ० ३६, ४०, १२३ तथा १२६ ।

(घ) **प्रेम के गीत**—इनकी संख्या तीन है—(i) देवसेना और सखी द्वारा (पृ० ६५), (ii) विजया द्वारा (पृ० १६६) तथा (iii) देवसेना द्वारा (पृ० १४६) ।

(ङ) **राष्ट्रीयतापरक**—इसकी संख्या एक है । यथा—भारत-महिमा वाला गीत (पृ० १४३) । यह नाटक का सबसे बड़ा गीत है ।

(च) **नेपथ्य से**—इनकी संख्या दो है । यह विषय के अनुकूल सन्देश देते हैं तथा दार्शनिक भावुकता का वातावरण प्रस्तुत करते हैं । यथा—(i) बन्दीगृह में देवकी को सुनाई देता है (पृ० ६३) तथा (ii) जीवन की नश्वरता से सम्बन्धित —जो विजया और देवसेना को सुनाई देता है (पृ० ८७) ।

(छ) **विविध**—केवल एक शेष रह जाता है । इसे देवसेना युद्ध के समय गाती है (पृ० ५१) ।

विषय की दृष्टि से इन गीतों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

(i) **दार्शनिक गीत**—अनेक गीतों पर इसकी छाप है ।

(ii) **प्रेम, वेदना आदि के मनोभावों को व्यक्त करने वाले गीत**—अधिकांश गोत इसी कोटि के अन्तर्गत आते हैं । देवसेना और मातृगुप्त के गीत विशेष रूप से मार्मिक हैं ।

(iii) **देश-प्रेम सम्बन्धी गीत**—राष्ट्रीय-गीत तथा ईश-प्रार्थना इसी वर्ग के अन्तर्गत हैं ।

स्थिति को देखते हुए केवल दो गीत अस्वाभाविक प्रतीत होते हैं—(अ) युद्ध के समय देवसेना द्वारा गाया जाने वाला गीत (पृ० ५१) तथा (ब) विजया द्वारा स्कन्दगुप्त को सुनाया जाने वाला गीत (पृ० १३६) । देवसना के गान के बारे में 'रोग' की बात कहलाकर नाटककार ने गीत की अस्वाभाविकता का किसी अंश तक परिहार कर दिया है ।[1]

---

१. **बन्धुवर्मा—'तुझे गाने का विचित्र रोष है'** (पृ० ५२) ।

विजया का गीत सर्वथा अनुपयुक्त है। स्कन्दगुप्त देवसेना के सामने आजीवन कौमर-व्रत साधने की प्रतिज्ञा करता है। इस कथन को सुनने के पश्चात् विजया का हृदय टूट जाता है, उसका भविष्य सर्वथा अन्धाकारमय हो जाता है। यहीं पल भर बाद वह उपर्युक्त गीत सुनाती है। इतनी घोर निराशा के बाद इतना लम्बा-चौड़ा गीत सुनाना सर्वथा अस्वाभाविक है।

स्पष्ट रूप से इन गीतों के कारण नाटक की साहित्यिकता एवं अभिनेयता दोनों की श्री-वृद्धि ही हुई है।

नाटक की रचना-पद्धति

स्कन्दगुप्त नाटक की रचना एक नवीन पद्धित पर हुई है। इसमें भारतीय एवं पाश्चात्य—दोनों शैलियों का सुन्दर समन्वय है। (अ) भारतीय नाटकीय तत्त्वों की दृष्टि से नाटक की पूर्णता तथा सफलता, और (आ) प्राप्त्याशा के स्थान पर पाश्चात्य ढङ्ग की चरम सीमा का समावेश—दोनों ही दृष्टियों से हम नाटक की श्रेष्ठता बता चुके हैं।

पाश्चात्य नाट्यशास्त्रियों ने नाटकों के लिए दो विशेष तत्त्वों का विधान किया है—कार्यशीलता तथा द्वन्द्व। प्रस्तुत नाटक में दोनों तत्त्व पूर्ण रूप में प्रस्फुटित हुए हैं। युद्ध, चेष्टा, प्रयत्न, षड्यन्त्र, विरोध-दमन आदि व्यापार कार्यशीलता के परिचायक हैं। ये सब-के-सब इस नाटक में आदि से अन्त तक चलते रहते हैं।

नाटक की सक्रियता द्वन्द्व और संघर्ष के ही कारण है। नाटक में दोनों प्रकार का संघर्ष उपलब्ध है—व्यक्तिगत और सामूहिक अथवा वर्गगत।

स्कन्दगुप्त और देवसेना के प्रसङ्ग के अन्तर्गत व्यक्तिगत द्वन्द्व का सुन्दर चित्रण किया गया है। स्कन्दगुप्त के विरोध में किये गये षड्यंत्र (राजनीतिक तथा पारिवारिक संघर्ष) वर्गगत द्वन्द्व के सजीव रूप हैं। धर्म-संघों का विरोध इसे और भी उग्र और तीव्र बना देता है। इनके अतिरिक्त स्वामी-सेवक, पति-पत्नी, माता-पुत्र आदि के पारस्परिक संघर्ष किंवा द्वन्द्व भी चलते रहते हैं। इस प्रकार सक्रियता और संघर्ष, इस नाटक के प्राण ठहरते हैं। अतः पाश्चात्य मानदण्ड के अनुसार भी स्कन्दगुप्त एक सफल रचना ठहरती है।

प्रस्तुत नाटक में व्यक्तिगत चित्रण की विशेषाताओं के उद्घाटन पर विशेष बल दिया गया है। इसे पाश्चात्य व्यक्ति-वैचित्र्यवाद का ही प्रतिफलन समझना चाहिए। खिंगिल को पराजित कर सिन्धु-पार भेज देने और पुरगुप्त को राज्य-तिलक दे देने के साथ फलागम हो जाता है और नाटक को यहीं समाप्त हो जाना था। परन्तु उसके बाद स्कन्दगुप्त और देवसेना के प्रसंग को लेकर एक पृथक् दृश्य की सृष्टि और उसके अन्तर्गत व्यक्तित्व-चित्रण को पूर्ण करने का प्रयास भी सम्भवतः इसी व्यक्ति-वैचित्र्यवाद द्वारा प्रेरित होकर किया गया है।

इस प्रकार भारतीय और पाश्चात्य, दोनों ही रचना-प्रणालियों के अनुसार स्कन्दगुप्त नाटक प्रसाद जी की एक महान् सफलता है।

"नाटक—सृष्टि का सत्य स्वप्न, मानवता का मानचित्र तथा देश का दर्पण है।" प्रस्तुत नाटक इस दृष्टि से सर्वथा पूर्ण और सफल है।

खण्ड २

शब्दार्थ और व्याख्या
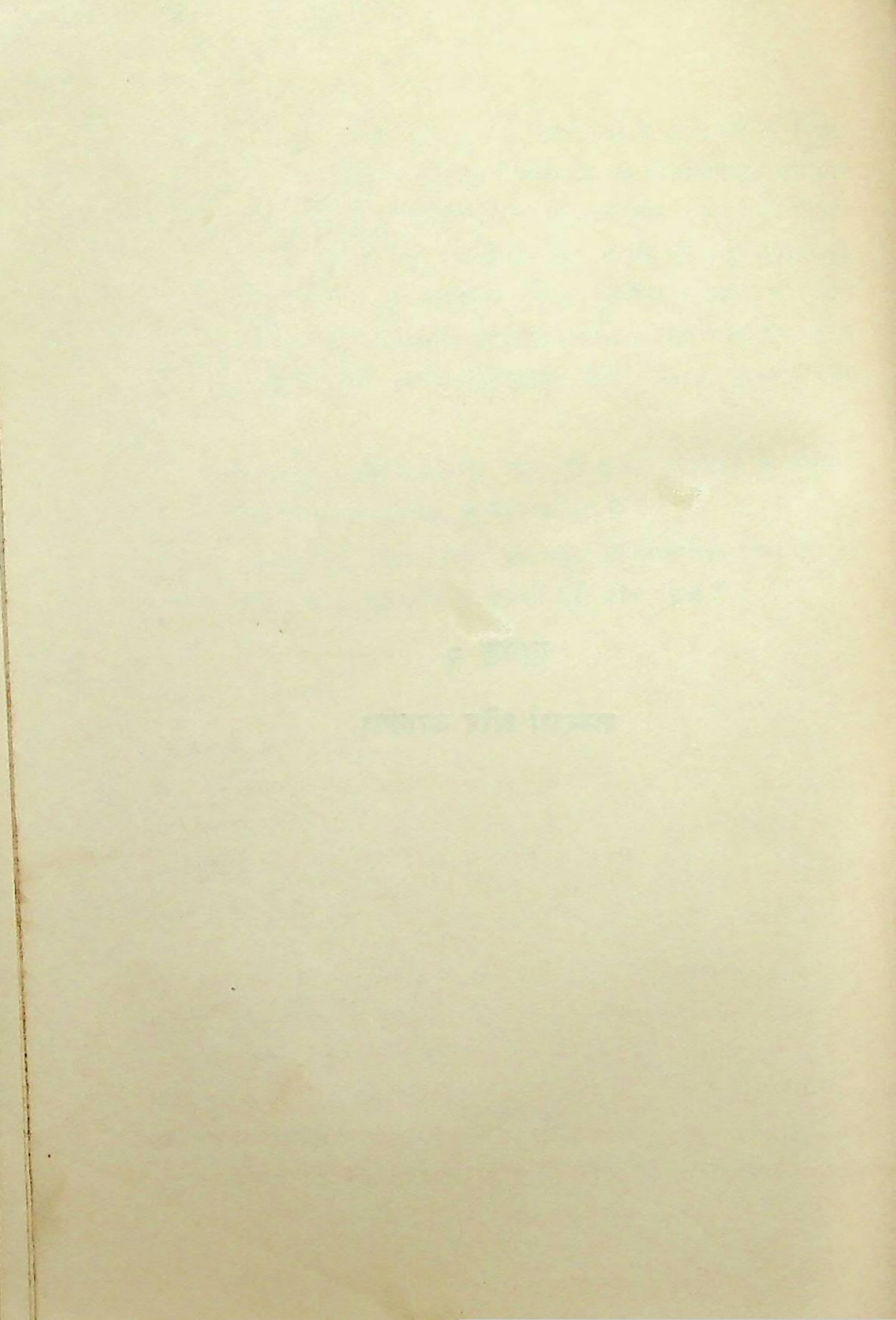
शब्दार्थ और व्याख्या

प्रथम अंक

(१)

शब्दार्थ—उज्जयिनी=एक-शहर, आधुनिक उज्जैन नगर। स्कंधावार=छावनी। अधिकार-सुख=दूसरों को अपने वश में रखने से मिलने वाला आनन्द, हुकूमत का सुख। मादक=मस्त बनाने वाला। सारहीन=सार रहित, थोथा, झूठा। नियामक=नियम बनाने वाला, नियन्त्रण करने वाला। स्पृहा=आकांक्षा, अभिलाषा, इच्छा। परिचारक=नौकर-चाकर। लोलुप=लोभी, लालची। सैनिक=सिपाही।

अधिकार सुख........ ....एक सैनिक हैं।

संदर्भ—यह स्कन्दगुप्त की स्वयं की उक्ति है। स्कन्दगुप्त मगध का भावी शासक है। वह अपने राज्य की दुर्दशा देख रहा है। उसकी विमाता अनन्त-देवी और सौतेले भाई पुरगुप्त ने अधिकार प्राप्त करने की धुन में बहुत-सी व्यर्थ की बातें कीं—सम्राट कुमारगुप्त की हत्या तक की। इन्हीं सब बातों की ओर यहाँ संकेत है।

व्याख्या—स्कन्दगुप्त कहता है कि वस्तुओं के स्वामी और व्यक्तियों के शासक बनकर व्यक्ति को जो सुख प्राप्त होता है, वह वस्तुतः शराब के नशे की तरह है। वह मनुष्य को बेसुध और मदहोश बना देता है। अधिकार प्राप्त करके मनुष्य अपने आप को न मालूम क्या समझने लगता है? परन्तु जिस प्रकार नशा उतरने पर व्यक्ति एक प्रकार की थकान और उदासी का अनुभव करता है, उसी प्रकार सत्ता समाप्त हो जाने पर अथवा गम्भीरतापूर्वक चिन्तन

करने पर व्यक्ति को विदित होता है कि सत्ता के द्वारा प्राप्त होने वाला सुख अस्थायी था, वह उत्तेजना मात्र था, उसके द्वारा व्यक्तित्व-विकास में किसी प्रकार की सहायता प्राप्त नहीं हुई। मनुष्य सोचता है कि अधिकार प्राप्त करके वह बहुत बड़ा बन जायगा तथा उसके इशारे पर संसार के सब काम होने लगेंगे।

अपने शब्द को कानून (नियम) बनाने की महत्त्वाकांक्षा मनुष्य से न मालूम क्या-क्या कराती है। वह झूठे-सच्चे, भले-बुरे तमाम व्यर्थ के काम करने को तैयार हो जाता है, परन्तु इन सबका मूल्य उत्सवों में काम करने वाले नौकर-चाकरों अथवा युद्ध में काम आने वाली ढाल से किसी भी प्रकार अधिक नहीं है। जिस प्रकार प्रत्येक काम के लिये नौकर-चाकरों को मरना-पिसना पड़ता है, प्रत्येक बेगार झेलनी पड़ती है अथवा युद्ध में ढाल को ही भाले-बर्छी, तीर-तलवार आदि प्रत्येक हथियार के वार सहने पड़ते हैं, उसी प्रकार अधिकार पाने से लोभी व्यक्ति को प्रत्येक काम में आगे रहकर भली-बुरी सभी बातें करनी पड़ती हैं। राज्य की भली-बुरी सब बातें उसी के सिर मढ़ी जाती हैं तथा चाकरों अथवा ढाल की भाँति वह कभी भी एक स्थान पर आराम से नहीं टिक पाता। प्रत्येक काम में आगे रहकर उसे हर समय परेशानी उठानी पड़ती है। उदासीनता के विवेचन की ओर से मुँह फेरकर स्कन्दगुप्त एकदम प्रसङ्ग बदलते हुए कहता है—उँह, इस सबसे क्या ? हमें अपने काम से काम ! हमें तो राज्य के एक छोटे-से सिपाही के रूप में अपने कर्त्तव्य का पालन करना है।

विशेष—

(i) स्कन्दगुप्त का त्यागशील व्यक्तित्व हमारे सम्मुख उपस्थिति हो जाता है।

(ii) प्रारम्भिक वाक्यांशों में कथा-वस्तु का निर्देश नाटककार की सफलता का द्योतक है। यहाँ दो बातों का संकेत मिल जाता है—(क) स्कन्दगुप्त स्पृहापूर्ण जीवन के प्रति उदासीन है तथा (ख) नाटक का विकास अन्तर्द्वन्द्व सापेक्ष है। विरक्त होने पर भी स्कन्दगुप्त कर्त्तव्य के प्रति निष्ठावान रहता है।

(iii) आगे चलकर स्कन्दगुप्त के चरित्र से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि उसकी विरक्ति-भावना के मूल में राजत्व की मादकता और निस्सारता के प्रति सजगता थी ।

(iv) प्रसाद का चिन्तनशील एवं दार्शनिक व्यक्तित्व झाँकता हुआ दिखाई देता है ।

अभिवादन=आदरपूर्वक प्रणाम । प्रतिनिधि=नुमायन्दा, प्रतिरूप (Representative) । गरुड़ध्वज=गरुड़ के चिन्ह वाला झण्डा, मगध राज्य की पताका । संचालन=चलाना, सेनापतित्व । स्तन्य लज्जित न हो=माता का दूध लज्जित न हो । लोल=चंचल । लहरियाँ=लहरें । क्षिप्रा=मालवा की एक नदी, उज्जैन नगर इसी के किनारे बसा हुआ है । साधारण बोलचाल में इसे छिप्रा या छपरा नदी कहते हैं ।

आपकी वीरता··· ···· ····लिखी जाती है ।

व्याख्या—आपकी वीरता स्वयं सिद्ध है । आपके पराक्रम के ही कारण मगध के साम्राज्य की सीमा क्षिप्रा तथा सिन्धु नदियों तक पहुँच सकी है । इन नदियों की लहरें आपकी वीरता की साक्षी हैं अर्थात् उन्होंने अपने तट पर होने वाले युद्धों में आपकी वीरता को देखा है ।

विशेष—लाक्षणिक शैली है ।

शब्दार्थ—उदासीनता=विमुखता, विरक्त । महाबलाधिकृत=प्रधान सेनापति । स्वर्ग को प्रस्थान किया=मर गये । समर=युद्ध, लड़ाई । विजेता=जीतने वाले । प्रौढ़=अवस्था को प्राप्त, अधेड़ । विलास=विलासिता, ऐशो-आराम, भोग-विलास । भार वहन करना=बोझा उठाना, जिम्मेदारी लेना । त्रस्त=भयभीत, दुःखी । आतंक=भय । प्रकृति=प्रजा । आश्वासन=धैर्य, ढाढ़स । भावी=होने वाले । उत्तरदायित्व=जिम्मेदारी, कर्त्तव्य । प्रकृतिस्थ=प्रकृति में स्थित होना, अपने आपे में आना, सावधान होकर बात करना । परम भट्टारक=आदरसूचक शब्द, परम पूजनीय । भट्ट=योद्धा । अर्क=सूर्य अर्थात् सूर्य के समान तेजस्वी योद्धा ।

अश्वमेध पराक्रम=अश्वमेध यज्ञ को सफलतापूर्वक सम्पन्न करके अपने पराक्रम का यश स्थापित करने वाले ।

विशेष—अश्वमेध यज्ञ—इस यज्ञ के पश्चात् एक घोड़ा छोड़ा जाता है। इसके पीछे-पीछे राजा की सेना होती है । जिस-जिस स्थान में होकर यह घोड़ा निकल जाता है, वे स्थान उस यज्ञ करने वाले राजा के अधीन समझे जाते हैं। अधीनता स्वीकार करने से विरोध होता है। जो राजा अधीनता स्वीकार नहीं करना चाहता, वह इस घोड़े को रोक कर अश्वमेध यज्ञ करने वाले राजा को चुनौती देता है। राजा की सेना तो घोड़े के साथ होती ही है । बस, युद्ध द्वारा जय-पराजय का निर्णय होता है ।

महेन्द्रादित्य=एक उपाधि । महेन्द्र तथा आदित्य के समान तेजवान्, महेन्द्र का अर्थ है—इन्द्र, विष्णु, तथा आदित्य का अर्थ है—सूर्य तथा इन्द्र । इसका अर्थ हुआ—सूर्य के समान तेजवान् तथा इन्द्र के समान समस्त राजाओं में श्रेष्ठ । प्रकृतिस्थ=सावधान, शान्तचित्त ।

सुपालित=जिसका पालन भली प्रकार से किया गया है, अच्छे शासन में रहने वाली प्रजा ही सुपालित होगी ।

राष्ट्रनीति=राजनीति, शासन-व्यवस्था । दार्शनिकता का विषय=तर्क-वितर्क एवं सोच-विचार का विषय । प्रत्यक्षवाद=जो बात स्पष्ट है इसके अनुकूल व्यवहार करने की बात । उत्तरोत्तर वृद्धि=क्रमागत उन्नति, दिनों-दिन बढ़ती । अनायास=अचानक, यों ही, बिना प्रयास के । दायित्व=कर्त्तव्य, जिम्मेदारी ।

राष्ट्रनीति ······ ···· ·······**लगे हैं ।**

संदर्भ—स्कन्दगुप्त के प्रति मगध के महानायक पर्णदत्त का कथन है । वह स्कन्दगुप्त को आदर्शलोक से यथार्थ की भूमि पर लाना चाहता है ।

व्याख्या—शासन-व्यवस्था में तर्क-वितर्क और हवाई महल बनाने से काम नहीं चलता, वहाँ दो और दो=चार ही करने व कहने पड़ते हैं । राज्य प्रबन्ध करते समय आदर्श के स्थान पर विशुद्ध व्यावहारिकता की शरण लेनी पड़ती है। शासन-व्यवस्था में प्रत्येक समस्या को व्यावहारिक दृष्टि से—राष्ट्र-हित की दृष्टि से हल करना होता है, इसलिए वह कठिन कार्य है। गुप्त साम्राज्य की सीमाएँ

भी बढ़ गई हैं और उसके साथ उसके शासकों का उत्तरदायित्व भी बढ़ गया है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उन जिम्मेदारियों को उठाने के लिए कोई तैयार नहीं है, राज्य वंश अपने कर्त्तव्यों की ओर से उदासीन-सा हो गया है। गुप्तकुल के शासक सम्भवतः यह मान बैठे हैं कि यह राज्य, वैभव इत्यादि उन्हें यों ही मिल गये हैं तथा इनके द्वारा मिलने वाले अधिकारों और सुखों को भोगना उनका जन्म-सिद्ध अधिकार है। उन्हें इस बात का ध्यान ही नहीं है कि राज्य को इतना विस्तृत करने में कितना कठोर परिश्रम और प्रयत्न किया गया था और उन्हें इस राज्य की रक्षा भी करनी है।

शब्दार्थ—व्यंग्य=कटाक्ष, आक्षेपपूर्ण चुभते हुए वचन कहना। प्रमाण= सबूत। स्तम्भित=स्थिर, शान्त। नील=नीली। कादम्बिनी=मेघमाला। आवरण=पर्दा। महा-शून्य में=ऊपर आकाश में।

विशेष—इसे अंग्रेजी में Lull before the storm का स्पष्टीकरण समझना चाहिए। जिस प्रकार हवा का एकदम रुक जाना आँधी आने का द्योतक होता है, उसी प्रकार राज्य की यह शान्ति किसी बड़े उपद्रव को जन्म देने वाली है, इस शान्ति को एक धोखे की टट्टी ही समझना चाहिए। इस प्रकार पर्णदत्त स्कन्दगुप्त को भावी संकटों के प्रति सावधान करता है।

पुष्यमित्रों—पुष्य मित्र के वंशज, मौर्यों के बाद शुंगराज-वंश का स्थापक राजा (मगध)। इतिश्री=समाप्ति। म्लेच्छ=वर्णाश्रम से रहित जातियाँ, इतर जाति के लोग। चर=दूत। कपिशा=एक नदी। पदाक्रान्त=पद आक्रान्त, पैरों तले रौंद डाला, दबा लिया, अधिकार कर लिया। गले पड़ी वस्तु=व्यर्थ का भार। कहावत है 'गले पड़ी ढोलक बजाये सिद्ध'। प्रत्यक्ष=स्पष्ट। आयुष्मान=चिरंजीव, बड़ी उम्र हो तुम्हारी। अव्यवस्थित=बेतरतीब। उत्तराधिकार नियम=उत्तराधिकार प्राप्त होने के नियम, विरासत मिलने के नियम, किसी के मरने पर उसकी सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त होने के नियम। अनुमान=अन्दाज, अटकल।

यदि यह बात हो भी···   ····   ····न बना देना।

संदर्भ—पुरगुप्त छोटा पुत्र होने पर भी राज्यसत्ता प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा था। इसलिए पर्णदत्त ने संकेत किया था कि उत्तराधिकार के नियम

अव्यवस्थित हैं। पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित ने पुरगुप्त वाली बात कह दी। इस पर पर्णदत्त ने उसे डाँटा।

व्याख्या—पर्णदत्त कहता है कि इस तरह की बातें सत्य होने पर भी अपने मुख से न निकालनी चाहिए। इस प्रकार की बात करना लड़कपन है और वह कालांतर में भयंकर सिद्ध हो सकता है। इस प्रकार की बातों का स्कन्दगुप्त पर बुरा प्रभाव पड़ेगा, साथ ही स्वयं तुम्हारे ऊपर भी राज्य की ओर से विपत्ति आ सकती है, क्योंकि पुरगुप्त बदला लेने की चेष्टा करेगा। तुम्हारी यह बालसुलभ चंचलता भयङ्कर रूप (विष-वृक्ष का रूप) धारण कर सकती है, समझे नासमझ बालक।

शब्दार्थ—सङ्कलित करना=इकट्ठी करना। साभिवाहन=अभिवादन सहित, आदरपूर्वक। मालव=मालवा। नव आगत=नयी आने वाली। म्लेच्छ वाहिनी=म्लेच्छों की सेना। संरक्षक=रक्षा करने वाला। बाध्य=बँधे हुए, मजबूर। शरणागत की रक्षा=शरण में आये हुए की रक्षा। गति रोकना=चाल रोकना, आगे बढ़ना रोकना। सन्नद्ध=तैयार। निर्भय निद्रा का सुख लो=वेफिक्र होकर सोओ। उपयुक्त=ठीक, योग्य। अनुमति=आज्ञा। आसन्न=प्रस्तुत, मौजूदा, सिर पर आई हुई। मंगल=कुशल, अच्छा, शुभ।

(२)

शब्दार्थ—परिषद्=सभासद्। दक्षिणापथ=विन्ध्याचल पहाड़ के दक्षिण का वह भाग जहाँ से दक्षिण भारत के लिए रास्ते जाते हैं। यहाँ पर अभिप्राय लंका से है। घर के भेदी विभीषण ने रावण की मृत्यु का भेद राम को बताया तथा सुग्रीव ने अपने अनुचरों को भेजकर सीता का पता लगवाया। इन्हीं दो के कारण लङ्का और लङ्कापति का सर्वनाश हुआ था। ग्रीवा=गर्दन। मन्त्रित्व=सलाह, परामर्श। अनुकूल और उपयोगी=ठीक, उचित। मंत्रणा=सलाह।

विशेष—इस स्थल का वार्त्तालाप विनोदात्मक है। गम्भीरता जाती रही है। व्यंग्य, हास्य और आक्षेपों के साथ मीठी चुटकियाँ ली जा रही हैं।

एक स्त्री को मंत्री आप भी बना लें...............।

संदर्भ—कुमारगुप्त अपनी छोटी रानी अनन्तदेवी के हाथों की कठपुतली बना हुआ था। उसी की ओर कटाक्ष है। स्त्री के वशीभूत होकर सब कुछ उसकी आज्ञानुसार करना।

शब्दार्थ—कल्याणकारियों=मंगलप्रद। दमन करना=दबाना। अन्तर्गत=अन्दर, अधीन। जगद्विजेता=जगत् का विजेता अर्थात् दुनिया को जीतने वाला। परम्परा=परिपाटी। मनु=मनुस्मृति के रचयिता ऋषि का नाम। व्यवस्था=प्रबन्ध। विवरण=ब्यौरा। धर्मावतार=धर्म के अवतार अर्थात् धर्म के साक्षात् स्वरूप।

स्वत्त्व=अधिकार। अक्षय=जो कभी नष्ट न हो। तूणीर=जिस तरकश के बाण कभी भी समाप्त न होते हों। कवच=युद्ध के समय पहना जाने वाला लोहे का बना कोटनुमा पहिनावा, जिरह-बख्तर, इसका अर्थ आवरण भी होता है। मंजूषा=पिटारी, सन्दूक, डिब्बा, पिंजड़ा, यहाँ पेट की ओर संकेत है। पद्मासन=दोनों पैरों को एक-दूसरे के ऊपर निकालकर आमने-सामने की जाँघों पर रखकर सीधा बैठना। ससैन्य=सेना सहित। सहायतार्थ प्रस्तुत=सहायता के लिये तैयार। अभियान=आक्रमण।

विग्रहिक=लड़ाई-झगड़ा करने वाला। वंश-परम्परागत=पुश्तैनी, पुरखों से चली आई। गतिविधि=रंग-ढंग। रणदक्ष=युद्ध में कुशल। अथच=और। स्मरणीय=याद रखने योग्य। आयोजन=विचार, तैयारी। स्वच्छन्दता पूर्वक=स्वतन्त्रतापूर्वक, आराम, बेफिक्री के साथ। पाकशाला=रसोईघर। सर्वस्वांत=सब कुछ समाप्त।

चक्रपाणि=जिनके हाथ में चक्र है (पाणि=हाथ) अर्थात् विष्णु भगवान्, श्रीकृष्ण के लिये भी प्रयुक्त होता है। पारसीक=फारस देश की। नर्तकियाँ=नाचने वाली। अपानक=मदिरा, शराब। भेड़िये=भयानक विद्रोही, जो न मालूम कब अचानक आक्रमण कर दें। अवकाश=फुरसत। अबोध=मूर्ख। हँसोड़=मसखरा।

कौटिल्य=चाणक्य का उपनाम, शब्दार्थ—कुटिलता, कपट का साक्षात् स्वरूप। अनर्थशास्त्र=बुराई का शास्त्र। कौटिल्य का लिखा हुआ 'अर्थशास्त्र' नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है।

अतीत=बीती हुई, पुरानी। स्मृति=याद। बीनतार=वीणा के तार। कोकिल=कोयल। करुण=दुखभरी। रागिनी=राग। भैरवी=एक राग-विशेष जो प्रात: गाया जाता है। विगत होना=बीत जाना। निशा=रात्रि। माधवी=सुगन्धित पुष्पों की एक लता। निशा-माधवी=रात की रानी की लता, रजनीगंधा। शारदी=शरद ऋतु की। कैरवी=चाँदनी। मघा=एक नक्षत्र। फूहार=वर्षा की हलकी बौछार। नैम=नियम, व्रत। मौन के क्षेम=चुप रहने की कुशलता। कुचला=बुरी आदत।

न छेड़ना···· ···· **····कोकिल।**

भावार्थ—यह प्रेम-सम्बन्धी गीत है। कोई विरही कोयल को सम्बोधित कर कह रहा है—हे कोयल! वीणा के तार सदृश मेरे हृदय में बसी हुई पुरानी याद को मत छेड़। नहीं तो रागिनी के समान मेरे हृदय की दु:खद स्मृतियाँ सजग हो उठेंगी, अर्थात् तेरी कूक सुनकर मेरा हृदय रो पड़ेगा। अतएव हे कोकिल! अपनी मधुर वाणी सुनाकर मेरे हृदय में पुरानी याद हरी न कर। मेरा हृदय नष्ट होकर मिट्टी में मिल चुका है तथा मैं उनकी स्मृति स्वरूप उनके चरणों को अपने हृदय में धारण किये हुए हूँ। समस्त खिले हुए फूल गिर चुके हैं और बसन्त ऋतु बीत गई हैं; अर्थात् समस्त ऐश्वर्य और सुख नष्ट हो चुके हैं तथा वियोगावस्था के कारण मैं मलिन हूँ।

हे कोकिल! मैंने तेरी प्रात:कालीन आनन्ददायिनी मधुर वाणी बहुत बार सुनी है। रजनीगन्धा की बेल अब मुरझा गई है, शरद की चाँदनी फीकी पड़ गई है तथा वर्षा की फुहार पड़ना समाप्त हो चुकी है अर्थात् मेरे समस्त सुख और आनन्द के साज अब नष्ट हो चुके हैं।

हे पगली कोकिल! तू मधुर प्रेम को मत ढूँढ़। मैं तो प्रेम का फल भोगती रही हूँ। किसी अन्य के हृदय में प्रेम उत्पन्न करके उसके नियम को न तोड़ तथा किसी विरही को सताकर उसके मौनव्रत को भङ्ग न कर। प्रेम की भाषा मौन है। तेरी कूक सुनकर अनायास ही मुँह से हूक (आह) निकल जायगी। तू अपनी यह बुरी आदत छोड़।

विशेष—प्रसाद का छायावादी कवि हृदय स्पष्टत: झाँक रहा है।

शब्दार्थ—कविता करना अनन्त पुण्य का फल=मनुष्य कवि बड़े भाग्य से बनता है। अभावों=कमियों, न्यूनताओं। विडम्बना=शोक की बात, व्यर्थ, अपमान। लक्ष्मी के लाल=धनवान् व्यक्ति। भ्रू-भङ्ग=कटाक्ष, आँख का इशारा। क्षोभ=दुःख। प्रकाण्ड=बड़े। परास्त=हारना। संचित=इकट्ठा। अट्टहास=बड़े जोरों से कहकहा लगाकर हँसना। भाजन=पात्र। प्रशंसा का भाजन=तारीफ के योग्य।

कविता करना··· ···· ····परन्तु क्या हुआ ?

संदर्भ—यह मातृगुप्त (कालिदास का स्वगत कथन है। गुणवान को लक्ष्मी की कृपा से प्राय: वंचित ही रहना पड़ता है। कवि होकर लोकेष्णा की तृप्ति तो हुई, परन्तु वित्तेष्णा अतृप्त बनी रही और इस कारण जीवन अभावमय ही बना रहा। यही उसके मन का अन्तर्द्वन्द है।

भावार्थ—मैं समझता था कि कवि होना बड़ी चीज है, कविता बड़े पुण्य का फल है। इसी कारण बड़ी उत्सुकता के साथ मैंने कविता करना आरम्भ किया, परन्तु कवि-जीवन व्यतीत करने पर मुझे निराश ही होना पड़ा, पुण्य फल जैसी कोई बात नहीं दिखाई दी। मैं अनेक पदार्थों को प्राप्त न कर सका। उनकी अप्राप्ति पर मैं दुःखी न हुआ; कवि की भाषा में इष्ट की अप्राप्ति को असन्तोष बनाकर मैंने अपना मन समझाया। मैंने यही समझा कि अभाव नाम की वस्तु कुछ नहीं होती है—वह केवल मन का असंतोष मात्र है। परन्तु वास्तव में वह 'अंगूर खट्टे' वाली बात थी और एक प्रकार से मैं बराबर अपने-आप को धोखा देता रहा। परन्तु हाय री दुनिया ! कैसे दुःख और अपमान की बात है ! धनवानों ने मेरी उपेक्षा की, मेरी ओर तिरस्कार भाव से देखा और इस प्रकार मुझे केवल अपमान और दुःख ही मिला। कवि आदर्श लोक में विचरण करता और हवाई महलों में रहने का आनन्द लेता है, कुछ लोग उसकी प्रशंसा भी करते हैं। परन्तु इससे क्या ? उसका जीवन, उसकी जीविका अन्य लोगों की दया-दक्षिणा पर निर्भर है, क्योंकि उसे किसी-न-किसी धनवान् व्यक्ति का आश्रय लेना ही पड़ता है। मेरे हृदय रूपी खजाने में एक ओर तो उदार विचार रूपी अमूल्य रत्न भरे पड़े हैं और दूसरी ओर निर्धनता का अट्टहास तथा निरादर और कटाक्षपूर्ण व्यंग्यों का ढेर है। इन दो प्रतिकूल

बातों का समन्वय किस प्रकार हो ? गरीबी और बेइज्जती के सामने श्रेष्ठ विचार कब तक ठहर सकते हैं ? मैंने मनोरथ जैसे दिग्गज बौद्ध पण्डित को शास्त्रार्थ में हराकर वाहवाही तो लूटी परन्तु वास्तव में मुझे मिला ही क्या था ? मेरे प्रति धनवानों को कटाक्षपूर्ण दृष्टि तथा निर्धनता के अभिशाप ज्यों-के-त्यों बने रहे ।

विशेष—इस कथन में साहित्यकारों को दयनीय दशा की ओर संकेत है—संकेत ही क्यों, तीखा व्यंग्य है । साहित्यकार अपने श्रेष्ठतम विचारों को समाज को देता है, परन्तु समाज उसको अपने श्रेष्ठतम उपहार नहीं देता है । समाज मानो कवि के उच्च विचारों को सुनकर और उसको विषम आर्थिक स्थिति देखकर इस प्रकार का मौन व्यंग्य करता है कि "पढ़े फारसी बेचें तेल । यह देखो कुदरत का खेल ।" नाटककार अपने अभावमय जीवन के प्रति आक्रोश व्यक्त करता हुआ मानो यह कहना चाहता है—'गुणवंता मत हूजिओ, हूजो धनवंता । धनवंता के द्वार पर खड़े गुनवंता ।" अथवा 'सर्वेगुणाः कांचनमाश्रयन्ते ।"

कुलपति=कुल का स्वामी या इष्टदेवता । अध्यापन=पढ़ाना । वही=कविता । आहार=भोजन । वीणामय=शब्दयुक्त । स्वर्गीय=इस लोक से परे के । संगीत=गीत गाना, नृत्य, वाद्य तथा गीत—तीनों मिलकर संगीत बनते हैं । आलोक=प्रकाश । सत्=सत्य । असत्=मिथ्या । जड़=वृक्षादि । चेतन=मनुष्यादि जीवधारी । बाह्यजगत=संसार । अन्तर्जगत=हृदय ।

विशेष—प्रसाद जी द्वारा दी गई कविता की यह परिभाषा आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल द्वारा दी गई कविता को परिभाषा से बहुत कुछ मिलती है । शुक्लजी ने कविता की परिभाषा इस प्रकार दी है—' कविता वह साधन है, जिसके द्वारा हमारे शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और उसका निर्वाह होता है ।"

हाथ का मुख से ....है ।

संदर्भ—कवि मातृगुप्त को मुद्गल समझाता है कि उसे कल्पना लोक में ही विचरण न करते रहना चाहिए; यथार्थ की भूमि पर भी रहना चाहिए ।

व्याख्या—मुद्गल का कहना है कि हाथ चलाना तभी सार्थक है, जब वह

मुँह तक जाय अथवा जीविका उपार्जन करे, क्योंकि पेट भोजन से भरता है, कोरी बातें अथवा कविता से नहीं। जीवन एवं प्रकृति के सौंदर्य के दर्शन मात्र से आँखें कुछ समय के लिए तृप्त भले ही हो जायँ, परन्तु उनको सुख तभी मिलता है, जब हम चैन की नींद सोते हैं और यह तभी सम्भव है जब हमारा जीवन भावपूर्ण हो अर्थात् अभावमय न हो।

विशेष—लाक्षणिक शैली में बताया गया है कि यथार्थ से विमुख आदर्श सर्वथा निष्प्राण है। भूखे रहकर अच्छी कविता भी नहीं होती है और जीवन एवं जगत के सौंदर्य का दर्शन भी नहीं किया जा सकता है, क्योंकि भूखे पेट नींद न आने के कारण आँखें पथरा जाती हैं।

शब्दार्थ—आवरण चढ़ाना=पर्दा डालना, छिपाना। वाग्जाल=वाक्-जाल, तरह-तरह की बातों का जाल। फँस=फँसाने की वस्तु, फंदा, पशु-पक्षी फँसाने का फन्दा। कृत्रिमता=बनावट। द्विपद=दो पैरों वाला अर्थात् मनुष्य। स्वप्नमय जीवन छोड़कर विचारपूर्ण वास्तविक स्थिति में आओ=कल्पना लोक की बातें छोड़कर इस व्यवहार जगत् में आओ और प्रत्येक समस्या का व्यावहारिक ढंग से हल निकालो।

वृत्ति=वेतन, जीविका, निर्वाह का साधन। राजकृपा=राजा की कृपा। धारणा=निश्चित विचार, समझ। आतङ्क=भय। म्लेच्छाक्रान्त=म्लेच्छ +आक्रांत, म्येच्छों से आक्रांत (दबा हुआ)। परमाणु=छोटे-से-छोटे भाग। पाथेय=राह-खर्च, मार्ग का भोजन, सम्बल, कलेवा। संसृति=संसार, सृष्टि। सुन्दरतम=सबसे अधिक सुन्दर। तरल=चंचल। निश्वास=श्वास। मुकुल=देह। परिरम्भ=आलिंगन। सजग=जगा हुआ। सुप्त=सोया हुआ। मापना=नापना। अलि=भौंरा। नखक्षत=नाखूनों के निशान।

मुक्ता=मोती। ग्रथित=गूँथा हुआ। विभ्रम=भ्रम। क्षितिज=पृथ्वी और आकाश के मिलन का स्थान। जलनिधि=समुद्र। मधु=शहद, मीठा पानी, मदिरा, मकरन्द।

संसृति··· ···· ··· **उठ जाना।**

भावार्थ—अपनी प्रिया मालिनी को स्मरण करके मातृगुप्त कहता है, हे प्रिये! अपने सम्मिलन के समय को, जो सृष्टि का सर्वोत्तम अवसर था, यों ही

सरलता से मत भूल जाना। वे अल्हड़पन की बातें थीं, यह कहकर टाल न देना। तुम्हारी चंचल हँसी में मस्ती की लहरें थीं। काम-क्रीड़ा के समय छोड़े गये श्वासों के आनन्द में आकर तुम मुझसे सट जाती थीं और मुँह ऊपर को उठाकर मेरे होंठ चूम लेती थीं। मैं भी उस समय आनन्दातिरेक के कारण सी-सी करके काँप उठता था। तुम मुझे अपनी बाँहों में उसी प्रकार जकड़ लेती थीं, जिस प्रकार मधु के लोभी भौंरे को फूल बंदी बना लेता है। इसी समय हम दोनों का प्रेम-प्याला छलक उठता था, सोया हुआ सौंदर्य जाग उठता था। उस समय उठने वाली लहरें मानो हमारे सुख की सीमा नापने लगती थीं। हम दोनों की आँखें एक-दूसरे से मिल जाती थीं। उस पूर्ण आनन्द की प्राप्ति में मेरे नाखूनों से तुम्हारी छाती छिल जाती थी (काम-क्रीड़ा में स्त्री में कामभावना जाग्रत करने के लिए पुरुष उसकी छाती में नख चुभाया करता है)। तुम्हारी छाती पर पड़े हुए मोती के हार के साथ यह नखक्षत ऐसा मिल जाता था जैसे रात्रि का टेढ़ा चन्द्रमा तारों के साथ सुशोभित होता है। अब जीवन के किसी अन्य तट पर (दुःखमय) खड़ा होकर मैं यह सब दृश्य देख-देखकर आश्चर्य-चकित हो हँसा करता हूँ। तुम अपनी कठोर-क्रीड़ा के भ्रम में तथा मेरी बातों के बहकावे में आकर मिलने वाले सुख की प्राप्ति के लिए एक बार भूलकर ही फिर आ जाना। समझ लेना कि तुम्हें पूर्व परिचित किसी पथिक के देखने से प्राप्त होने वाले पूर्व सुख की प्राप्ति होगी। हम दोनों पृथ्वी और आकाश की भाँति मिलेंगे और हमारे मिलन-स्थान पर आनन्द-सागर में मधुर आनन्द की लहरें उठेंगी—(तुम मुझसे मिलकर आनन्द-सागर में लहरें उठा जाना)।

शब्दार्थ—भावना=विचार। मय=तल्लीन, डूबा हुआ। सौरभ=सुगन्ध पराग=पुष्प-रज। अतीन्द्रिय=इन्द्रियों से परे, इस संसार से ऊपर, अगोचर, अलौकिक।

✓ **अमृत के सरोवर····** ···· **टूट गया।**

संदर्भ—ये भाव मातृगुप्त के विषादमय विचार हैं। सुख का काल्पनिक महल नष्ट हो जाने पर वह भाव-मग्न होकर कह रहा है।

व्याख्या—मातृगुप्त अपने आप कहता है कि एक तालाब था। उसमें जल

के स्थान पर अमृत भरा हुआ था, जिसके भीतर स्वर्ण का एक कमल खिल रहा था। उसके ऊपर भौंरा अपनी मधुर गुन-गुन द्वारा सुरीली वंशी बजा रहा था (मेरा मन रूपी भौंरा उस कमल से प्राप्त होने वाले नाना प्रकार के सुखों की कामना किया करता था)। चारों ओर सुगन्ध फैल रही थी तथा फूलों की धूल (पराग) उड़ रही थी। रात के समय जब चाँदनी खिलती थी, तब कमलकोष बन्द हो जाता था, मानों चाँदनी की चादर ओढ़कर सो गया हो। प्रातःकाल सूर्य की किरणें फिर उसके ऊपर क्रीड़ा कर-कर उसे चूमती थीं, इस प्रकार चारों ओर आनन्द ही आनन्द था। मैंने ऐसे ही अलौकिक आनन्द-संसार की कल्पना की थी। मैंने उसे प्राप्त करने के लिए हाथ बढ़ाया परन्तु पा न सका। मेरा आनन्द-जगत् एक स्वप्न था और मेरी कल्पना निद्रा। निद्रा भङ्ग होते ही सब-कुछ नष्ट हो गया।

सिंहल=सिंहल द्वीप, वर्तमान लङ्का।

नोट—अग्नियाँ तीन प्रकार की होती हैं—जठराग्नि—यह पेट में लगती है, मुख इसका दूसरा नाम है; दावाग्नि—यह वनों में लगती है; तथा बड़वाग्नि—यह पानी में लगती है।

अनन्त=अपार, जिसका कोई अन्त न हो, निस्सीम। जलराशि=जल का खजाना, अर्थात् समुद्र। रत्नाकर=रत्न-आकर, रत्नों का भण्डार, अर्थात् समुद्र (क्योंकि समुद्र से मोती, मूँगे आदि अनेक रत्न निकाले जाते हैं)।

प्रभा=कान्ति, चमक। आलोकित=दीप्तिमान, प्रकाशित। पोखराज=एक हलके-पीले रङ्ग का मूल्यवान् रत्न या पत्थर, साधारण बोलचाल में इसे पुखराज कहते हैं। नवनीत=मक्खन। नीड़=घोंसला।

उस··· ···· ···निवास करने दो।

संदर्भ—मातृगुप्त काश्मीर का रहने वाला है। वह अपनी प्रेयसी की कल्पना कर रहा है।

व्याख्या—हिमालय पर्वत के ऊपर एक महल था, जो पुखराज जैसा सुन्दर था। प्रातःकालीन सूर्य की सुनहरी किरणों की कान्ति उसे अलौकिक दीप्ति प्रदान कर देती थी। मेरी पुतली उसमें से झाँककर नीचे बसे हुए समस्त

विश्व को देखा करती थी। वह मक्खन की भाँति स्निग्ध, कोमल, श्वेत, सुकुमार एवं शीतल थी। उसका निर्माण शीतलता द्वारा हुआ था, गर्मी उसे सहन न थी। सूर्य की सुनहरी किरणें प्रखर हो उठीं। दोपहरी आई, सूर्य का ताप बढ़ गया और वह महल पिघल गया। मक्खन-सी कोमल उस सुन्दरी का न मालूम क्या हुआ होगा ? भगवान् उसकी रक्षा करे। उसके सम्बन्ध में कल्पना करना भी मेरे लिए कठिन है। निस्सहाय होकर मैं इसलिए रोता रहता हूँ कि मेरे आँसुओं की शीतलता उसे गर्मी के कारण पिघल जाने से बचा ले। हे मित्र ! उसकी चर्चा मत करो। उस पुतली का मौन के घोंसले में ही रहने दो, अर्थात् उसके विषय में चर्चा न करना ही अच्छा है।

विशेष—(१) छायावादी शैली पर प्रकृति में प्रेयसी का दर्शन है।

(२) प्रातःकालीन सूर्य का अर्थ है—प्रारम्भिक जीवन, किशोरावस्था तथा सूर्य का ताप बढ़ने का अर्थ है—जीवन संग्राम के कठोर अनुभव, प्रौढ़ावस्था। ये लाक्षणिक प्रयोग कहलाते हैं।

इन्द्रजाल=मायाजाल, धोखा। इन्द्रजाली=जादूगर, ईश्वर।

यदि यह विश्व···· ···· ····मिले।

संदर्भ—मातृगुप्त का कहना है कि जीवन और जगत के प्रति अनुरक्त रहकर ही जीवन को सुखी बनाया जा सकता है।

व्याख्या—अगर संसार केवल धोखा ही है तो मेरे विचार से ईश्वर की इच्छा हो है कि हम इस धोखे में ही बने रहें। इस उद्देश्य की पूर्ति का सबसे बड़ा साधन मोह, सांसारिक पदार्थों के प्रति आकर्षण है। तब तो यह मोह सदैव ही बना रहना चाहिए। मोह के कारण ही अभिलाषाओं के भण्डार—इस हृदय की भी तुष्टि हो सकेगी।

विशेष—(i) विना मोह के माया नहीं होती, और इस प्रकार यदि मोह न हो तो ईश्वर की लीला ही समाप्त हो जाये। हृदय की अभिलाषाओं का कभी अन्त नहीं। माया-मोह में ही पड़कर वह दुनिया के काम करता रहता है। दार्शनिक इसी को कर्त्तापन का अभिमान कहते हैं—कर्त्ताहमिति मण्यते।'—(गीता) माया से लिप्त होकर ही जीव संसार में भ्रमण करता रहता है।

संसार यदि सत्य है, तो ठीक ही है। वह यदि मोह मात्र है, तब भी त्याज्य नहीं है, क्योंकि उसके प्रति मोह में भी मन को सुख की प्राप्ति होती है।

शब्दार्थ—वाणी=सरस्वती। सचेष्ट=कार्यशील। दैन्य=दीनता। प्रचण्ड=भयङ्कर। आतप=ताप, गर्मी, कठोरता।

मित्र····　　　　····　　　　····उज्ज्वल हैं।

भावार्थ—हे मित्र! तुम विद्वान् हो, तनिक कार्य में तत्पर हो जाओ, आने वाला समय तुम्हारे लिए सुखदायक बनेगा। तुम्हारी कल्पना की प्रशंसा स्वयं देवी सरस्वती को करनी पड़ेगी।

उसकी चिन्ता····　　　　····　　　　····जायगा।

संदर्भ—कुमारदास का कहना है कि मातृगुप्त अर्थ-उपार्जन पर दृष्टि रखकर काव्य-रचना करना सीखे। मातृगुप्त को यह स्वीकार नहीं। उसके लिए प्रेम ही सब कुछ है।

व्याख्या—भविष्य की मुझे चिन्ता नहीं। मुझे तो केवल प्रेम से सम्बन्ध है। इस गरीबी के जीवन की विषमताओं ने मुझे जला डाला है। प्रेम ही मेरा एकमात्र सहारा है। स्नेह-रूपी वृक्ष की शीतल छाया ही मेरी रक्षा कर सकती है। निर्धनता द्वारा संतप्त मेरे जीवन को स्नेह ही सरस सुहावना बना सकता है। वह मिल जाय, बस मैं कृतकृत्य हो जाऊँ। मुझे फिर और कुछ नहीं चाहिए।

शब्दार्थ—आजीवन=जन्म भर, मृत्यु पर्यन्त। भव्य=सुन्दर। स्वप्नों का देश भव्य भारत=जो किसी समय वैभव सम्पन्न था, जहाँ के लोग मनोरम स्वप्नों में डूबे रहते थे। क्षीण परिचय=थोड़े परिचय वाला, साधारण व्यक्ति। सहचर=साथ रहने वाला, मित्र। बाल सहचर=बालकपन का साथी। प्रख्यातकीर्ति=कीर्तिवान, यशस्वी। महाबोधि बिहार=बौद्धाश्रम। श्रमण भिक्षु=बौद्ध उपदेशक, संन्यासी। वैभव=ऐश्वर्य। पर्यटक=यात्री, भ्रमण करने वाला। गौतम=गौतम बुद्ध।

विशेष—कपिलवस्तु के राजा शुद्धोधन के पुत्र का नाम सिद्धार्थ था। वे संसार के दुःखों को देखकर विरक्त हो गये थे। कालान्तर में उन्हें ब्रह्म-ज्ञान की

प्राप्ति हुई और गौतम बुद्ध कहलाये। इन्हीं के अनुयायी शिष्य 'बौद्ध' अथवा बौद्ध भिक्षु कहलाये। इनके निवास-स्थान 'विहार' कहलाते हैं।

पद-रज=चरणों की धूल। दर्प=अभिमान, गर्व, अहंकार, उद्दंडता। उद्धत=धृष्ट, अक्खड़। तीसरे पहर का सूर्य=ढलता हुआ समय, यह लाक्षणिक प्रयोग है। अभ्युत्थान=उन्नति, ऐश्वर्य। परिवर्तन उपस्थित है=तीसरे पहर के सूर्य के समान गुप्त-साम्राज्य का दिवस रूपी वैभव अवनति की ओर ढल चला है। रात्रि रूपी पतन का समय समीप है। गतिशील=परिवर्तनशील, चलायमान। समष्टि=समूह। अभिव्यक्ति=प्रकट करना, सृष्टि, साक्षात्कार, प्रकाशन। कुन्जी=ताली, भेद। उत्प्रेक्षा=गति, उद्भावना, उछालना। जड़=जीवन रहित, चेतनता रहित। चेतन=चेतनायुक्त, जीता जागता। रहस्य=भेद। पुल्लिग=नर। स्त्रीलिंग=नारी।

✓ **सरल युवक···· ···· ····चेतन रहस्य है।**

संदर्भ—कुमारदास कहता है कि अब गुप्त-साम्राज्य के ह्रास का समय आ गया है और राज्य में व्यापक परिवर्तन होने की परिस्थिति उत्पन्न हो गई है। मातृगुप्त इस आश्चर्य एवं आशंका का भाव प्रकट करता है। कुमारदास परिवर्तन को विकास का आवश्यक लक्षण बताते हुए परिवर्तन की अनिवार्यता पर बल देता है और कहता है कि परिवर्तन के नाम पर चौंकने की आवश्यकता नहीं है। हमें परिवर्तन के प्रति आश्वस्त रहना चाहिए।

व्याख्या—मातृगुप्त को सम्बोधित करते हुए कुमारदास कहता है कि हे युवक! तुम सचमुच बहुत ही भोले हो! तुम परिवर्तन के नाम पर चौंकते हो? तुम जानते ही नहीं हो कि इस प्रवहमान जीवन का आधार ही परिवर्तन है। यदि पानी की बूँदें एक ही स्थान पर बनी रहें, तो जल की धारा क्यों कर बढ़े? धारा के चलने के लिए आवश्यक है कि स्थान विशेष पर जल-राशि बदलती रहे—यदि पानी की बूदें स्थान परिवर्तन न करें. एक स्थल विशेष पर प्रतिक्षण नई-नई बूँदें न आयें, तो प्रपात की स्थिति क्यों कर सम्भव हो, फव्वारे का अस्तित्व ही समाप्त हो जाय। परिवर्तन ही जीवन है और परिवर्तन के रुकने का नाम मृत्यु है, जिसे व्यापक रूप में महाप्रलय या सर्वनाश कहते हैं। परिवर्तन

के रुक जाने का अर्थ—स्थिरता अथवा गति का अभाव है। इसी को हम मृत्यु कहते हैं, इसी कारण यदि कहीं भी हमको क्रिया से रहित पूर्ण शान्ति दिखाई देती है, तो हम कह देते हैं कि यहाँ जड़ता या मृत्यु का साम्राज्य है।

प्रकृति में क्रियाशीलता किस प्रकार होती है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए धातुसेन कहता है कि चेतना और मूल-प्रकृति निरन्तर अपना कार्य करती रहती हैं। चेतना और मूल-प्रकृति का समन्वय ही इस दृश्यमान जगत का रहस्य है; अर्थात् चेतना (पुरुष) जीवनी शक्ति का नियमन करके जब मूल-प्रकृति (नारी) का संचालन करने लगती है, तब ऊर्जा या पदार्थ (नाना रूपात्मक जगत) की सृष्टि होती है। चेतना (पुरुष) में विकार उत्पन्न होता है। फलस्वरूप वह मूल-प्रकृति (नारी) के प्रति आकर्षित होता है। दोनों के संयोग से सृष्टि-रचना होती है। इस प्रकार जिस प्रकृति को हम जड़ समझते हैं, वह वस्तुतः चेतना-युक्त ठहरती है। बाहर से जड़ दिखाई देने वाली प्रकृति के भीतर चेतना का नाभिक निरन्तर गतिशील बना रहता है।

विशेष—सन् १६१० में परमाणु का विभाजन किया गया था और उसके कुछ ही समय पश्चात् परमाणु के मध्य में स्थित नाभिक (Nucleus) का पता चला था। उसके बाद ही यह सिद्धान्त निर्धारित हुआ कि विश्वब्रह्माण्ड में जड़ पदार्थ जैसी वस्तु कुछ नहीं है, सब कुछ चेतन उर्जा ही है। आगे चलकर इसी सिद्धान्त के आधार पर परमाणु शक्ति एवं परमाणु बम्ब का आविष्कार हुआ। भारतीय दर्शन तो बहुत पहले ही 'सर्वंखल्विदं ब्रह्म' कह चुका था। विज्ञान ने इसकी पुष्टि की। इस विचारधारा का प्रभाव उक्त वाक्यांशों में स्पष्ट है।

अद्भुत=अनोखी, विचित्र। कुतूहल=जानने की इच्छा। विश्लेषण= व्याख्या, पृथक्करण। समाधान=संशय-निवारण, तसल्ली। उष्ण=तप्त। उपचार=क्रिया, उपाय, इलाज। विह्वल=व्याकुल, बेकल। आकांक्षाओं= अभिलाषाओं। काले मेघ क्षितिज में एकत्र हैं=विपत्तियाँ मँडरा रही हैं। (लाक्षणिक प्रयोग है)। ध्रुवतारा=सदैव अचल रहने वाला तारा, यह सदैव उत्तर दिशा में उदय होता है। सप्तर्षि इसकी परिक्रमा करते हैं, यह दिशा-बोध में सहायक होता है—"ध्रुवतारा चलता नहीं, कितना भी अवसाद हो।" अंग्रेजी में इसे पोल-स्टार कहते हैं। निर्मम=शान्त, जिसे कोई ममता अथवा

मोह न हो, कठोर। अभिनय=खेल, तमाशा, प्रदर्शन। अभिनेता=पात्र, अभिनय करने वाला। विचक्षण=चतुर, निपुण, विद्वान्।

पुरुष ··· ···· ····**एक होंगे।**

संदर्भ—दार्शनिक धातुसेन स्त्रैण कुमारगुप्त की स्थिति का वर्णन करता है।

व्याख्या—पुरुष रूपी औत्सुक्य का समाधान है—स्त्री। पुरुष को स्त्री में पूर्णता-प्राप्ति का सुख मिलता है। स्त्री में उसे प्रत्येक प्रश्न का उत्तर तथा प्रत्येक संशय का निवारण मिल जाता है। संतप्त पुरुष के लिए वह चन्द्रिका सदृश शीतल महौषधि का काम करती है। दुर्भाग्य की बात है कि पुरुष स्त्री की प्रत्येक बात पर बच्चों जैसी सरलतापूर्वक विश्वास कर लेता है। वह जो कह देती है बस उसी को सत्य मानकर आचरण करने लगता है, यहाँ तक कि वह उसके हाथों की कठपुतलो बन जाता है। यही हाल वृद्ध सम्राट् कुमारगुप्त का है। वह विषय-वासना की अग्नि के कारण विह्वल और तरुण पत्नी के हाथ की कठपुतली बने हुए हैं, अर्थात् वह कामान्ध हैं और उनकी विवेक-शक्ति मारी गई है। चारों ओर विपत्तियाँ मँडरा रही हैं, शीघ्र ही कोई बड़ी आफत आने वाली है। केवल युवराज स्कन्दगुप्त साम्राज्य की एकमात्र आशा हैं। उन्हीं के द्वारा इस आने वाली विपत्ति से उद्धार हो सकता है। शीघ्र ही मगध राज्य पर नाना प्रकार की विपत्तियों के पहाड़ टूटेंगे और विपत्ति-कारक भयंकर नाटक का प्रदर्शन होगा, जिसका रंगमंच (मगध) पहले से तैयार है। नाटक के पात्रों में मातृगुप्त भी एक होगा अर्थात् वह भी इस भावी उथल-पुथल में भाग लेगा।

विशेष—यह पुरगुप्त के भावी विद्रोह की पूर्ण सूचना है।

(४)

शब्दार्थ—क्षुद्र=छोटे, तुच्छ, टुच्चे। कंटकित=काँटों वाला, कठिन। महत्त्वाकांक्षा=बड़े होने की इच्छा, उन्नत होने की इच्छा, उन्नत होने की अभिलाषा। दुर्गम=दुःगम, जहाँ कठिनता से पहुँचा जा सके। अन्तःपुर=रनवास, हरम। अथच=तथा। नियति=भाग्य। अपनी नियति ··पैरों चलूँगी=अपने भाग्य की निर्माता मैं स्वयं बनूँगी। परिहास=हँसी, मजाक। समक्ष=

सम्मुख। विद्रूप=जली-कटी बातें। व्यंगवाण=आक्षेपपूर्ण बातें, कटाक्ष। अन्तःस्थल=हृदय। भावी=होने वाले। विप्लव=विद्रोह।

सचेत करेंगे=चौकन्ना रखेंगे, पिछली बातों की याद दिलाते रहेंगे। अनुसरण करूँगा=पीछे-पीछे चलूँगा। बाहुबल=भुजाओं का बल। प्रचण्ड पराक्रम=प्रबल शक्ति। मानवीय=सम्मान के योग्य आदरयुक्त। मार्मिक रहस्य का उद्घाटन कर दिया=गुप्त बात को प्रकट कर दिया अपने, हृदय की बात को बता दिया। शूलों=काँटे, तीर। लोह-फलक=लोहे की नोंकें तीर का अग्रभाग जिसमें लोहे के नुकीले टुकड़े लगे रहते हैं। विष-वाक्य-बाण=विष के समान घातक बातों के तीर। उपयुक्त=योग्य, ठीक। उग्रता=तेजी। शंका=चिन्ता। विकल=दुःखी। महाबलाधिकृत=प्रधान सेनापति। मति=बुद्धि। अव्यवस्थित और चंचल=अस्थिर और क्षण-क्षण राय बदल देने वाले, जो एक बात पर टिकते नहीं हैं। जटिल=कठिन, क्लिष्ट। व्यस्त हैं=संलग्न हैं, लगे हुए हैं। शिशु=बच्चा। कृतघ्न=जो अहसान न माने, एहसान-फरामोश। निश्चिंत=बेफिक्र। उद्योग=उपाय, प्रयत्न। क्रांति=भारी परिवर्तन, उलट-फेर। उपस्थित है=आ गई है।

सहसा=यकायक। पारसीक=एक प्रकार की अंगूरी शराब। रक्त=खून। कालागुरु=सुगन्धित चन्दन। गंध धूप=सुगन्ध का धुँआ। सौध=महल, चाँदी, दूधिया पत्थर। सौध मन्दिर=दूधिया संगमरमर के बने महल। विप्लव-ज्वाला=विद्रोह की अग्नि। चिरायंध=चमड़ा, माँस आदि के जलने से उत्पन्न दुर्गन्ध। उत्कट=तीव्र। आगामी=आने वाला। खण्ड प्रलय=सर्वनाश का एक छोटा रूप, प्रलय का अंश। प्रपंच=छल, कपट, जंजाल। मिथ्या=झूठ, गलत। सूची भेद्य अन्धकार=खूब गहरा अँधेरा, सुई की नोंक के बराबर भी कोई स्थान अँधेरे से रिक्त न हो। रहस्यमय=भेद भरी। नील आवरण=नीला परदा, अर्थात् आकाश। प्रज्वलित=जलती हुई। अभिचार=तन्त्र-मन्त्र द्वारा मारण और उच्चाटन आदि हिंसा कर्म।

सूचीभेद्य अन्धकार···· ···· ····आलिंगन।

संदर्भ—भटार्क से अनंतदेवी प्रपंचबुद्धि के व्यक्तित्व का वर्णन करती है।

व्याख्या—प्रपंचबुद्धि वह व्यक्ति है जो छिपे हुए भाग्य को भी पढ़ सकता है। उसके लाल नेत्र प्रलय की सूचना देते हैं, उसकी हँसी में महानाश का अट्ट-हास समाया है। प्रचंड आँधियाँ और झंझावात उसके लिए मनोरंजन की चीजें हैं; अर्थात् बड़ी से बड़ी विपत्ति भी उसे अपने मार्ग से विचलित नहीं कर पाती है। उसकी बातें भी भयदायक और अस्थिर होती हैं। ऐसा लगता है मानो अभी बिजली को गोद भर भेंटने के लिए उछलने वाला है।

शब्दार्थ—भाद्र=भाद्रपद, भादों का महीना। सद्धर्म=सत्-धर्म, यहाँ बौद्ध धर्म से तात्पर्य है। अभिशाप=अनिष्ट प्रार्थना, क्रोध, शाप। मुण्डित मस्तक=मुँड़े सिर वाले संन्यासी। जीर्ण कलेवर=वृद्ध शरीर। कंकाल=सूखे शरीर वाले, ढाँचा मात्र। शव=मृतक, मुर्दा। तारा=श्मशान की देवी। ताण्डव नृत्य—वह नृत्य जो प्रलय के समय शिवजो करते हैं। शून्य=खाली। मुण्ड=कटे हुए सिर। कंदुक=गेंद। क्रीड़ा=खेल। अश्वमेध=घोड़ों की बलि वाले यज्ञ, वे यज्ञ जिनमें घोड़ों की बलि चढ़ाई जाय। महा नरमेध=वह बड़ा यज्ञ जिसमें मनुष्यों की आहुति दी जाय, मनुष्यों की आहुति वाला बड़ा यज्ञ अर्थात् भयंकर युद्ध। उपसंहार=अन्त। गगन=आकाश। उल्कापात=तारा टूटना, बिजली गिरना (यह भयंकर उपद्रव का सूचक है)। परिणामस्वरूप =प्रतिक्रिया के रूप में।

प्रस्थान=जाना, गमन, विदाई। क्रूर=निर्दयी। नर पिशाच=मनुष्य के रूप में राक्षस। प्रतिश्रुत होना=वचन बद्ध होना, प्रतिज्ञा करना। अनुचर= सेवक, गुलाम। कादम्ब=कादम्बिनी, मदिरा।

अबला=स्त्री। दुर्भेद्य=जिस तक पहुँच न हो सके, जिसे जाना न जा सके। प्रहेलिका=पहेली, बुझौवल, एक अलङ्कार, इसे मुकरी भी कहते हैं; यथा—

टट्टी तोड़ के घर में आया, अरतन-बरतन सब सरकाया।
खा गया पी गया, दे गया बुत्ता, ना सखि साजन न सखि कुत्ता॥

उपर्युक्त पहेली का उत्तर कुत्ता है और वह उत्तर उसी में दिया और प्रकट भी है। इसी प्रकार अनन्तदेवी का रहस्य उसी में छिपा हुआ है।

शब्दार्थ—रहस्य=भेद। साहसशीला=हिम्मत वाली। काम-पिपासा=विषय वासना। संकेत अभी उवल रहे हैं=काम-पिपासा स्पष्ट झलक रही है, काम-भोग की भूखी है। अतृप्ति=असन्तुष्टि। प्रवञ्चना=छलना, ठगने की प्रवृत्ति धूर्त्तता। पट=पर्दा। परिवर्तन=बदलना।

एक दुर्भेद्य···· ···· ····सन्देह वहन कर रही है।

संदर्भ—भटार्क अनन्तदेवी की आज्ञानुसार गुप्त द्वार से सम्राट की हत्या करने के लिए जाता है।

व्याख्या—भटार्क सोचता है कि मगध में होने वाले विप्लव का रहस्य अनंत-देवी के हृदय में है। और उसे मालूम करना अत्यन्त कठिन है। सचमुच यह बड़ी ही हिम्मत वाली नारी है। देखूँ, अव यह क्या-क्या गुल खिलाती है और गुप्त साम्राज्य को किस ओर ले जाती है। परन्तु यहाँ पर भटार्क को कुछ सन्देह होने लगता है। अनन्तदेवी के मुख पर वह काम-वासना के चिन्ह पढ़ता है। उन्हें देख वह कहता है कि अनंतदेवी की आँखों में अभो काम-वासना शेष है, उसको काम-पिपसा अभी बुझी नहीं है। उसके गालों की लाली स्पष्ट बता रही है कि यह कामातुर हो रही है। इसकी गरम श्वासों से निश्चय ही यह प्रकट होता है कि इसके हृदय में भोग-विलास की इच्छा अभी शेष है।

विशेष—नेत्रों की मादकता, कपोलों की अरुणिमा तथा उष्ण श्वासें, ये सब कामातुरा स्त्री के लक्षण हैं। कामातुरा स्त्री पति के विरुद्ध षड्यन्त्र करते हुए चाहे जब झिझक सकती है, क्योंकि उसी की काम-तृप्ति के साधन पर जाँच आ रही है। भटार्क को इसी कारण उसकी ओर से संदेह हुआ है।

शब्दार्थ—खड्गलता=तलवार रूपी लता (सुन्दरी)। प्रभा=आभा, कान्ति, प्रकाश। जिसके अभावों का कोष कभी खाली नहीं=जिसकी माँगें कभी कम नहीं होतीं। भर्त्सना=डाँट-फटकार, निन्दा। अक्षय=जो कभी भी समाप्त न हो। जिसकी भर्त्सनाओं का भण्डार अक्षय है=जो सदैव डाँट-फटकार लगाती रहती है तथा किसी-न-किसी बात की शिकायत करती रहती है। इन बातों से उसे पलभर भी फुरसत नहीं। अन्तर्रातमा=जो, हृदय।

शर्वनाग की पत्नी कर्कशा है। वह पारिवारिक जीवन से दूर रहने में ही अपनी कुशल देखता है। अवस्था=दशा, हालत। अत्यन्त शोचनीय=अत्यन्त चिन्ता-जनक, मरणासन्न। गुल्म=झुण्ड, सेना की एक टुकड़ी।

नियन्त्रण रखना=देखभाल करना, पाबन्दी लगाना, यहाँ बन्दी बनकर रखने से तात्पर्य है। कोलाहल=हल्ला, शोरगुल। बाधा=रोक, प्रतिबन्ध। गोबर-गणेश=(लाक्षणिक प्रयोग) मूर्ख, बुद्धू। सिंहवाहिनी=सिंह पर सवार दुर्गा, जो सिंह को अपनी सवारी बनाए हो। देवता कूच कर जाना=डर जाना, होश-हवास उड़ जाना। अपदार्थ=छोटे, गये-बीते।

प्राणी=व्यक्ति, जीवधारी। तीखे डाढ़ सँवार रहे हैं=खा जाने को तैयार हैं। कुमन्त्रणा=बुरी सलाह, घातक षड्यन्त्र। क्षीण=हलका-सा। हृदय दहल उठा=जी काँप उठा। खिसकती जा रही है=बीतती जा रही है। पवन में गति है किन्तु शब्द नहीं=डर के मारे हवा भी चुपचाप बह रही है, चारों ओर मूक एवं स्तब्ध वातावरण है। सचेत=सावधान, तैयार। शिला=चट्टान।

शिष्टता=सभ्यता, तमीज। चिर अपराधी=हमेशा का अपराधी, हमेशा से गलतियाँ करता आया है। विश्वस्त=विश्वास के योग्य, आजमाये हुए। परिक्रमण=चारों ओर घूमना। निधन=मृत्यु। विकल=परेशान। प्रतिहार=द्वारपाल, समाचारादि देने वाला राज कर्मचारी। महाप्रतिहार=मुख्य द्वार का ड्योढ़ीवान।

प्रभु=स्वामी, मालिक। अबोध=मूर्ख, नादान। द्वार उन्मुक्त कर=दरवाजा खोल। विलम्ब=देरी। पदच्युत=पद से हटाना, नौकरी से अलग करना। अधीनस्थ=अधीन, अधीनता में रहने वाला। अन्तिम शय्या=मृत्यु-शय्या। क्षीण=हलका, धीमा। क्रन्दन=रोने की आवाज। शेष होना=समाप्त होना। शस्त्र अर्पण करके=अधीनता स्वीकार करके। व्यवस्था=निर्णय।

राजदण्ड=राज सत्ता। टिकेगा नहीं=अधिक समय तक न ठहर सकेगा। सम्भवतः=शायद। विपत्ति का आह्वान करोगे=विपत्ति बुलाओगे, मुसीबत बुलाओगे। विरत=अलग। आततायी=अत्याचारी, दूसरों को सताने वाला।

छह प्रकार के व्यक्तियों को आततायी माना गया है—१—जो किसी के घर में आग लगाए, २—किसी को विष दे, ३—किसी का राज्य अथवा घर हड़प ले, ४—किसी की स्त्री पर नजर डाले, ५—बालकों की हत्या करे तथा ६—गुरु-जनों को बन्दी बनाए। अन्तर्विद्रोह=आपसी झगड़ा, आपसी शत्रुता। विधान=शासन, नियम। चरम=सर्वोच्च। प्रतिकार=रोकने का उपाय, उपकार। काल भुजंगी=काल रूपी नागिन। प्रतिहिंसा= बदला लेने की इच्छा।

(६)

शब्दार्थ—मूल स्थान=मुख्य स्थान, राजधानी। साष्टांग=पृथ्वी पर लेटकर प्रणाम करना। योजन=दो, चार अथवा आठ कोस की दूरी। मनो-विनोद=मनोरंजन, जी बहलाव।

अपशकुन=बुरा शकुन। शास्त्रार्थ=वाद-विवाद। कौन-सा न्याय=कौन से कायदे की बात है। आप्त वाक्य=आर्ष वाक्य, किसी विषय के मर्मज्ञ का कथन, साधारण बोलचाल में वेद-वाक्य। 'न त्वेवाहं जातु नास त्वं नेमे'=ये शब्द गीता में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से कहे थे। लघु संस्करण=छोटा रूप। महाभारत का छोटा संस्करण=छोटा महाभारत। सूच्यग्र भाग= सुई की नोंक के बराबर हिस्सा।

विशेष—यहाँ पर महाभारत के उपक्रम की ओर संकेत है। श्रीकृष्ण ने सन्धि-प्रस्ताव उपस्थित करते समय जब दुर्योधन से पाण्डवों के लिए केवल पाँच गाँव देने को कहा था, तब दुर्योधन के उत्तर दिया था—'सूच्यग्रं नैव दास्यामि बिना युद्धेन केशवः।' अर्थात् हे केशव ! मैं बिना युद्ध के सुई की नोंक के बराबर भी भूमि नहीं दूँगा। मातृगुप्त कहता है कि मैं ऐसा नहीं हूँ कि छोटी-सी गठरी के पीछे अपना खून बहाऊँगा। वह तो मूर्ख दुर्योधन ही था जिसने सुई की नोंक के बराबर भूमि के लिये अपना और अपने इष्ट मित्रों का खून बहाया था।

मधु=शहद। नेपथ्य=रंगमंच के पीछे का वह स्थान जहाँ पात्र सजते तथा बैठे रहते हैं। सम्मिलित=मिली हुई। विप्लव=विद्रोह, उपद्रव। निरीह=बेचारे, निरपराध। दुर्दशा=बुरी हालत। प्रतिहिंसा पूर्ण करने के

लिये=बदला लेने की प्यास बुझाने के लिए। नृशंसता=कठोरता, अत्याचार। नागरिक=सभ्य जन, शिष्ट समाज।

भू=पृथ्वी। भू-भार उतारना=पृथ्वी को कष्ट और अत्याचारों से मुक्त करना। पारावार=समुद्र। वाडव=बड़वानल, समुद्र में लगने वाली अग्नि। जिह्वा=जीभ, लपट। विस्तार करना=फैलाना। पयोधर=पय: धर=जल धारण करने वाले, अर्थात् बादल। रक्त=खून। अश्रु=आँसू। मानवता=मनुष्यता। राक्षसत्व=राक्षसपन।

विशेष—गीता में भगवान् ने कहा है—"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थनं धर्मस्य तदात्मनं सृजाम्यहम्।"

अर्थात् "जब-जब धर्म का लोप होता तथा पापाचार बढ़ता है, तब-तब मैं जन्म धारण करके धर्म, गौ, ब्राह्मण आदि की रक्षा करके पृथ्वी का भार उतारता और धर्म की स्थापन करता हूँ।" वहाँ भगवान् के इसी वचन की ओर संकेत है तथा संसार में राक्षसत्व का बोलबाला है, यह बताकर उन्हें याद दिलाई जा रही है कि वह पृथ्वी का भार उतारने वाली अपनी प्रतिज्ञा पूरी करें, अब उसका समय आ गया है।

'प्रलय पयोधर' में रूपक अलंकार है=प्रलय रूपी बादल।

दीन=विनीत, दुखिया। मुद्रा=आकृति, मुँह। लोहे=लोहे की छड़ें। निर्दय=कठोर हृदय वाले। दागो=गर्म लोहे से शरीर पर निशान बनाओ। सम्बल=सहारा, यात्रा के मार्ग की खाने-पीने की चीजें। सदा स्वच्छन्द हो=सदैव स्वतन्त्र रहें। उत्सर्ग=त्यागना। निरीहों=निर्बल एवं निर्दोष व्यक्ति। वीरपुंगव=वीर शिरोमणि, वीरों में श्रेष्ठ। सुरक्षित=अच्छी तरह, कुशल-पूर्वक, कोई खटका नहीं है। आतंक=भय, आक्रमण।

(७)

शब्दार्थ—संचित होकर=झिझक कर, लज्जा भाव से, संकोच के साथ। धनलोलुप=धन के भूखे। लोलुप=लालची। शृगाल=गीदड़। प्रतिकूल=विपरीत, खिलाफ। विजय बाहुबल तथा पराक्रम द्वारा प्राप्त करनी चहिए, रिश्वत आदि द्वारा विजय प्राप्त करना वीरों का काम नहीं। वाहिनी=सेना।

अभिनय करना होगा=उसके स्थान पर काम करना होगा। वाचालता= अधिक बोलना, वाक्-कौशल। श्रेष्ठि कन्ये=सेठ की पुत्री। चिरसंगिनी खड्गलता=हमेशा साथ रहने वाली तलवार। विपन्न=दुःखी, संकटापन्न, आर्त्त। रुद्र=शिव। शृंगीनाद=तुरही की आवाज। रुद्र का शृंगीनाद= तुरही का वह शब्द जो शिवजी प्रलय के समय बजाते हैं। भैरव=दुर्गा, चामुण्डा। तांडव नृत्य=शिवजी द्वारा प्रलय से पूर्व किया जाने वाला भयंकर नृत्य। वाद्य=बाजा। भैरव संगीत=भयप्रद्र संगीत। सृष्टि=उत्पत्ति। चरम=अपार। ध्वंसमयी=विनाशकारी। समारम्भ=आरम्भ।

युद्ध····   ····   ····समारम्भ होता है।

संदर्भ—देवसेना विजया से कहती है कि वह वीणा ले ले और वह स्वयं गाएगी। युद्ध के समय संगीत की योजना को विजया अनुपयुक्त समझती है। जयमाला उसको समझाती हैं।

भावार्थ—युद्ध नाश है और नाश संगीत है, प्रलय सबसे बड़ा नाश है। प्रलय के समय सबसे उत्कट और भयप्रद संगीत उत्पन्न होता है। शिवजी अपनी तुरही द्वारा भयप्रद शब्द उत्पन्न करते हैं, चामुण्डा मुण्डों की माला पहिन कर भयंकर नृत्य करती है तथा योद्धाओं के हथियार बाजे बनते हैं। इस प्रकार गायन, नृत्य और वाद्य—तीनों के संयोग द्वारा प्रलय के समय पूर्ण संगीत समारोह प्रारम्भ होता है। प्रलय रूपी श्मशान में अत्याचार रूपी मुर्दे जलाये जाते हैं। अत्याचारों का अन्त ही मंगल है। वही सत्य और शिव है। इसे देखने के लिए हृदय में साहस और बल एकत्र करना होगा। जीवन का अन्तिम दर्शन चिता की ढेरी में होता है। जीवन का यही रूप वास्तविक है परन्तु साथ ही भयंकर भी। जीवन के इस नग्न सौन्दर्य का अनुभव करने के लिए जीवन की विषमताओं के भीतर घुसना होगा। यह केवल वीरों का ही काम है। आओ वीरो ! हिम्मत बाँधो। जीवन की वास्तविकता से मुँह न मोड़ो। अत्याचारों का अन्त करने के लिए किये गये युद्ध में तुम्हें जीवन का सच्चा संगीत सुनने को मिलेगा।

विशेष—(i) श्मशान में मंगल के दर्शन का अभिप्राय यह भी है कि युद्धक्षेत्र में मारे जाने पर योद्धा को वीर गति अथवा स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

(ii) कहने का तात्पर्य यह है कि हमें जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में प्रसन्न रहना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक घटना उस महती योजना का अंग होती है जो विश्वात्मा ने संसार के विकास-हेतु बनाई है। लोहार की दूकान की बाहरी धूल-धक्कड़ के पीछे निर्मित होने वाले वीणा के तारों को देखने वाला कभी नहीं कहेगा कि लोहार की दूकान उपेक्षा की वस्तु है अथवा उसमें होने वाली खटखट त्याज्य है। जो कुछ घटित हो रहा है वह हमारे कल्याणार्थ है—इस प्रकार की धारणा रखने वाले व्यक्ति को सर्वत्र सौन्दर्य का ही साम्राज्य दिखाई देता है।

शब्दार्थ—लपट=लौ, ज्वाला। मारुत=हवा। व्योम=आकाश। अमल=निर्मल, निष्कलंक। अनूप=अनोखा। प्रेम-विभोर=प्रेम में डूबी हुई, प्रेम में बेसुध। कूप=कुआँ। धमनी=नाड़ी, शरीर के भीतर की नाड़ियाँ। तन्त्री=वीणा, तारों वाला बाजा।

भरा···· **····** **····मन में रूप।**

संदर्भ—देवसेना गाती है। छायावादी शैली पर अज्ञात एवं सर्वत्र व्याप्त प्रियतम की ओर संकेत है।

भावार्थ—छल करके हृदय चुराने वाले प्रेमी का निष्कलंक और अनोखा रूप मेरी आँखों और मेरे दिल में बसा हुआ है। पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, चारों ओर मुझे उसी की झलक मिलती है। मैं उसके प्रेम से पागल हूँ। उसे प्राप्त करना चाहती हूँ, परन्तु वह हाथ नहीं आता। उसे ढूँढ़ती हुई मैं थक गई हूँ और अपनी सुध-बुध खो बैठी हूँ। उसका रूप संसार रूपी सागर में भरा हुआ है। यदि किसी कुएँ में भाँग डाल दी जाये तो उसका पानी पीने वाले प्रत्येक व्यक्ति को भाँग का नशा चढ़ आएगा। उसी प्रकार इस संसार में सर्वत्र व्याप्त परमात्मा इसके कण-कण को अपने प्रेम से पागल किये हुए है।

परमात्मा हृदय में व्याप्त है। नाड़ियों का शब्द मानो उसकी वीणा पर प्रेम-गायन है। जीव उसे कान लगाकर सुनता है। जो उसे समझ लेता है, वह जीवन-धन परमात्मा को प्राप्त कर उस पर न्यौछावर हो जाता है,

और फिर उसके साथ धूप और छाया की भाँति मिल जाता है। परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान होते ही जीव का उसके साथ तादात्म्य हो जाता है। परमात्मा और जीव का काया और छाया का सम्बन्ध है। वे एक भी हैं और पृथक् भी, केवल दृष्टि-भेद है। एक बार अनुभव होने पर जीवन की प्रत्येक दशा और दिशा में हमें वह अपने पास दिखाई देने लगता है। इस कविता में रहस्यवाद है।

शब्दार्थ—रक्त से लथपथ=खून से सना हुआ, खून से सराबोर। वरणीय=वरण करने योग्य, प्राप्त करने योग्य। वीरों के वरणीय सम्मान को प्राप्त करना=बड़ाई के मैदान में मरकर वीरगति प्राप्त करना। प्राण विसर्जन करना=जान गँवाना। विसर्जन=त्याग। उज्ज्वलता रहे=लड़ते हुए वीर कहलाओ, सबको जता दो कि मैं वीर हूँ और मर जाने पर लोग प्रशंसा कर—यह कहकर कि कैसा बहादुर था। जीवन में सम्मान और मरने पर यश की प्राप्ति हो। स्तम्भित=भौचक्का, चकित। पटाक्षेप=पर्दा गिरता है।

द्वितीय अंक

(१)

शब्दार्थ—तट=किनारा। कुंज=वृक्ष-लतादि से ढँका मण्डप जैसा स्थान। प्रवंचना=धूर्तता, छल-कपट। पतित=गिरी हुई, गई-बीती। शतदल=कमल। पारिजात=देववृक्ष, समुद्र मंथन से प्राप्त नन्दन वन का एक देवतरु। देववृक्ष पाँच माने गये हैं—हरचन्दन, हरसिंगार, कचनार, कोविदार तथा पारिभद्र। प्रतिमा=मूर्ति।

पवित्रता की माप .... अनुमान कर लिया जा सकता है।

केन्द्रीय भाव—विजया संसार के निंद्य पक्ष की चर्चा करती है। प्रत्युत्तर में देवसेना संसार की प्रत्येक वस्तु को साक्षेप एवं उपयोगी बताती है। सत् और असत्—दोनों के संयोग द्वारा विश्व का निर्माण हुआ है और उनकी स्थिति साक्षेप है। यदि असत् न हो, तो सत् का न तो कोई अनुभव ही करे और न किसी को उसके अस्तितव और महत्त्व का ही पता चले।

व्याख्या—भलाई बुराई की साक्षेप है। शुद्धता को अशुद्धता के द्वारा ही

नापा जा सकता है। जितनी ही बड़ी अशुद्धता के समकक्ष हम शुद्धता को रख-कर देखेंगे वह हमें उतनी ही अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होगी। सुख या सुखदाता के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान दुःख के द्वारा होता है। भोजन द्वारा प्राप्त होने वाली तृप्ति के गुण-दोष भूख ही बता सकती है। भूख जितनी ही तीव्र होगी, भोजन द्वारा हमें उतना ही अधिक सुख प्राप्त होगा। इसी प्रकार पुण्य का मूल्यांकन पाप करता है। यदि पापी न हों, तो पुण्यात्मा अथवा साधुजनों का पता ही न चल सके। एक-सी परिस्थिति में जब दो भिन्न व्यक्ति पृथक् आचरण करते हैं, तभी हम भले-बुरे का अन्तर स्थापित करने में समर्थ होते हैं।

विजया ! प्रत्येक वस्तु के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान अनुभव द्वारा ही प्राप्त हो सकता है, केवल दूर से देखकर नहीं (संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने—तुलसी)। दूर से सुन्दर दिखाई देने वाले आकाश के तारे कैसे हैं—कोमल या कठोर, कोई नहीं कह सकता। कोमल के मधुर स्वर को हम साकार नहीं देख पाते। इसी कारण कह नहीं सकते कि वह कैसा है ? कमल के फूल तथा देवदारु के वृक्ष की मनोहारी सुगन्ध हम पकड़कर देख नहीं सकते। परन्तु संसार के मनुष्यों का हम प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं। उनमें अनेक तारागणों से भी अधिक सुन्दर, हाथ ही कोमल, स्वर्गीय संगीत के साक्षात् अवतार, जिनकी वाणी से रस बरसाता हो तथा अक्षय कीर्ति सम्पन्न प्राणी होते हैं। उन्हें देखकर हम स्वर्ग की कल्पना कर सकते हैं। हम सोच लेते हैं कि स्वर्ग में ऐसे ही प्राणी होंगे। यहाँ थोड़े हैं, वहाँ अनेक होंगे अथवा वहाँ सभी ऐसे ही होंगे।

विशेष—हम ऊपर कह आये हैं कि मनुष्यों के नीच व्यवहारों को देखकर हम नरक का अनुमान लगा सकते हैं। हम यदि स्वर्ग को पृथ्वी से ऊपर की वस्तु मान लें तो निश्चय ही यह विश्व नरक ही ठहरता है। यहाँ साधु पुरुष थोड़े-से ही हैं। परन्तु जीवन की सार्थकता पृथ्वी को स्वर्ग के रूप में देखने में है।

शब्दार्थ—अभिभूत=पराजित, विचलित। नीड़=घोंसला। विहार=क्रीड़ा, संभोग।

यदि हुआ है··· **····** **····अभागा है ।**

संदर्भ—यह विजया के प्रति देवसेना का कथन है। वह स्कन्द के प्रति विजया के आकर्षण को प्रकट कराना चाहती है।

व्याख्या—देवसेना कहती है कि असाधारण महत्त्व स्वर्ग का दिग्दर्शन कराता है। असाधारण, जन-सामान्य की अपेक्षा विशेष गुणों के कारण जहाँ हमारा हृदय विचलित हो उठे, समझ लेना चाहिए, वहीं स्वर्ग है। जहाँ पहुँचकर हमारी कल्पना रुक जाय, हमें अपने आदर्श स्वरूप का दर्शन हो जाय, समझ लेना चाहिए, वहीं स्वर्ग है। आदर्श प्रतीक नैसर्गिक आनन्द की सृष्टि करता है। उसी के निकट पहुँचकर हमारा मन-मयूर नाच उठता है। ऐसे ही स्थल पर हम केलि-क्रीड़ा का सच्चा सुख ले सकते हैं, ऐसे ही प्रेमपात्र के सान्निध्य और सम्पर्क द्वारा हमें सम्भोगजन्य वास्तविक आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। इस सुख की प्राप्ति, ऐसे प्रेमपात्र का साहचर्य—जीवन का सबसे बड़ा फल है। जिसे यह फल न मिला हो, वह सचमुच अभागा है।

शब्दार्थ—मन ढीला होना=प्रेम के वशीभूत होकर शिथिल हो जाना। राजकीय प्रभाव=स्कन्दगुप्त के युवराज होने की चमक-दमक, ऐश्वर्यजनित प्रभाव। उन्मत्त भावना=मस्त विचार, पागलपन। कर्मण्य=कर्त्तव्यपरायण। ऊर्जित=बलवान, दृढ़। युद्धस्व विगतज्वरः=शोक त्याग कर युद्ध करो। (श्रीकृष्ण का अर्जुन के प्रति वाक्य—गीता)।

संपूर्ण संसार···· **····** **····सुना करता है।**

संदर्भ—स्कंद युद्ध के प्रति विरत होना चाहता है। वीरता को कर्म-क्षेत्र का सर्वस्व बताते हुए चक्रपालित स्कन्द को प्रोत्साहित करता है।

व्याख्या—स्कन्द से चक्रपालित कहता है कि वीर पुरुष ही संसार की शोभा है। कर्त्तव्यपरायणता का ही दूसरा नाम वीरता है। वीरता अथवा कर्त्तव्यपरायणता मनुष्य को अपने पैरों पर खड़ा होना सिखाती है। वीर अथवा कर्त्तव्यपरायण व्यक्ति किसी और का आसरा नहीं ताकते, वे स्वयं अपने बलबूते पर जीवन संग्राम में अग्रसर होते हैं। ज्यों-ज्यों स्वावलम्बन की प्रवृत्ति बलवती होती जाती है, मनुष्य उन्नति करता चला जाता है। जीवन-

संग्राम में वही विजयी होता है जो शोक को त्याग कर निरन्तर संघर्ष करता रहता है।

विशेष—"जीवन एक संग्राम है। निरन्तर संघर्ष उसमें विजय-प्राप्ति का एकमात्र साधन है। इस साधन को प्रेरणा प्रदान करती है—स्वावलम्बन की प्रवृत्ति। दुःख-शोक त्याग कर युद्ध करो।" यह गीता-वाक्य जिसके कर्ण-कुहरों में प्रत्येक क्षण प्रतिध्वनित होता रहे, वही इस जीवन-संग्राम में विजय प्राप्त करता है। प्रमाद मनुष्य को इस संग्राम से विमुख कर सकता है।

शब्दार्थ—विडम्बना=निराशा, छलना, उपहास। शुभ्र=स्वच्छ। शरद्-शशि=शरद् ऋतु का चन्द्रमा (क्वार और कार्तिक, ये दो महीने शरद् ऋतु के होते हैं)। निभृत=शान्त, स्थिर, एकान्त। कगार=नदी का किनारा। निगुढ़=गुप्त, छिपा हुआ। क्षुद्र=ओछा, जो प्रशंसा के योग्य न हो।

ऐसा जीवन···· ···· ····स्वयं न जा सका हूँ।

संदर्भ—चक्रपालित के प्रति स्कन्द का कथन है। वह युद्ध को जीवन के लिए अनावश्यक ही नहीं जीवन के स्वाभाविक प्रवाह के प्रतिकूल भी समझता है।

व्याख्या—स्कन्द कहता है कि ऐसे जीवन को धिक्कार है जिसके लिये निरंतर संघर्ष करते रहना पड़े। जिस जीवन में सिवाय युद्ध के और कुछ हो ही नहीं, वह जीवन किस काम का? जिस समय निर्मल आकाश में शरद् चन्द्र अपनी निर्मल एवं आनन्ददायिनी चाँदनी द्वारा समस्त वसुन्धरा को तृप्त कर रहा हो और संसार प्रेमसागर में सुखपूर्वक निमग्न हो, उस समय भी हम यदि क्रोधातुर हों, लाल-लाल आँखें करके एक-दूसरे को खा जाने की सोचते रहें तथा ऋतुराज के सुन्दर प्रातःकाल में एकान्त एवं शान्त निकुन्जों के बीच होकर शान्त सरल गति से प्रवाहित होने वाली सरिता को भी उष्ण रक्त द्वारा लाल करें, तो अत्यन्त शोक की बात होगी। परन्तु ऐसा नहीं हो सकता। मानव-जीवन का उद्देश्य विद्वेष-निर्वाह नहीं हो सकता। वह निश्चय ही इससे कहीं अधिक श्रेष्ठ होगा। हो सकता है कि अभी तक हम जीवन के वास्तविक उद्देश्य को न जान पाए हों।

उत्तेजित=जोश में, उत्साहित।

यदि राज्य-शक्ति··· .... ····करना ही पड़ेगा।

संदर्भ—चक्रपालित प्रजा-रंजन के नाम पर स्कंद को उत्साहित करता है कि वह राज्य-श्री से विमुख न हो।

व्याख्या - यदि स्वयं युवराज ही इतनी विरक्ति और दुर्बलतापूर्ण बातें करेंगे, तब तो समस्त राज्य में अत्याचारियों का बोलवाला हो जायगा। अतएव प्रजा के अधिकारों की रक्षा के लिए आपको अपने राज्याधिकार की ओर ध्यान देना ही होगा। उदासीन रहने से काम नहीं चलेगा।

शब्दार्थ—मानसिक अवस्था=मन की दशा। निर्दय वाक्यवाण=चुभने वाले, तीखे व्यंग वाक्य।

कहीं··· .... ····खटकने तो नहीं लगा।

संदर्भ—विजया ने स्कंदगुप्त के प्रति अपना आकर्षण प्रकट करते समय यह कहा था कि सम्भवतः यह प्रेम स्कंदगुप्त के युवराज पद के साथ संलग्न राज्य-वैभव के कारण हो। देवसेना ने इसी की ओर संकेत करके तीर छोड़ा है।

व्याख्या—देवसेना विजया से कहती है—"तुमने यह तो नहीं सोच लिया है कि राज्य के प्रति उदासीन रहने के कारण कहीं ऐसा न हो कि स्कंदगुप्त को राज्यलक्ष्मी प्राप्त न हो सके। सम्भव है कि ऐश्वर्य की भावी कमी की आशंका के कारण तुम्हें राजकुमार कम महत्त्वपूर्ण एवं अपेक्षाकृत कम आकर्षक प्रतीत होने लगे हों और ऐश्वर्य की चमक से उत्पन्न होने वाले तुम्हारे प्रेम का वेग कुछ मन्द पड़ गया हो। राजकुमार के वैभव को कमी ने तुम्हारे प्रेम रूपी दूध में कहीं खटाई का काम तो नहीं कर दिया?"

शब्दार्थ—प्रशस्त वक्ष=चौड़े उठे हुए सीने वाला। महत्त्वाकांक्षी=बड़ी-बड़ी अभिलाषाएँ करने वाला। दलाली=बिचौलियापन, बिचवानी, दो के बीच में पड़कर बात तय कराना और अपना पारिश्रमिक प्राप्त करना। अभिनय=नाट्य।

नये ढंग···   ····   ····**व्याकुल हो जाए ।**

यह है कि पुरुष को वश में करने के लिए रूप, यौवन तथा बनाव श्रृंगार आदि तो आवश्यक हैं, साथ ही यह भी आवश्यक है कि स्त्री तरह-तरह के नखरे करे और यथासमय रोने और रूठने का नाट्य भी कर सके ।

शब्दार्थ—वागेश्वरी=एक रागिनी, यह प्रायः सन्ध्या समय गाई जाती है । करुण=दर्दभरी । हिलोर=लहर, झोंका । परमाणु=पदार्थ का सबसे छोटा भाग । लय=गीत, अनुराग । सम=एकता, संगीत में वह स्थल जहाँ ताल टूटती है तथा संगीत-मर्मज्ञों का सिर अपने आप हिल जाता तथा हाथ उठ जाता है । विकृत=बिगाड़ना । काकली=कलकल ध्वनि, मधुर ध्वनि ।

प्रत्येक परमाणु···   ···   ···**रागिनी है ।**

संदर्भ—विजया के प्रति देवसेना का कथन है—

व्याख्या—विश्व के प्रत्येक पदार्थ के कार्य में एक विशेष क्रम है, उसकी गति में संगीत है । पेड़ का प्रत्येक पत्ता एक विशेष गति को लेकर झूमता है । प्रकृति के पदार्थ हर समय विशेष प्रकार का संगीत उत्पन्न करते रहते हैं । धूल के कण और पेड़ों के पत्ते हिलकर ही नहीं रह जाते, वे एक विशेष सन्देश देते हैं, जिसे सुनकर समझने वाले का सिर आप-से-आप हिल उठता है । मनुष्य ने अपना स्वर बिगाड़ रखा है, वह अपने आप को अलग मानकर अपनी अलग ढपली बजाना चाहता है । इसी कारण प्रकृति भी उससे दूर हटने लगी है । वह अपने आप को अकेला और अभागा समझता है । अपनी विद्या और बुद्धि के नशे में चूर होकर वह प्रकृति के कार्य-कलापों में मीन-मेख करता है, और यही कारण है कि उसका जीवन असलियत से दूर पड़कर नीरस हो गया है । पक्षियों के चहचहाने में, उनकी उछल-कूद में, जल-धारा की छल-छल में, नदी की कल-कल में, जहाँ देखो वहाँ एक मधुर संगीत सुनाई पड़ता है । समस्त प्रकृति ही संगीतमय है ।

शब्दार्थ—अन्तर में=हृदय में । पारिजात=पाँच देववृक्षों में एक, हरसिंगार । दक्षिण पवन=मलयगिरि से आने वाली पवन, मलयगिरि अर्थात् चन्दन वन वाला पर्वत दक्षिण में है । भव-आतप=संसार के कष्ट ।

घने···　　　　····　　　　···प्रेम तरु तले।

संदर्भ—प्रकृति के संगीत की चर्चा में आत्मविभोर होकर देवसेना गाने लगती है।

भावार्थ—प्रेम रूपी घने वृक्ष की शीतल छाया में बैठकर देखो, प्रेम की शरण जाओ। वहाँ संसार के ताप से तप्त और दग्ध व्यक्ति को चैन मिलेगा। वहाँ विश्वास की छाया है तथा श्रद्धा की नदी का किनारा है। इस नदी के किनारे की बालू पुष्पपराग युक्त और कोमल है। वह आँसुओं से सींची गई है। अतएव यहाँ धोखा-धड़ी तथा ठगई का काम नहीं है।

वार्त्तालाप रूपी वायु से भावरूपी पुष्प वृक्ष से नीचे गिरकर हृदय के घावों को भर देते हैं अर्थात् प्रेमवार्त्ता द्वारा मनुष्य की सब व्यथाएँ जाती रहती हैं। मन की दु:खभरी कथा को बिना सुने सीधे मत चले जाओ। सौंदर्य रूपी रस की मधुरिमा को पान करके उसका जीवन रूपी बेल को सींचकर प्रेम से गले मिलो और समस्त जीवन इस प्रकृति की क्रीड़ा-स्थली में आनन्दपूर्वक व्यतीत करो।

विशेष—उक्त छन्द में प्रेम को वृक्ष का रूप दे सांगरूपक प्रस्तुत किया गया है। यहाँ श्लेषपुट रूपक अलंकार है।

शब्दार्थ—देवोपम सौन्दर्य=देवताओं जैसा सौन्दर्य। लिपियों=रेखाओं। वक्र लिपियों से अंकित है=कष्टों से भरा हुआ है।

उदार वीर हृदय····　　　　····　　　　····जीवन पूर्ण ज्योति।

संदर्भ—यह बन्धुवर्मा का स्वगत कथन है। वह स्कन्दगुप्त के देवोपम व्यक्तित्व द्वारा अभिभूत हैं। वह उसके प्रति श्रद्धा के कारण आत्म-समर्पण करता है।

व्याख्या—स्कन्दगुप्त उदार हृदय वाला वीर पुरुष है, देवताओं की भाँति स्वरूपवान और सुन्दर है। समस्त आर्यावर्त्त की आँखें उसी की ओर लगी हैं, वही प्रजाजनों की एकमात्र आशा है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके भाग्य में अनेक विपत्तियाँ भोगना लिखा है। वह हृदय में गौरव रखते हुए भी राज्य की ओर से उदासीन है। उसमें स्वाभिमान है, किन्तु राज्य पाने

की इच्छा नहीं। उसकी आँखों में एक चमक है, उनसे सजीव ज्योति निकलती रहती है।

विशेष—उक्त पंक्तियों द्वारा स्कन्दगुप्त के व्यक्तित्व पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

(२)

शब्दार्थ—विश्वास करना और.......हल हो जायेगी=दुनिया के काम विश्वास से ही चलते हैं। हम एक-दूसरे पर विश्वास करने लगें, तो कोई झगड़ा-झंझट ही न रह जाये। सारी समस्यायें हल हो जायँ। भित्ति=दीवार। प्रत्येक भिति...देख लेना चाहिए=रहस्यमय बात बड़ी सावधानी से कहनी चाहिए। वह बड़ी कठिनाई से छिप पाती है, उसे घर की दीवारें और किवाड़ तक प्रकट कर देते हैं।

सहानुभूति=सह-अनुभूति, पराये कष्ट का अनुभव। प्रेरणा=दवाव, उत्तेजना। निषेध=निवारण, दूर करना। स्थविर=वृद्ध, पूज्य, बौद्ध-भिक्षु। निरीह=निरपराध।

किसी धर्म.......पवित्र हैं=संसार का प्रत्येक कर्म साक्षेप है। स्वतन्त्र रूप में न कुछ पाप है, न पुण्य। प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक कर्म अपने आप में पवित्र और पुण्यमय है। वासना अथवा पाप-वृत्ति के संयोग के कारण वह अपवित्र तथा पाप बनता है। जिस हत्या को तुम पाप समझ रहे हो, उसी को युद्ध-क्षेत्र में करना अपना कर्म और सौभाग्य मानते हो। वहाँ पर क्या पाप नहीं रह जाता है ?

आशा पर तो सृष्टि का रहस्य है=दुनिया उम्मीद पर टिकी है। लकीर खिच गई=गहरा प्रभाव पड़ा, अच्छी लगी।

धातु=सोना-चाँदी, असलियत, जिसके द्वारा किसी का निर्माण हुआ हो। धातु का अर्थ वीर्य भी है। यहाँ पर हास्यपूर्ण व्यंग्य है। घन=घना, ठोस, भारी, जिसका घनत्व अधिक हो। एक घन सेन्टीमीटर का भार किसी पदार्थ का घनत्व कहलाता है।

विशेष—१ सेन्टीमीटर लम्बा, १ सेन्टीमीटर चौड़ा तथा १ सेन्टीमीटर ऊँचा—यह एक घन सेन्टीमीटर होता है।

(३)

मदिरोन्मत्त=शराब के नशे में चूर।

कादम्ब, कामिनी ... .जोड़ दें।

भावार्थ—व्यंजन 'क' से प्रारम्भ होते हैं और बाहरखड़ी भी 'क' से ही प्रारम्भ होती है। इसी कारण वर्णमाला के प्रथम अक्षरों का उल्लेख किया गया है।

मदिरा, सुन्दर स्त्री तथा सुवर्ण—इन तीनों के—एक या सबके लोभ में पड़कर ही मनुष्य पाप-कर्म में प्रवृत्त होता है। यदि ये न हों तो उसे क्या पड़ी है जो किसी बुरे-भले काम में पड़े। कर्म को ये ही तीन 'ककार' कुकर्म बना देते हैं।

शब्दार्थ—कमनीयता=सुन्दरता। पामर=नीच, दुष्ट, पापी। कामिनी= काम जाग्रत करने वाली सुन्दर स्त्री। वेश-विन्यास=वेश-भूषा, साज-सँवार, चटक-मटक। आँखों की लुका-चोरी=कटाक्षपूर्ण कनखियों से देखना, आँखें मटकाना। एक क्रीड़ा=एक हाव-भाव। दुर्वृत्त=बुरी वृत्ति वाले, पापी। मद्यप=शराबी, मदिरा पीने वाला। अपदार्थ=नाचीज, तुच्छ। रक्तपिपासु खून का प्यासा। प्रतिकूल आचरण=बुरे कर्म। कुचक्री=विद्रोही। हिंस्र= हत्या करने वाले, भयानक। प्रतिश्रुत=वचन-बद्ध। पद-वृद्धि=पदवी, ओहदा बढ़ना।

(४)

शब्दार्थ—स्वजन लोग=अपने ही आदमी, सगे। शिष्टाचार=सभ्य आचरण। सत्पथ=अच्छी राह। स्निग्ध=चिकनी, कोमल। विपद भंजन= कष्ट विदारक, विपत्तियों को भंग या नाश करने वाला। अंचल=धोती या दुपट्टे का पल्ला। दुर्दान्त=अदमनीय, प्रबल, प्रचंड।

पालना.... ....लहरें।

सन्दर्भ—यह नेपथ्य का गाना है। बन्दीगृह में देवकी और रामा के मध्य वार्तालाप का अवसर है।

भावार्थ—भगवान् की कृपा-कोर समस्त दुःखों का नाश कर देती है। उसकी कृपा-दृष्टि होते ही समस्त त्रासकारी पदार्थ सुखदायी बन जाते हैं। यथा—प्रलय कालीन सागर की लहरें बजाय डुबाने के, पालने की भाँति झुलाने वाली बन जाती हैं, आग की लपटें ठण्डी होकर सुखदायक बन जाती हैं और चारों ओर करुणा के बादल छा जाते हैं अर्थात् चारों ओर दया की वृष्टि होने लगती है। यदि मनुष्य पर क्षण भर के लिये भी ईश्वर की कृपा हो जाती है तो फिर विपत्ति उसके पास आजन्म नहीं फटकती। ईश्वर में सच्चा विश्वास होने से सुख की पताका सदैव फहराती है। ईश्वर की कृपा पर विश्वास करो, समस्त विपदाएँ स्वतः टल जायेंगी।

शब्दार्थ—केतन=पताका, झण्डा। सद्धर्म्म=सद्-धर्म=अच्छा काम। अन्तस्तल=भीतर, गर्भ तह। स्पर्धा=होड़, इच्छा। कलुषित=लांच्छित, निन्दित, दूषित। कलुष का अर्थ पाप अथवा दोष है। अभेद्य=जो भेदा न जा सके। **अदृष्ट**=जो दिखाई न दे। नियामक=विधाता। द्वन्द्व-युद्ध=आमने-सामने दो व्यक्तियों का युद्ध। आमन्त्रित करना=निमंत्रण देना, ललकारना, **बुलाना।**

(५)

शब्दार्थ—वंशधर=वंशज, वंश वाले। स्वत्वाधिकारी=राज्य प्राप्त करने वाले। उस समय एक ही रास्ता रह गया था कि आत्महत्या कर ली जाय। छघन्य=घृणित, पापमय, अत्यन्त बुरा। आर्यावर्त्त=आर्यों का निवास स्थान, उत्तरी भारत, विन्ध्य और हिमाचल पर्वत का मध्यवर्ती देश, पुण्य भूमि। प्रलय मेघमाला=प्रलय के बादल, विपत्तियों का समूह। अनुष्ठान=कार्यारम्भ, उपक्रम, शास्त्रविहित कर्म करना अथवा किसी अभीष्ट फल के लिये किसी देवता विशेष का आराधन अनुष्ठान कहलाता है। पदतल=पैरों तले, अधीन। कदर्य=कुत्सित, निन्दित। लोहे को आभूषण नहीं बनाया है=तलवार धारण नहीं की है क्षत्रिय कर्म नहीं अपनाया है। अकर्मण्यता=बेकारी, निठल्लापन, निकम्मापन। आर्त्त-त्राणा-परायण=दीनों की रक्षा में संलग्न, दीन-दुखियों की रक्षा करने में व्यस्त। आलिंगन करना=गोद भर भेंटना। विभीषिका=

आपत्ति, भय। अवहेलना करना=तिरस्कार करना, परवाह न करना। विपन्न=दुखी, विपत्ति-ग्रस्त।

सर्वात्मा····   ····   ··· मनोहर सङ्गीत है।

सन्दर्भ—यह देवसेना का कथन है। वन्धुवर्मा स्कन्द के लिए सब कुछ समर्पण करने को प्रस्तुत है। देवसेना समर्थन करती है।

व्याख्या—ईश्वर का स्वर अहंकार रहित है, उसकी इच्छा है कि मानव सब कुछ मुझ में अर्पण करे। विश्व में चारों ओर यही स्वर गुंजरित है। हमें चाहिए कि इस मनोहर संगीत का आनन्द लें, अर्थात् अपने अहंकार को त्याग, सब कुछ ईश्वर पर छोड़ दें। कर्त्तापन का अभिमान छोड़कर जब हम भगवद्-इच्छा में तल्लीन हो जायेंगे, तभी हमारा जीवन सफल होगा।

विशेष—उक्त वाक्यांश को गीता के इस वाक्य से मिलायें—"अहमात्मा गुडाकेशा सर्वभुतेषु स्थितिः" अर्थात् मैं (कृष्ण) ही सब मनुष्यों में आत्मा रूप से स्थित हूँ। समष्टि=समूह। सर्वभूत-हितकामना=प्राणी मात्र के भले की इच्छा। बहिष्कार=त्यागना, वाहर निकालना।

समष्टि में भी व्यष्टि रहती है=समूह में भी इकाई का स्थान है। प्रत्येक मनुष्य समाज का एक अंग है और उसमें उनका विशेष स्थान है। यथा—हाथ-पैर आदि से मिलकर पूरा शरीर बनता है। परन्तु शरीर बन जाने पर हाथ-पैरों का निजी महत्त्व नष्ट नहीं हो जाता, उनका अपना उपयोग अलग है, अन्य अंगों के साथ मिलकर निश्चय ही वे अधिक उपयोगी बन जाते हैं। यही स्थिति जाति अथवा समाज में प्राणियों की है।

शब्दार्थ—ममत्व=ममता, आपा चाहना।

इसी····   ····   ····आपा नहीं खोया।

संदर्भ—वन्धुवर्मा आत्म-त्याग के लिए अहंभाव को अनिवार्य मानता है। वह अपनी पत्नी जयमाला से कहता है।

भावार्थ—अपने आप को चाहने की ऐसी तुच्छ मनोवृत्ति हमें इस बुरी ओर ले आई है, इसी कारण हम अपने भले की ही बात करते हैं। इन बातों को छोड़ दिया जाय, अन्यथा हम मनुष्यता से बहुत दूर पड़ जायेंगे! इन बातों

के कारण हमारा हृदय संकुचित बन जाता है और विश्व-प्रेम की भावना हमारे हृदय से दूर हो जाती है। दुनिया की सुन्दर वस्तुओं से हम दूर हट जायेंगे। जब तक हम अपनापन नहीं खो देते, तब तक दूसरों के भले के लिए हम कदापि त्याग नहीं कर सकते। स्वार्थपरता के द्वारा ही हम परहित-साधन में संलग्न हो सकते है।

शब्दार्थ—मालवेश्वरी=मालवा को रानी। पदातिक=प्यादा, पैदल युद्ध करने वाला साधारण सिपाही। निर्मूल=नि:मूल, जड़ सहित उखाड़ फेंकना, नष्ट कर देना। आँखें खुल गई=वास्तविक वात समझ में आ गई, अज्ञान दूर हो गया। विश्व-साम्राज्य=संसार भर का राज्य।

(६)

शब्दार्थ—समस्त लांच्छन=सब दोष। आग के फूल नहीं बरसाती=रक्त की बूँदें नहीं बरसाती, आग नहीं उगलती शत्रु-सेना का संहार नहीं करती। वज्र-ध्वनि=बिजली को कड़क। लोहा मानना=अधीनता स्वीकार करना, अपने से बड़ा मानना। प्रलय मेघ=विपत्ति लाने वाला। पाप शृंखला=पाप को जंजीर। महाकाल=उज्जैन में स्थित महादेवजी, महाकालेश्वर महादेव (कराल महाकाल काल कुपालु—तुलसी)। सर्मपित कर देती=सौंप देती। दंडनायक=दण्ड देने वाला, राजा या शासक, सेनापति, सेना में एक पद (यहाँ कोतवाल से तात्पर्य है)।

कृतघ्न ! वीरता ··· ··· ····नहीं रह सकता।

भावार्थ—अरे नमक हराम, उपकार न मानने वाले ! पागलपन का नाम वीरता नहीं है। वीर लोग उन्मत्त नहीं होने। वे आँधी की तरह बिना विचारे सबको उखाड़ नहीं फेंकते, दीनों की रक्षा तथा शक्ति-शाली से युद्ध करना, उनका ध्येय होता है। केवल शस्त्र-बल का नाम वीरता नहीं है। ऐसी वीरता लँगड़ी होती है, वह किसी काम की नहीं होती। वीरता की आधार-शिला है—न्याय-परता। जो वीरता धर्म की रक्षा और पाप का नाश कर सके, वही चिरस्थायी होना है। ऐसी वीरता की अवहेलना करने के लिए तू अधिक दिन तक स्वतन्त्र नहीं रह सकता। तू विवेकहीन होकर वीर बना है, अतः तेरा मद शीघ्र ही नष्ट कर दिया जायेगा।

शब्दार्थ—भद्रे=शुभे, भली महिला, देवी। अभिजात=उच्च। न्यायधिकरण=न्यायालय अदालत। अभियोग=दोष, अपराध के विरुद्ध न्यायालय में निवेदन।

(७)

शब्दार्थ—प्रतिकृति=प्रतिमूर्ति, प्रतिमा, छाया। तिलक=शोभा। यशोमंडित=यशमंडित, यशस्वी। आत्मज=पुत्र, आत्मा वै जायते पुत्रः। तुमुल ध्वनि=जोर का शब्द। दधीचि=एक ऋषि जिनकी जाँघ की हड्डी से वज्र बना था। जीते जी इन्होंने अपनी जाँघ की हड्डी निकालकर इन्द्र को दे दी थी। दधीचि-दान=महात्याग। दधीचि का त्याग आर्य-इतिहास का गौरव है। अन्तर-विद्रोह=घरेलू झगड़े, आपसी कुचक्र। उद्धार-युद्ध=आर्यावर्त्त का उद्धार करने के लिए होने वाला युद्ध। चमर-सुरा=पहाड़ी गाय की पूँछ का बना चँवर। गरुडांकित=जिस पर गरुड़ का चिह्न बना है। राजदंड=शासन-व्यवस्था का प्रतीत दंड।

समवेत=एक साथ, एक स्वर से। गुरुभार=बड़ा भार। विचलित होना=डिगना। असीम अनुकम्पा=अपार दया, अत्यन्त कृशा। संस्थापक=स्थापित करने वाले। क्षमता=योग्यता। उपयुक्त=योग्य। उत्सर्ग=त्याग। यन्त्रणा=यातना, कष्ट। मर्मस्थल=हृदय, अन्तःकरण। सैकड़ों बिच्छुओं के डंक की चोट करेंगे=असह्य वेदना पहुँचायेंगे, अपार कष्ट देंगे। विषय पति=राज्यपाल, किसी प्रदेश का शासक। अन्तर्वेद=ब्रह्मावर्त्त, गङ्गा-यमुना का दुआवा। जगद्धात्री=विश्वमाता, जगज्जननी। आत्मबलि=अपने आप को न्यौछावर करना। अक्षम्य=जो क्षमा करने योग्य न हो। प्रवंचित करना=धोखा देना। वरण किया है=स्वीकार किया है, पति रूप में चुना है।

आज तू हार कर भी जीत गई—'परन्तु विजया ! तुमने यह क्या किया'; कहकर स्कन्दगुप्त ने यह प्रकट कर दिया कि स्कन्दगुप्त उससे प्रेम करता था, देवसेना पहिले ही से समझती थी कि स्कन्द विजया पर आसक्त है। भटार्क पर विजय को आसक्त देखकर उसने उपर्युक्त प्रश्न किया था। इसी कारण देवसेना ने विजया से कहा है कि हार कर भी तू जीत गई, क्योंकि भटार्क की

ओर अपना प्रेम लक्ष्य करने के कारण तो वह हार गई किन्तु देवसेना के समक्ष वह विजयी हुई थी; कारण स्पष्ट है। देवसेना स्कन्दगुप्त का प्रेम प्राप्त करने में असफल रही, वह अपना हृदय विजया को दे चुका था।

तृतीय अंक

(१)

शब्दार्थ—अर्गला=अरगल, बेंवड़ी, किवाड़ों के पीछे लगाने का मूसल, साँकल। अवतारणा=रचना, उत्पन्न करना। क्रूर कर्म की अवतारणा से=बुरे कामों का जाल रचकर। उग्रतारा=बौद्ध साधकों की एक देवी। साधना=उपासना, पूजा। दुर्वह=बहुत भारी। दुःवहन=जिसका वहन करना, उठाकर चलना कठिन हो। प्रवृत्ति=मन का झुकाव। उच्छृंखल=उद्दंड। परिचारिकाएँ=दासियाँ, सेविकाएँ।

उमड़····　　　　····　　　　····आँखों की ओर।

संदर्भ—यह विजया का गाना है।

भावार्थ—हे रूठे रहने वाले प्रेमी! आज मेरी आँखों से आँसू तुम्हारा अंचल भिगोने ने लिये अबाध रूप से उमड़ पड़े हैं। इस ओर अब तो एक बार घूमकर देख लो। ये मेरे हृदय की गुप्त मुसकान, तेरा यह संसार कल्पनामय है, मैं जानती हूँ कि मिलन का सुख मेरे भाग्य में नहीं बदा है। तुम्हारी राह देखते-देखते आँखें लाल हो गई हैं।

शब्दार्थ—दम्भ=घमण्ड, अहङ्कार, मिथ्याभिमान। मनोवृत्ति=इच्छा, मन की वृतियाँ। कशाघात=कश-आघात, कोड़े की मार। विपथगामिनी=उल्टे रास्ते पर चलने वाली। सखी-जनोचित=सखियों के लिये सर्वथा स्वाभाविक, जिसे सहेलियाँ साधारणतया पूछती हैं। कृत्या=दुष्टा, मा, कर्कशा स्त्री, एक भयंकर राक्षसी जिसे तान्त्रिक गण अनुष्ठान द्वारा अपने शत्रु का नाश करने के लिये भेजते हैं, यहाँ इसी राक्षसी से अभिप्राय है। विवेक=ज्ञान, भले-बुरे की पहिचान। अभिशाप=क्रोध, अनिष्ट। उन्मत्त=पागल। प्रलाप=बकवास। गाथा=कहानी।

परन्तु मैंने··· ···· ···रोड़े न बिछाए।

भावार्थ—मैंने तुम्हारे प्रेम को सफल बनाने का प्रयास किया। हृदय से चाहती रही कि स्कन्दगुप्त तुम्हें अपना बना ले।

शब्दार्थ—कामना-लता=मनोरथ रूपी बेल, इच्छाएँ।

शीघ्रता करने वाली··· ···· ···चाहती है।

भावार्थ—अरी, जल्दबाज स्त्री ! अपनी नासमझी को औरों के मत्थे मत मढ़। भटार्क की ओर चित्त लगाकर तूने स्वयं ही स्कन्दगुप्त का मन फेर दिया। दूसरों की रोटी छीनने के चक्कर में तूने अपने मुँह का कौर भी दे दिया। मैं प्रेम का सौदा नहीं करती।

विशेष—देवसेना के भाई बन्धुवर्मा ने विजय-प्राप्ति की खुशी में मालवा का राज्य स्कन्दगुप्त को दे दिया था। बन्धुवर्मा यदि चाहता तो उस समय स्कन्दगुप्त से देवसेना के विवाह का प्रस्ताव कर सकता था और स्कन्दगुप्त तैयार भी हो जाता। परन्तु ऐसा नहीं किया गया। मूल्य देकर प्रणय खरीदने की बात कहकर देवसेना ने इसी ओर संकेत किया है।

शब्दार्थ—योगाचार-संघ=योगाभ्यास करने का केन्द्र-स्थान (समिति)। अनुग्रह लाभ=कृपा-दृष्टि पाना। प्रज्ञा-पारमिता-स्वरूपा=जिसके स्वरूप को बुद्धिमान ही जान सकें। प्रज्ञा=बुद्धि। उत्सर्ग=त्याग। धर्माचरण=धर्म-आचरण, धर्म-कार्य। सुसम्पन्न=पूर्ण, भली प्रकार सिद्ध। प्रतिश्रुत=प्रतिज्ञा-बद्ध। नागपाश=साँपों का फन्दा। कुसुमकली=फूल की कली, यहाँ देवसेना की ओर संकेत है। प्रतारणा=छलना, वंचकता।

एक निर्मल··· ···· ···चक्की।

शब्दार्थ—बेचारी एक भोली-भाली अबला देवसेना का वध करने के लिये इतने षड्यंत्र की आवश्यकता।

(२)

शब्दार्थ—मेरे अस्तित्व से=मेरे कारण। धूमकेतु=पुच्छल-तारा, यह दिखाई दे तो लोग आशंका करने लगते हैं कि विश्व पर कोई बड़ा संकट आने वाला है। वन्या=अग्नि। क्रिया-कलाप=काम, कार्य समूह। शर्वरी=रजनी,

रात्रि। उल्कापिंड=टूटते हुए तारे। दिगन्त दाह=दिशाओं का जलाना। क्रूर आकृति=कठोर चेहरा। मूर्तिमान=साक्षात् राक्षस।

इस साम्राज्य···· ···· ····है।

सन्दर्भ—श्मशान वाले दृश्य में स्कन्दगुप्त का स्वगत कथन है।

व्याख्या—हृदय में, कुटुम्ब में, राज्य में, सब जगह अशान्ति ही है। ऐसी स्थिति में राजा बनकर करूँ भी तो क्या करूँ! सम्भव है, यह सब विद्रोह और अशान्ति अकेले मेरे ही कारण है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस सारी अशान्ति का कारण केवल मैं ही हूँ। मैं ही विश्व की शान्ति भंग करने वाला विनाशसूचक पुच्छल-तारे के रूप में उदय हो गया हूँ, जिसे देखकर सब लोग सशंक हो उठे हैं। यदि मैं न होता तो शायद चारों ओर शान्ति बनी रहती और विश्व के समस्त कार्य-कलाप यथावत् चलते रहते। परन्तु मैंने जो कुछ भी किया है, वह गुप्त-वंश की मार्यादा की रक्षा के हेतु ही किया है। मैं सर्वथा इच्छा रहित हूँ, स्वार्थ भावना का मुझ में लेश भी नहीं है। मैंने अपने हृदय का कोना-कोना छान मारा है, परन्तु उसमें स्वार्थपरता मुझे कहीं भी न दिखाई दी।

मुझसे गुप्त-राजवंश की शोचनीय दशा न देखी गई और मैं इन कार्यों में लग गया। मैं सर्वथा निस्पृह हूँ। कोई भी मेरे हृदय को देख ले, न उसे किसी से राग है और न किसी से द्वेष। मेरे हृदय का पारखी न हँस सकेगा, न रो सकेगा। विजया की याद मुझे अब भी विचलित कर देती है। मैंने उसे प्रथम बार अपनी सुखरूपी रात्रि के सन्ध्याकालीन नक्षत्र के रूप में देखा था, अर्थात् प्रथम दर्शन में ही मैं उसकी ओर आकर्षित हो गया था और सोचा था कि इस कोमलांगी सुन्दरी से प्रेम करके अपने जीवन की नीरसता और अन्धकार को दूर कर सकूँगा। परन्तु वही विजया अब कितनी भयंकर लगने लगी है। वह अब मुझे टूटते हुए तारे की भाँति प्रतीत होने लगी है और ऐसा लगता है कि वह गिरकर आग लगा देगी। टूटा हुआ तारा आकाश में उड़ते हुए अग्नि पुंज के समान लगता है। विजया उसी तारे के समान है। भटार्क के प्रति आकर्षित होकर वह टूटे हुए तारे के समान हो गई है। मेरी आँखों के सामने साक्षात् राक्षस प्रपंचबुद्धि भी भ्रमण कर रहा है।

विशेष—उक्त कथन में भावी घटनाओं की ओर संकेत है। देवसेना, विजया आदि की अव्यवस्थित दशा को अशान्ति कहकर व्यक्त किया गया है। स्कन्द विजया की याद करता है। विजया का रचा हुआ षड्यंत्र अब उसके सम्मुख उपस्थित होगा, जिसमें वह उल्कापिण्ड की भाँति कार्य करेगी। देवसेना को फाँसने वाला प्रपंचबुद्धि भी उसके सामने है ही।

शब्दार्थ—साधक=योगी, तपस्वी। वीभत्स=घृणित। मूक शिक्षक=मौन रहकर शिक्षा देने वाला, बिना कुछ कहे ही जो शिक्षा देता है। नश्वर=नष्ट होने वाला, अनित्य।

संसार का मूक शिक्षक··· ···· ···और कौन है।

संदर्भ—श्मशान वाले दृश्य में विजय के प्रति देवसेना का कथन है।

भावार्थ—श्मशान हमारे लिए एक मौन रहकर शिक्षा देने वाले गुरु का कार्य करता है। वहाँ पहुँचते ही हमारे हृदय में विरक्ति के भाव जाग्रत होने लगते हैं, सभी कह उठते हैं—इस संसार में क्या रखा है, कौन किसका है? चार दिन का मेला है, आदि। इस नाशवान् जगत का जीता-जागता रूप हमारी आँखों के सामने उपस्थित हो जाता है। क्षणिक जीवन की विलीनता का ज्ञान कराके वह हमारी अन्तरात्मा को पाप-कर्म और विषय-लोलुपता की ओर से विरक्त बनाता है तथा विचारधारा को उच्च भावों की ओर मोड़ देता है। इसे तो सुन्दर और श्रेष्ठ स्थान मानना चाहिए। भाव एवं विचार-शुद्धि के लिए श्मशान से बढ़कर और कोई दूसरा अच्छा स्थान नहीं हो सकता।

शब्दार्थ—अतीत=गत, बीता हुआ। तुषार=पाला। बुल्ले=बुलबुले। ढोके=किनारे, नोकें। मीड=स्वरलहरी, संगीत में दो स्वरों के मध्य का सन्धि भाग, दो स्वरों का ऐसा मिलन जिसमें दोनों स्पष्ट रहें। भाव-विभोर=विचारों में डूबी हुई, भाव-मग्न। कुरंगी-सी कुमारी=हरिणी-सी आखों वाली देवसेना। सिद्धि योगी=कापालिक। कामनाएँ विस्मृति के नीचे दबा दी गई=समस्त इच्छाएँ भुला दी गई। कुतूहल=खिलवाड़, कौतुक, क्रीड़ा। ललाट-लिपि=भाग्य रेखा। सिहर उठना=काँप उठना। कापालिक=अघोरी, वाममार्गी साधक, तान्त्रिक, साधु जो नर-कपाल रखते और मद्य-मांस खाते हैं।

(३)

शब्दार्थ—वंक्षु=आक्सस नदी जो हिन्दूकुश पहाड़ से निकलकर अरब-सगार में गिरती है। स्वर्ण प्रभा=सोने जैसी कान्ति। निर्वीर्य=दुर्बल। निरीह=अबोध, भोले। दौवारिक=द्वारपाल, दरवान। स्कन्धवार=छावनी। नगरहार=जलालाबाद के पास एक पुराना शहर। परिषद्=समिति, सभा। प्रचुर=बहुत-सा, घना। मणिरत्न-भण्डार=मड़ियों और रत्नों से भरा हुआ खजाना।

दुर्गपति=किले के मालिक। रहस्य कुटिल=टेढ़ा, कपटभरी। आत्मसात्=वश में, अधीन। प्रवंचित हुए=धोखा खाया, ठग लिये गये। प्रमाण-पत्र=सनद। सामन्त=सरदार। परिचालन करूँगा=सेनापति बनूँगा, संचालन करूँगा। मंजूषा=पिटारी।

याज्ञिक=यज्ञ-सम्बन्धी, यज्ञ की। गिरिव्रज=मगध-नरेश जरासन्ध की राजधानी। प्रस्तावना=योजना, तैयारी, आयोजन। आयोजनाओं=तैयारियों। आपानक=मदिरा। आदनिक=भील-कोल आदि असभ्य जातियाँ।

नये-नये ......पेट नहीं भरना=विलासिता के जितने ही नये और अधिक सामान जुटाओ, विलास करने की इच्छा उतनी ही अधिक बढ़ती जाती है। किनने ही प्रकार से विलास करो, तृप्ति होती ही नहीं। नूपुर=घुँघुरू। जाग्रत=जगे हुए, उन्नत, जीवनमय। कुलवधू=कुलीन स्त्री, घर की स्त्री। वेश्या=रंडी। निर्लज्ज आमोद=बेशर्मी के साथ नाच-रंग मनाना। आमोद=मौज-बहार, तफरीह, दिल बहलाव। नासीर=अग्रगामी, सेनापति के आगे चलने वाली सेना। नायक=अधिपति, सरदार।

(४)

शब्दार्थ—विषाद=दुःख। प्रस्तावना=प्राक्कथन, प्रारम्भ। पारी=बारी, नम्बर। हरी-हरी कोंपलों की टट्टी में फूल खिलना=नये मनों के मिलने से आनन्द का विकास होना। जिस प्रकार हरी कोमल पत्तियों के बीच फूल शोभायमान होता है उसी प्रकार देवसेना और स्कन्दगुप्त के हर्ष से हरे मनों में प्रेम-पुष्प विकसित होने लगा है। आघात=आक्रमण। कठोर कटाक्षों को

सहने की शक्ति मुझ में नहीं है। मेरा हृदय बड़ा कोमल है। नीरव—नि:रव, नि:शब्द, शान्त, मौन।

जब हृदय में रुदन···· ···· ····मिला लेती हूँ।

सन्दर्भ—देवसेना स्कन्दगुप्त से प्रेम करती है, परन्तु वह इस प्रेम को प्रकट नहीं होने देती है।

भावार्थ—रोने के दु:ख को गाकर हलका कर लेती हूँ। जब हृदय दु:ख से भर जाता है तो कुछ तान छेड़कर चित्त बहला लेती हूँ।

यह एक क्षण ··· ···· ····करेगा।

सन्दर्भ—देवसेना रोकर अपनी विरह-व्यथा को वहा देना चाहती है।

भावार्थ—यह थोड़ी देर का रोना मेरे लिए बड़ा ही सुखदायी होगा।

शब्दार्थ—अनुरोध=आग्रह, हठ। प्रणय-कलह=प्रेम के झगड़े।

आँखें ··· ···· ····बैठती हूँ।

सन्दर्भ—सखी के प्रति देवसेना का कथन है। वह स्कन्द के प्रति अनुरक्त है। वह चाहती है कि उसको भूल जाय, परन्तु विवशता का अनुभव करती है।

व्याख्या—प्रेम का झगड़ा मेरी आँखों ने उत्पन्न किया है (आँखों द्वारा ही स्कन्द को देखकर प्रेम का रोग उत्पन्न हुआ), चित्त पर उसका उत्तेजक प्रभाव पड़ा और मन उसे अधीरतापूर्वक चाहने लगा। किन्तु कुल-मर्यादा, स्त्री सुलभ लज्जा आदि को ध्यान में रखकर बुद्धि फटकार लगाती है, कहती कि इस तरह मन देना ठीक नहीं, संयम रखना चाहिए। परन्तु कान उसकी एक नहीं सुनते, अर्थात् बुद्धि द्वारा बताई गई संयम वाली बात कौन सुने और उसका किस पर असर हो ? भावना के सम्मुख बुद्धि निष्क्रिय पड़ गई है। मैं अपने मन, चित्त, बुद्धि, आँखों आदि सबको समझाती रहती हूँ और चाहती हूँ कि इन्द्रियों का विरोध समाप्त हो जाय। सखी ! मैं इन्हें स्वाभाविक दशा में लाकर मन को समझाती हुई झगड़े वाले शरीर रूपी कुटुम्ब में समस्त इन्द्रयों रूपी परिवार को सम्हाले बैठी हूँ, अर्थात् मन को बार-बार समझाती रहती हूँ और सावधान बनी बैठी हूँ।

नोट—यहाँ प्रेम दशा में इन्द्रियों की दशा तथा मन की अवस्था का सुन्दर द्वन्द्व चित्रित किया गया है।

शब्दार्थ—कूल=किनारा। तुमुल=ऊँची। प्रचण्ड=तेज। नाव चलानी होगी=जीवनयापन करना होगा, पार जाना होगा। तरी=तल, पैंदा। झड़=झड़ी। खोलना=पार जाने के लिए नाव खोलना, नाव को स्वयं खड़ा करना। आलस=तत्त्व रहित, असार।

माझी···· ···· ···**झटके झेलोगे**।

सन्दर्भ—देवसेना के प्रेममार्ग की कठिनाइयों को लक्ष्य करके उसकी सखी गाती है।

व्याख्या—हे केवट ! क्या तुम में इतना साहस है कि इस नाव को पार लगा दो, इसकी तली टूटी हुई है। इसमें पानी भर जाता है। इसमें अनेक यात्री भर रहे हैं और उस पर इस समय वर्षा की झड़ी लग रही है। ऐसी दशा में क्या तुम नाव खोलकर उस पार जाने की सोच सकोगे।

निस्सीम नीले बादलों की छाया में, जल-समूह को छल माया में क्या अपने बल को आजमाओगे ? किनारा दूर है, पता नहीं किधर है ? उन्मत्त ऊँची लहरें पृथ्वी और आकाश के छोर को चूमती हैं, अर्थात् ऊँची लहरें दूर-दूर तक जोर के साथ ऊपर उठ रही हैं। क्या तुममें इन लहरों के थपेड़े झेलने की शक्ति है ?

शब्दार्थ—वीरगति को प्राप्त=मर गये। प्रवीर=वीर श्रेष्ठ। विक्रमादित्य =उज्जैन के प्रतापी राजा जिनके नाम से विक्रम संवत् चलता है, वैसे इसका शब्दार्थ है—सूर्य के सदृश्य तेजस्वी और प्रतापी। आततायी=दुष्ट, अत्याचारी। लोहित्य=ब्रह्मपुत्र नदी। स्वच्छन्दतापूर्वक=निर्भयता के साथ। सामवेद में वेदकालीन संगीत एकत्र है।

मन्दोदरी=रावण की पत्नी, मय दानव की पुत्री। त्रिजटा=एक राक्षसी जो अशोकवाटिका में वन्दिनी सीता के साथ सहानुभूति रखती थी। शब्दार्थ—जो तीन चोटियाँ करती हो, त्रि=तीन, जटा=चोटी। कुण्डली=जन्मपत्री, टीपना। शिखर=चोटी। चाणक्य=राजनीतिज्ञ ब्राह्मण, चन्द्रगुप्त मौर्य का

परामर्शदाता और उसे राज्यसिंहासन पर बैठाने वाला। नन्द द्वारा अपमानित होने पर उसने चोटी खोलकर प्रतिज्ञा की थी कि जब तक नन्द वंश का नाश न करा दूँगा तब तक चोटी न बाँधूँगा और उसकी यह प्रतिज्ञा पूरी भी हुई। फलस्वरूप उसने गुप्त साम्राज्य का अधिष्ठाता चन्द्रगुप्त मौर्य को बनाया। इसकी कूटनीति प्रसिद्ध है, सफल कूट-नीति चाणक्य-नीति कहलाती है। इसका एक दूसरा नाम कौटिल्य भी है, जो 'कुटिलता' से बना है। कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' अपने विषय का एक प्रसिद्ध अधिकारपूर्ण प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है।

तिथि=चन्द्रमान, मास की तारीख। पारण=व्रत के खोलने का भोजन, व्रत के दूसरे दिन का प्रथम भोजन तथा तत्सम्बन्धी कृत्य। पुण्यकाल=शुभ अवसर, सुन्दर मुहूर्त।

(५)

शब्दार्थ—विश्वविजयी=संसार को जीतने वाली। सुर-सुन्दरी=देवताओं की स्त्रियाँ। नन्दन=देवोपवन, इन्द्र की पुष्पवाटिका। असम=अतुल्य, जिसकी बराबरी न हो। बर्वर=अत्याचार करने वाले, नृशंस। प्रत्यावर्तन=प्रति-आवर्तन=लौट आना।

तुम्हारी··· ···· ···नहीं है।

संदर्भ—गांधार की घाटी के रणक्षेत्र में बन्धुवर्मा अपने सैनिकों को प्रोत्साहित करता है।

भावार्थ—वीरो, तुम्हारी वीरता की कहानियाँ स्वर्गलोक में भी गाई जायेंगी। संसार को जीतने की तुम्हारी वीरतापूर्ण कहानी देवताओं की स्त्रियाँ नन्दन वन में अपनी वीणाओं पर अलापेंगीं, तुम्हारी यशकीर्ति स्वर्ग में भी गुंजरित होगी। तुमने क्षमा और दया सहित अपने शस्त्रों के रण-कौशल से आततायी हूणों को यह स्पष्ट बता दिया कि केवल कठोरता और पाषाणहृदयता के बल पर ही युद्ध में विजय प्राप्त नहीं होती। जिनके डर के मारे सारा संसार, रोम का राज्य तक काँपता है, जिन्होंने समस्त विश्व को अपने पैरों तले रौंद डाला है, वे हूण आज तुम्हारी वीरता के कायल हैं और उन्हें स्वीकार

करना होगा कि भारत के वीर सैनिक अजेय हैं। समझ लो, इस युद्ध में मृत्यु निश्चित है, इसमें जाने वाला घर लौटकर न आयेगा। जो इस शर्त पर तैयार हो, युद्ध के लिये आगे बढ़े अन्यथा अपने घर लौट जाये।

शब्दार्थ—साधु=धन्य, बधाई। कुभा=काबुल नदी। मन्त्रणा=योजना, राय, मंतव्य। चक्रपालित=पर्णदत्त का पुत्र जो राज्यपाल तथा व्यूह का रक्षक सेनापति था। नासीर=सेना का अग्रभाग। प्रतारणा=धूर्तता, छल। कृतघ्न=नमक हराम, उपकार न मानने वाला। दुराचारी=पापी।

(६)

शब्दार्थ—कूट मन्त्रणा=चालबाजी। प्रवंचना=छल। गिरिसंकट=पर्वतीय युद्ध। नगरहार=जलालाबाद के पास एक पुराना शहर। गान्धार युद्ध=गांधार देश में होने वाला युद्ध। वीर हृदय=वीरोचित हृदय वाले। शोक-मुद्रा=दुःख में डूबी हुई शक्ल। प्रचारित करना=फैलाना। बंध=बाँध, पानी रोकने का बाँध। परिचालन=सेनापतित्व, संचालन। विजय-नाद=विजय सूचक हर्ष-ध्वनि। अस्त्र-वर्षा=हथियारों की वर्षा।

चतुर्थ अंक

(१)

शब्दार्थ—प्रकोष्ठ=कोठा, फाटक के पास की कोठरी। पासा पलटना=दाँव पलटना, गतिविधि बदल देना, स्थिति को उलट देना।

नहीं तो……भंग कर दिया जायगा=पुरगुप्त को राजा बनाने का तुम्हारा मनोरथ विफल कर दिया जायेगा।

रमणी=स्त्री। पुरगुप्त के ऊँचे सिंहासन की सीढ़ी है=पुरगुप्त को राज्य का अधिकार दिखाने वाला प्रमुख साधन है। मेरे कार्य-साधन का अस्त्र है=मेरा काम बनाने का एक साधन है।

प्रणय-वञ्चिता=जिसका प्रेम छीन लिया गया हो, जो पति या प्रेमी से अलग कर दी गई हो। हृतसर्वस्वा=जिसका सब कुछ हर लिया गया हो। विस्फोट=फटना। अनल-शिखा=आग की ऊँची लपट। बिलास-जर्जरित

मन=जो मन विलास करते-करते क्षीण हो गया हो। वांछनीय=अपेक्षित इष्ट, चाहा हुआ। कुमन्त्रणाओं=कुचक्रों, घातक योजनाओं। तीखो कोर=टेढ़ी नजर।

प्रणय-वंचिता····　　····　　····रजहरदार होती है।

सन्दर्भ—अनन्त देवी के प्रति विजया का कथन है। अनन्तदेवी को अपने प्रेमपात्र भटार्क के प्रति अनुरक्त देखकर वह आपे से बाहर हो जाती है।

व्याख्या—वे स्त्रियाँ, जिनका प्रेम-पात्र उनसे छीन लिया गया हो, वज्र से भी अधिक कठोर बन जाती हैं। प्रेम-मार्ग में रुकावट डालने वाले से वे बड़ी ही दृढ़ता के साथ बदला लेती हैं। स्त्री के लिए सौत से अधिक बुरी संसार में अन्य कोई वस्तु नहीं। उसके लिए अबला सबला बन जाती है, उसका नाश करने के लिये वह पहाड़ी नदियों से भी अधिक भयानक वेग धारण कर लेती है, ज्वालामुखी पर्वत से निकलने वाले उद्गार से भी अधिक भयंकर तथा प्रलयकालीन अग्नि की लपटों से भी अधिक ध्वंसकारी एवं भयानक बन जाती है।

शब्दार्थ—कीट पतंग=कीड़े-मकोड़े। दावाग्नि=वन को जला डालने वाली अग्नि। गर्व शैल-श्रृंग=गर्व रूपी पर्वत की चोटी। गर्व शैल-श्रृंग का वज्र=गर्व रूपी पर्वत के शिखर को चूर-चूर कर देने वाला वज्र, गर्व को भंग कर देने वाला। आत्मीय=अपने निजी, कुटुम्बी। पदच्युत=पद से हटाये गये।

दुर्बल····　　····　　····बलि हो।

सन्दर्भ—यह विजया का स्वगत कथन है। वह भटार्क के प्रति अपने प्रणय निवेदन में शीघ्रता कर देने के कारण अपनी स्थिति को विषम बना लेती है। इसी कारण वह आतमग्लानि से भर जाती है।

भावार्थ—स्त्री का हृदय बड़ा ही कमजोर होता है, वह प्रति क्षण बदलता रहता है, तनिक से दुःख से व्याकुल और तनिक से सुख से सुखी और ठण्डा (छन में रोवे, छन हँसे) जरा-सी बात पर क्रोधित होकर वह अपने सगे-सम्बन्धियों को अपशब्द कहने लगती है, उन पर जहरीले व्यंग-बाण छोड़ने लगती तथा उनका बुरा चाहने लगती है। जो उसके प्रेम, प्यार और दुलार के

भूखे हैं, उनका वह जरा-सी बात पर अपमान कर देती है। और जो पराये हैं, उनकी चिकनी-चुपड़ी बातों में आकर उनके पीछे मरने को तैयार हो जाती है। सचमुच नारी के हृदय में बड़ा जहर भरा है। वह बड़ा ही ओछा और छोटा है, वह क्षण-क्षण बदलता रहता है। हम (नारियाँ) अपरिचित व्यक्तियों की गलतियों को क्षमा कर देती हैं और उनसे सहानुभूति रखने लगती हैं परन्तु याद रखना चाहिए कि उनसे हमारा किसी प्रकार का स्वार्थ नहीं होता है। यदि उनकी गलती के कारण हमारी कोई हानि होती होगी तो हम क्षमा करने तथा सहानुभूति दिखाते हुए चार बार सोचेंगी और झिझकेंगी। सच्ची क्षमा और वास्तविक उदारता तो वह है कि जहाँ हमारे स्वार्थ को ठेस लगती है वहाँ अपने स्वार्थ को ठेस लगने पर भी हम क्षमाशील बना रहें, तभी यह कहा जा सकता है कि हमारा मन उदार है और हमने सच्ची क्षमा और सहानुभूति दिखाई है।

शब्दार्थ—दम्भ=ढोंग, पाखण्ड। अनियन्त्रित=उच्छृङ्खल, अनुशासनहीन, जिस पर किसी का अंकुश न लगा हो। ठीकरे=टुकड़े, मिट्टी के टुकडे यहाँ रुपये-पैसे से तात्पर्य है। शङ्का से=स्कन्दगुप्त को प्रेम करने के सन्देह से। दूसरे को=भटार्क को। प्रतारणा=चक्कर, कपट, जाल। चक्रव्यूह=सेना का घेरा, कुण्डलाकर स्थिति, चक्कर। प्रशस्त=चौड़ा। राजमार्ग=सड़क, राज-महल को जाने वाला सुन्दर स्वच्छ मार्ग। कटिबद्ध=तैयार, कमर कस कर अच्छी तरह तैयार।

(२)

शब्दार्थ—भावनिधि=भावों का समुद्र। मधुर मुरली=वंशी की मीठी तान। रंगों=नसों। नील नीरद=नीले आकाश, पानी भरे नीले बादल। मलयानिल=मलयगिरि के चन्दन-वन से आने वाला शीतल-मंद-सुगन्धित वायु का हल्का झोंका। क्षुद्र कलिका=हृदय की छोटी-सी कली। मर-मर कर जीना=प्रेम में यही होता है। नारकीय=घृणित, निन्दनीय, नरक में ले जाने वाला। देव-प्रतिमा=देवी स्वरूप, देवी की मूर्त्ति जैसी।

क्या कई.... ... **....वह कहाँ है ?**

भावार्थ—मैं क्या बताऊँ, स्कन्दगुप्त कहाँ है ? क्या वह कुभा में डूब गया, या वर्फ में समा गया। पूछो इन्हीं से कि वह कहाँ है ?

शब्दार्थ—गरिमा=गौरव, महिमा। दर्प=घमण्ड। पामर=नीच, पापी। नियामक=वताने वाला। सूतिका गृह=जच्चा खाना, सोबड़। सूतिका-गृह में ही तेरा गला घोंट कर क्यों न मार डाला=तुझे पैदा होते ही क्यों न मार डाला ? प्रायश्चित्त=पाप से छुटकारा पाने का उपाय। दुर्दैव=दुर्भाग्य, दिनों का फेर। पुण्याचरण=पवित्र आचरण।

(३)

शब्दार्थ—अपहृत=छीना हुआ, हरण किया हुआ। विधान=राज्य-नियम। कर=टैक्स। भृत्ति=वेतन, तनख्वाह। भरना=पूरा होना। राज्य-कोष=राज्य का खजाना। अंतरंग=निकट के, खास, घनिष्ठ। गुप्तचर=दूत, गुप्त वातों का पता लगाने वाले (सी० आई० डी)। कोषाध्यक्ष=खजांची। अवगुंठन=घूँघट। भ्रम-निवारण=सन्देह दूर करना। आराध्य=पूज्य, जिसकी मैंने आराधना की। मलिन=मैली, पापमय। अभिशाप=दोषा-रोपण, शाप। अम्लान=स्वच्छ, पवित्र।

आज तक मैं···· ···· ····बेच डाला।

संदर्भ—मालिनी के प्रति मातृगुप्त (कालीदास) का कथन है।

व्याख्या—मैं आज तक तुम्हें प्राप्त करने की साध लगाये बैठा था। तुम्हारी याद मेरे दिल की कसक बनी हुई थी, मैं उसे इस तरह अपने हृदय से लगाये बैठा था जैसे एक गरीब आदमी अपनी थोड़ी-सी पूँजी प्राणों से भी अधिक सुरक्षित रखता है। अरी मालनी ! मैंने गलती की। मेरे भाग्य रूपी आकाश में उषा की भाँति सर्वप्रथम तुम्हीं ने दर्शन दिए थे, अर्थात् जवानी के आते ही मैं तुम्हें अपना बना चुका था। अलसाते हुए मेरे यौवन ने सर्वप्रथम तुम्हारी छवि की लालिमा को ही अपने हृदय का प्रकाश समझ लिया था। उस समय मुझ गरीब के संसार में मानो तुमने स्वर्ण की वर्षा की थी। परन्तु मालनी, स्वर्ण लुटाने वाली मालिनी ! तुम स्वयं सुवर्ण के हाथों बिक गईं। तनिक से प्रलोभन में आकर तुमने अपना सुन्दर शरीर, स्वर्गिक पवित्र मन, सब

कुछ दे दिया। जाओ मालिनी, तुमने अच्छा ही किया। मुझ अभागे को कुछ न समझा। राज्य के खजाने से अपनी लुटी हुई सम्पत्ति ले लो।

शब्दार्थ—दृढ़=कठोर। धुँधली होकर=कलुशित होकर। उसमें ज्वाला न होगी, धुँआ उठेगा=वह स्मृति तुम्हें प्राप्त करने के लिए मुझे प्रोत्साहित न करेगी (उसमें वेग न होगा)। वस, यह एक मीठी कसक की भाँति यथासमय तुम्हारी याद दिलाती रहेगी। जिस प्रकार धुँआ यह बताता रहता है कि यहाँ अग्नि है, अथवा किसी समय यहाँ तेज अग्नि थी, परन्तु अब वह बुझ गई है। ज्वाला शान्त है, केवल उसकी भभक शेष है।

पंचनद=पाँच नदियों वाला प्रदेश, पंजाब। पाँच नदियों के नाम ये हैं—झेलम, चिनाव, व्यास, रावी और सतलज। नीहार-कणिकाओं=ओस की बूँदों। सप्तसिंधु=सात बड़ी नदियाँ। निर्वासित=देश से निकाले हुए।

शेष=शेषनाग। पर्यङ्क=पलंग। शायी=सोने वाले। शेष-पर्यंकशायी=शेषनाग की शय्या पर सोने वाले, अर्थात् विष्णु भगवान्। सुषुप्ति=घोर निद्रा, गहरी नींद, वेदान्त की भाषा में अज्ञान, चार अवस्थाओं में से एक। चित्त की चार अवस्थाएँ होती हैं—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। चित्त की वह अनुभूति या वृत्ति जिसमें जीव नित्य ब्रह्म की प्राप्ति करता हुआ भी उसका ज्ञान नहीं रखता (यह परिभाषा पातंजलि योग के अनुसार है)। राजि=पंक्ति। बेला भूमि=समुद्रतट की भूमि। उद्बोधन के गीत=चैतन्य करने वाले गीत। प्रवीर=वीर-श्रेष्ठ।

आलस्य-सिन्धु में शेष-पर्यंकशायी सुषुप्तिनाथ जागेंगे=शेषनाग की शय्या पर सोने वाले घोर आलसी विष्णु भगवान् की निद्रा भंग हो जायगी, अर्थात् इतना पापाचार बढ़ जाने पर भी भगवान् हमारी पुकार सुनेंगे और अवतार लेंगे।

(४)

वयस्क=सम आयु वाला, मित्र, सखा। आवद्ध=बँधी हुई। विकीर्ण करना=फैलाना, प्रसारित करना। शृङ्ग=पर्वत शिखर। सबसे ऊँचा शृङ्ग—हिमालय। सिरहाने=उत्तर में। सबसे गम्भीर तथा विशाल समुद्र=सबसे गहरा तथा बड़ा सागर, यहाँ अभिप्राय 'हिन्द महासागर' से है। चरणों में=

दक्षिण दिशा में। महावोधि-विहार=बौद्ध आश्रम। संघ महास्थविर=संघ के प्रधान। निर्वाण लाभ=मोक्ष प्राप्ति, ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति, मृत्यु। उपयुक्त=योग्य। विरक्त=वैरागी, संसार-त्यागी।

चतुष्पथ=चौराहा। चैत्य=भवन, मन्दिर, गाँव में वह पेड़ जिसके नीचे ग्राम देवता की वेदी या चबूतरा हो, किसी देवी-देवता का चबूतरा, भिक्षुमठ, विहार (यहाँ इसी अन्तिम अर्थ विहार से तात्पर्य है)। उत्तेजित=आवेश में भरे हुए।

(५)

अन्तर विद्रोह=आपसी कलह और झगड़े। कर्णधार=खिवैया। पोत=जहाज। क्षुद्र बातें=छोटी बातें। विताडित=पराजित, हराये हुए, हार खाकर भागे हुए। पुनः=फिर। यज्ञयूप=यज्ञ स्तम्भ, यज्ञ के खम्भे जिसमें बाँधकर बलि-पशु की बलि दी जाती है। अवैध=बेजा, कायदे के खिलाफ, जो नियमानुसार न हो। हीन=बुरी, दयनीय, गिरी हुई। विश्वनियंता=विश्व का नियन्त्रण करने वाला, अर्थात् परमेश्वर। मस्तिष्क=दिमाग, विचार-शक्ति।

चरणों में न बैठेगी=सेवक न बनेगी। विधाता=ब्रह्मा, परमेश्वर। निरीह=निरपराध। हिंसा नीति=जीवों को मारने की नीति। अहंकार-मूलक=अभिमान से उत्पन्न। आत्मवाद=आत्मा को प्रधानता देने वाली विचारधारा। तथागत=बुद्ध भगवान्। जम्बूद्वीप=भारत। ज्ञान-रणभूमि के प्रधान मल्ल=ज्ञान-चर्चा रूपी युद्ध के मुख्य योद्धा, ज्ञान-चर्चा में सबको परास्त करने वाले, (यहाँ 'गौतम बुद्ध' से अभिप्राय है)। दुर्दान्त=प्रचंड, प्रबल। पिपासा=प्यासा। रुधिर=रक्त, खून। विश्वात्मवाद=समस्त प्राणियों में एक ही आत्मा को मानने वाला सिद्धान्त। अनात्मवाद=आत्मा को ईश्वर का स्वरूप न मानने वाली विचारधारा। नेति=न+इति=यह नहीं है। कथित=कहा हुआ। हठी=जिद करने वाले। शिथिल=ढीला, बेकार।

अहंकार ··· ··· ····है।

संदर्भ—ब्राह्मणों और बौद्धों के विरोध को समाप्त करने के लिए धातुसेन उन्हें समझाता है कि दोनों धर्मों में सैद्धान्तिक दृष्टि से कोई भेद

नहीं है । बौद्धों की अहिंसा वस्तुतः ब्राह्मण धर्म के विश्वात्मवाद का ही व्यावहारिक रूप है ।

व्याख्या—गौतम बुद्ध ने वैदिक (आर्य) धर्म के आत्मवाद (अहं ब्रह्मास्मि वाले सिद्धान्त) का विरोध किया, उसे अहंकार से उत्पन्न बताया, किन्तु विश्वात्मवाद अर्थात् विश्व में व्याप्त आत्मवाद को वह न मिटा सके । उनका अहिंसा वाला सिद्धान्त तो इसी विचारधारा पर स्थित है कि समस्त प्राणियों में एक ही आत्मा व्याप्त है । आर्यों के उपनिषदों में परमात्मा के स्वरूप को नेति-नेति कहकर निरूपित किया गया है । गौतम को आत्मवाद के विरुद्ध जाने में इससे सहायता मिली, क्योंकि जब उस ईश्वर का कोई स्वरूप ही नहीं है तो आत्मा को ही उसका स्वरूप क्यों कर कहा जाय ? इसी सिद्धान्त को मध्यमा-प्रतिपदा कहा जाता है । व्यक्तिगत रूप से देखने पर आत्मा के समान कुछ भी नहीं ठहरता है । (व्यष्टि जो आत्मा है, समष्टि में वही परमात्मा अथवा विश्वात्मा है) ।

शब्दार्थ—उपजीविका=जीविका, वृत्ति, अवलम्ब । वर्ण=चार वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, जनसमूह के चार विभाग । अर्थकारी=लाभ कराने वाली । दूसरों की अर्थकारी वृत्तियाँ=अन्य जातियों के धन कमाने वाले रोजगार या कार्य । दक्षिणा=दान । कामना=विविध सुखों की प्राप्ति की इच्छा । पुष्कल=प्रचुर, बहुत अधिक धन पैदा करना । पारस्य देश=फारस देश की । प्रभात=सवेरे । गोनिष्क्रय=गोदान, निष्क्रय का अर्थ बेचना तथा बदला है । गौण=अप्रधान, कम महत्त्व की वस्तु । धनोपार्जन के सम्मुख वर्ण व्यवस्थानुसार निर्धारित कर्त्तव्य भुला दिये गये । पाशव बल=पशु बल, शारीरिक शक्ति, भौतिक बल । नास्तिक=ईश्वर को न मानने वाले । प्रच्छन्न=गुप्त, छिपे हुए । ऋत=सत्य, उच्च । अमृत=जीवनदायक, यज्ञ के पीछे बची हुई सामिग्री । अग्निशाला=यज्ञशाला ।

ऋतु और अमृत-वृत्ति··· ···· ····निर्वाह करते हुए ।

संदर्भ—यह धातुसेन का कथन है । वह ब्राह्मण धर्म के वास्तविक स्वरूप की व्याख्या करता है ।

भावार्थ—वे ब्राह्मण यज्ञादि करके तपस्या का जीवन बिताते थे। उनका जीवन सरल और पवित्र था तथा यज्ञ से बची हुई सामग्री को प्रसाद के रूप में पाकर वे अपना जीवन-निर्वाह इस मंगल-कामना के साथ कर लेते थे कि सब सुखी रहें, सब नीरोग रहें, सब अच्छे काम करें तथा सबका कल्याण हो, कोई दुखों से दुखी न हो।

शब्दार्थ—समयानुकूल=समय के अनुसार। वृद्धि=बढ़ती। विवृत होना=विस्तृत होना, फैलना। परम्पराओं=रूढ़ियों। आगन्तुक=नये आने वाले।

मनुष्य···· ···· ····मुँह न फेरना चाहिए।

संदर्भ—बलि के प्रश्न को लेकर ब्राह्मण और बौद्ध परस्पर लड़ने के लिए कटिबद्ध हैं। धातुसेन और प्रख्यात कीर्ति उन्हें धर्म का मर्म समझाकर यह कहते हैं कि वे धर्म के तत्त्व को पहचान कर हठधर्मी छोड़ दें। यह प्रख्यात-कीर्ति का कथन है।

व्याख्या—मनुष्य में बहुत-सी कमियाँ होती हैं और वह पूर्ण नहीं कहा जा सकता। उसके द्वारा जो भी कार्य होगा, वह पूर्ण न होगा, क्योंकि वह कर्त्ता ही स्वयं अपूर्ण है। इसी कारण वह सत्य का प्रकाश भी अपूर्ण ढंग से कर सकता है। प्रत्येक वस्तु के विकास, क्रमिक उन्नति का यही भेद है कि अपूर्ण होने पर उसे पूर्ण बनाने का प्रयत्न सदैव होता रहता है। इसी कारण मनुष्य यह समझकर कि मेरा ज्ञान अधूरा है, अपनी उन्नति का प्रयत्न करता है। अगर ऐसा न हो तो मनुष्य का ज्ञान बढ़ ही न सके। धर्म फैलाने वाले अपने में पूर्ण न होने के कारण ही बहुत-सी इधर-उधर की चली आती हुई झूठी-सच्ची रूढ़ियों का सहारा ले लेते हैं। समय तथा देश की स्थिति के अनुसार सभी धर्मों में परिवर्तन हुए हैं और आगे भी होंगे। हम लोगों को जिद छोड़कर जो भी नई चीज और नई बात मिले, उसे ग्रहण करना चाहिए और इस प्रकार अपने ज्ञान-भण्डार की निस्संकोच वृद्धि करते रहना चाहिए। अपने ज्ञान की वृद्धि और धर्म के लिए हमें प्रत्येक नवीन विचारधारा से लाभ उठाना चाहिए। विकास और परिवर्तन ही उन्नति और वृद्धि है।

शब्दार्थ—अपने उदार·······कोमल करें=अपने श्रेष्ठ विचारों द्वारा मनुष्यों के दुःख-दर्द और खिन्नता को दूर करें। मानव=मनुष्यों। पथ =

रास्ता । कठोर=कड़ा । कोमल=मुलायम । प्राणीमात्र=जीव-मात्र, पशु-पक्षी, मनुष्य आदि समस्त जीवधारी । बोधिसत्त्व=बुद्धत्व प्राप्त करने का अधिकारी । धर्मोन्माद=धर्म-उन्माद, धर्म का जोश (पागलपन) । सन्नद्ध=तैयार ।

(६)

सुकवि···· ···· ····जाएँ ।

[भारत की दशा की ओर संकेत करके विजया कवि का कर्त्तव्य बता रही है ।]

भावार्थ—हे श्रेष्ठ कवि ! तुम संयोग-शृङ्गार सम्बन्धी बहुत कविताएँ लिख चुके । नायक तथा नायिकाओं को मिलाने वाले, कोमल कल्पनाओं के सुन्दर गीत तथा प्रेम के उलाहने आदि के गीत गाना अब बन्द करो । इस कुसमय में वे अच्छे नहीं लगते । इस समय तो आवश्यकता है ऐसे गीतों की जो भारतवर्ष में एक नवीन जीवन फूँक दें, सोते हुए भारतवासियों को जगा दें । यह समझ-कर कि एक-न-एक दिन तो मरना ही है, क्यों न देश-सेवा करके ही अमर हो लिया जाये. देश पर तन-मन-धन, सब कुछ न्यौछावर करने के लिए तैयार हो जायँ । जैसे—'सरयू समय यही है कुछ कर लो देश-सेवा. दो दिन की जिन्दगी है, इसका नहीं ठिकाना ।'

शब्दार्थ—मुचकुन्द=एक प्रबल राजा जिसने देवासुर संग्राम में इन्द्र की सहायता की थी । मुचकुन्द की मोह-निद्रा=संसार में प्रलय करके भगवान् बालमुकुन्द कमल में शयन करते हैं । यह निद्रा बहुत समय बाद टूटती है । इसी प्रकार वर्षों से सोये हुए भारतवासियों को आज पर्वतों को भी हिला देने वाले समुद्र को विकम्पित कर देने वाले संगीत से जगा देना है, तभी इनकी यह भयं-कर मोह की नींद टूटेगी ।

बिन्दु=बूँद । मेघ-समारोह=बादलों का समूह । नीहार-कणिका=ओस की बूँद । अदृश्य लिपि=दिखाई न देने वाली लिखावट, भाग्य का विधान, प्रारब्ध । बिलीन होना=मिटना, नष्ट होना ।

भविष्यत् का अनुचर, तुच्छ मनुष्य केवल अतीत का स्वामी है—मनुष्य

परिस्थितियों का दास है। वह नहीं कह सकता कि आगे क्या होने वाला है, अर्थात् उसे अब आगे क्या करना होगा। भावी घटनाओं, भवितव्यता के ऊपर उसका कुछ भी अधिकार नहीं है। जो कुछ भी हो चुका है उसके लिए वह भले ही कह ले कि मैंने ऐसा किया, वैसा किया। बीती हुई बातों के लिए वह भले ही कर्त्तापन का अभिमान कर ले; परन्तु आगे होने वाली घटनाओं पर उसका कुछ भी वश नहीं चलता।

लक्ष्मी की लीला···· ···· ····स्वामी है।

संदर्भ—यह चक्रपालित का कथन है। वह जीवन की क्षणभंगुरता और भाग्य की प्रवलता पर बल देता है।

व्याख्या—मनुष्य का जीवन अस्थिर और अस्थायी है। एक क्षण वह उल्लास से भर विकसित हो उठता है और दूसरे ही पल नियति के झोंके से नष्ट हो जाता है। उसकी तुलना लक्ष्मी की चंचलता, पत्तों पर पड़ी हुई बूँदों के क्षणिक जीवन आकाश के बादलों की अस्थिरता तथा प्रातःकालीन ओस की बूँदों की क्षणभंगुरता से की जा सकती है। इन सबके समान मनुष्य का जीवन भी पल-भर में नष्ट हो जाने वाला है। मनुष्य का भाग्य बादलों में छिपी हुई बिजली के समान अज्ञात, अदृश्य तथा क्षणिक है। न मालूम कब और कहाँ बादलों से बिजली प्रकट हो जाये। इसी प्रकार कब और कहाँ किसका भाग्य जाग उठे? बिजली की भाँति मनुष्य का भाग्य भी थोड़े-से समय के लिए अपनी चमक और वैभव दिखाकर अन्धकार के गर्भ में समा जाता है। ऐसे अज्ञात भाग्य तथा अस्थिर जीवन वाला मनुष्य भावी घटनाओं का दास होता है, बेचारा केवल भूतकाल की घटनाओं का स्वामी बनने का स्वाँग करने का अधिकारी होता है। (भविष्य के सुवर्ण-प्रासादों को पूर्ण करने के पूर्व ही न मालूम किस समय वह काल-कवलित हो जाये। भविष्य का स्वामी हो भी तो किस प्रकार?)

शब्दार्थ—वीरता का वरणीय=वीरता जिसके गले में जयमाला डालना चाहे, स्वयं वीरता जिसे वरण करना चाहे। साम्राज्य पोत=साम्राज्य रूपी जहाज। शैशव-सहचर=बालकपन का साथी।

कनिष्क चैत्य=जिस चबूतरे पर महाराज कनिष्क की प्रतिमा स्थापित है। कनिष्क के समय महायान और वज्रयान मतों का प्रचार हुआ था। बौद्ध शक्ति के रूप में पंचमकार की उपासना—इनकी विशेषता थी।

(७)

शब्दार्थ—वटपत्र-शायी=वटवृक्ष के पत्ते पर सोने वाले, अर्थात् भगवान्। सृष्टि के अन्त में भगवान् बालक-रूप धारण कर वट-वृक्ष के पत्तों पर जाकर सो गये थे। यह अक्षयवट प्रयाग में है—ऐसा कहा जाता है। करुणा-सहचर=दयावान्। अमोघ=अपार। स्वत्व=अधिकार। ठीकरा=मिट्टी का टुकड़ा, मिट्टी का बना घड़ा अथवा खिलौना। संतरण=पार करना।

बौद्धों का निर्वाण···· ···· ····सागर का संतरण है।

संदर्भ—कमला की कुटी के सम्मुख यह स्कन्दगुप्त का स्वगत कथन है। वह जीवन और जगत से विरत होना चाहता है। वह संघर्षों से ऊब गया है।

व्याख्या—मैं इस संसार से ऊब गया हूँ, मुझे अब इस जंजाल से छुटकारा चाहिए। मैं इस समय सब कुछ भूल जाना चाहता हूँ। बौद्धों का निर्वाण, योगियों की समाधि, पागलों के प्रलाप—इनमें से प्रत्येक संसार के परे ले जाने वाला है। मैं चाहता हूँ कि इन तीनों का मेरे ऊपर एक साथ सामूहिक प्रभाव हो ताकि मुझे अपने तन, अपने मन, अपनी दुनिया—किसी की भी तनिक भी सुधि-बुधि न रहे। मेरी बुद्धि कहती है कि मैं राजा हूँ—प्रजा का रक्षक, राज्य का व्यवस्थापक हूँ, परन्तु मेरे अन्तःकरण में कोई अदृश्य शक्ति कहती है कि यह तेरा भ्रम है। तू तो केवल भगवान् के हाथों की कठपुतली है। तेरा यह राज-छत्र मजदूर की टोकरी से भी गई-बीती वस्तु है। मुकुट और टोकरी—दोनों ही भार स्वरूप सिर पर रखे जाते हैं। टोकरी में सामान आदि रखकर उसका कुछ उपयोग कर लिया जाता है परन्तु मुकुट तो इस काम भी नहीं आता।

हे दीनबन्धु, दीनानाथ! क्या तू अपने भक्तों को सदैव दुःखी ही रखता है, ताकि वे सदैव तेरी याद करते रहें। नाथ! मैं दुखों से नहीं डरता, लोगों के व्यङ्ग वाणों तथा भर्त्सनाओं की मुझे परवाह नहीं। धन-वैभव जितना ही कम होता जाता है, मनुष्य उतना ही कल्याण के समीप आता जाता है,

क्योंकि वह धन के मद में चूर हो ईश्वर को भूल जाता है, भले-बुरे का विचार छोड़, चाहे जो करने लग जाता है। ऐश्वर्य के घटक पर—विपत्तियों के पड़ने पर, वह ईश्वर को याद करता है और अपने कल्याण का मार्ग प्रशस्त करता जाता है। परन्तु यह अपयश और ये सब विपत्तियाँ मेरे ही सिर पड़ने को थीं। मेरे भाग्य में अपनी आँखों से आर्य साम्राज्य को नष्ट होता हुआ देखना बदा था।

यह सब सोचकर हृदय काँप उठता है और देशाभिमान मुझे कर्त्तव्यपथ पर बढ़ने के लिए, शत्रुओं के ध्वंस के लिए प्रोत्साहित करता है। भले ही मुझे अधिकार न मिले—इसकी परवाह नहीं, क्योंकि मैं राज-पाट, धन-वैभव का भूखा नहीं। परन्तु मेरी यह प्रवल आकांक्षा है कि गुप्त साम्राज्य ध्वंस न होने पाये, इसका कोई उपयुक्त शासक हो ताकि सदाचार, धर्म, नीति आदि सुरक्षित बने रहें। यदि गुप्त-साम्राज्य नष्ट हो गया तो देश से धर्म, नीति, सद्व्यवहार सब मिट जायेंगे। खैर, जाने दो इन बातों को। मेरा सर्वस्व ही लुट गया। मन बहलाने के लिए विजया से प्रेम किया था, परन्तु मेरे हृदय का वह भी कोना सूना ही रहा। इस समय मेरी दशा विचित्र है। मुझे अपना कर्त्तव्य सूझता नहीं है, मेरे सम्मुख अन्धकारमय भविष्य है तथा मेरी यह सब दौड़-धूप बेमतलब-सी दिखाई दे रही है। मैं किंकर्त्तव्यविमूढ़ हूँ और मेरे सामने असीम विपत्तियों का सागर है, जिसे मुझे पार करना है।

शब्दार्थ—दिग्दाह कर रही=दिशाओं को जला रही है, चारों ओर आग लगा रही है। मूक=गूँगा। बधिर=बहरे। टीले=बेकार का ढेर।

अर्धोन्मत्त=अर्द्ध-उन्मत्त, आधा पागल। श्रृगाल=गीदड़। वृन्द=झुण्ड। लोथ=लाश। दस्यु=राक्षस। हुँकार=ललकार। निष्प्रभ=कान्ति रहित। निस्तेज=तेज रहित।

सिंहों की विचार स्थली में श्रृगाल वृन्द सड़ी लोथ नोंच रहे हैं=वीरों द्वारा अर्जित वैभव का कायर लोग दुरुपयोग कर रहे हैं।

स्वानुभूति को जाग्रत करो—समझो कि तुम कौन हो और तुम्हारी क्या शक्ति है ? अपने बल का स्मरण करो, सोचो कि तुम क्या करने में समर्थ नहीं हो ?

भावार्थ—जो अपने कर्मों को ईश्वर का कर्म समझकर करता है, वही ईश्वर का अवतार है। अपने सब कर्म ईश्वर द्वारा प्रेरित मानने वाले व्यक्ति का प्रत्येक कर्म ईश्वर का ही कर्म होता है, वह व्यक्ति ईश्वरमय है अथवा ईश्वर का अवतार है, यह भेद करना कठिन है।

शब्दार्थ—समाधि=मरने के स्थान पर बना हुआ स्मारक। स्तूप=वह टीला जिसके तले भगवान् बुद्ध या अन्य किसी महात्मा की हड्डियाँ या केशादि स्मृति-चिन्ह रखे हों (यहाँ बुद्ध के स्तूप से ही तात्पर्य है)। धरोहर=रखी हुई वस्तु, गिरवी-धन, सौंपा हुआ धन (यहाँ देवसेना के तात्पर्य है), क्योंकि बन्धुवर्मा के राज्य के साथ देवसेना की रक्षा का भार भी स्कन्दगुप्त को सौंपा था।

पंचम अंक

(१)

शब्दार्थ—दुर्वृत्त दानव=बुरी वृत्ति वाला राक्षस। दुर्वृत्त=उपद्रवी, दुष्टात्मा, दुराचारी। स्नेह के संवलित=स्नेहयुक्त, प्रेममय।

राजा से रंक···· ···· ····तिरस्कार।

संदर्भ—पथ में मुद्गल का कथन है।

भावार्थ—भाग्य-चक्र बड़ा प्रबल है, वह मनुष्य को कठपुतली की भाँति नचाता रहता है। क्षण भर में राजा कंगाल बन जाय, धनवान् धनहीन बन जाय और उच्च पद पर प्रतिष्ठित व्यक्ति पल भर में नीचे गिर जाये। उन्नति तथा अवनति के सतत चक्र का ही नाम संसार है। इस परिवर्तनशील जगत् में मनुष्य का केवल बाह्य रूप ही नहीं, उसका आन्तरिक रूप भी बदल जाता है। कभी तो वह दुरात्मा राक्षसों जैसे काम करने लगता है, और कभी वही मनुष्य स्नेहमय व्यवहार द्वारा सज्जनता का परिचय देकर मानवता का दावा पूरा करता है। समृद्ध दशा में कभी तो वह प्रसन्नता के मारे गा उठता है, और कभी गरीबी के कारण उसमें पग-पग पर ठोकरें लगने लगती हैं, उसे हर जगह अपमानित होना पड़ता है।

शब्दार्थ—देवकुलिक=देवताओं के वंश वाला। विक्षिप्त=तितर-बितर, गड़बड़। मन फिरना=इरादा बदलना, मन बदलना। अभिनय=स्वाँग, नाटक,

प्रदर्शन । प्रकाशादित्य=प्रकाश-आदित्य, प्रकाश का सूर्य, सबको प्रकाश देने वाला। सोते सिंह हैं=मरे हुए सिंह हैं, सच्चे जीवित सिंह नहीं हैं। अभिसार=प्रेमी से मिलना, प्रेमिका का छिपकर अपने प्रेमी (परपुरुष) से मिलने जाना अभिसार कहलाता है। अभिसार करने वाली नायिका अभिसारिका कहलाती है। छोकरी=लड़की, छिछोर लड़की के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अभिचार=पाप, व्यभिचार।

विशेष—पहिले ज्योतिषियों से यज्ञ आदि शुभ कार्य करने के लिए मुहूर्त्त पूछे जाते हैं, अब प्रश्न होता है कि बताइए पण्डितजी, प्रेमी से मिलने को जाने के लिए कौन-सा अवसर शुभ और उपयुक्त रहेगा, अर्थात् अब व्यभिचार करने के लिए शुभ मुहूर्त्त पूछना और बताना युवती-युवकों तथा ज्योतिषी का काम हो गया है।

क्या··· ···· ···मुद्गल।

संदर्भ—मुद्गल के प्रति विजया का कथन है।

व्याख्या—क्या बिना मतलब कोई किसी से बात न करे? ठीक ही है। केवल आवश्यकता ही दो मनुष्यों को पारस्परिक मिलने के लिए बाध्य करती है। यदि स्वार्थ नाम की वस्तु इस संसार में न रहे तो शायद कोई किसी से बात भी न करे। परन्तु मुद्गल! मनुष्यता का नाता भी कोई चीज है। आवश्यकता न भी हो, तब भी हमें मनुष्यता के नाते ही एक-दूसरे से मिलते-जुलते रहना चाहिए।

जिस··· ···· ··· सम्बन्ध।

संदर्भ—विजया के प्रति मुद्गल का कथन है। मुद्गल विजया की स्वार्थपरता के प्रति तीखा व्यंग्य करता है।

भावार्थ—जिस मनुष्य के हृदय में शान्ति नहीं, जिसका मन स्थिर न रह कर, सदैव इधर-उधर भटकता रहता है, जो सदैव किसी-न-किसी वस्तु के लिए लालायित बना रहता है, जिसकी जरूरत कभी भी पूरी नहीं होती, जो अपने साथ किये हुए उपकार को नहीं मानता (अर्थात् कृतघ्न है), जो सदैव निर्दयता पूर्ण व्यवहार करता और कड़वी वाणी बोलता है, जो अपना मतलब गाँठने के

लिए भले-बुरे सब तरह के काम कर सकता है, वह व्यक्ति कभी भी मनुष्य नहीं कहा जा सकता ।

शब्दार्थ—प्रतिहिंसा=बदला। रत्नगृह=रत्नों का ढेर, खजाना। अदृष्ट=भाग्य, जो दिखाई न दे ।

अदृष्ट···· ···· ····परमार्थ ।

संदर्भ—विजया अपना सर्वस्व देशहितार्थ अर्पण करने का संकल्प करती है ।

भावार्थ—सौभाग्य से मेरा रत्नों का खजाना अभी सुरक्षित है। उसके द्वारा मैं स्कन्दगुप्त की सहायता करके उसका वरण करूँगी और मगध की महारानी बन सकूँगी । इस प्रकार मेरा स्वार्थ भी सिद्ध होगा और परमार्थ भी पूर्ण होगा । स्कन्दगुप्त को पति-रूप में प्राप्त करने में स्वार्थ-सिद्ध है तथा देश-हित के लिए सेना इकट्ठी करने के निमित्त धन देने में परमार्थ-सिद्धि है ।

अपने···· ···· ····मधुर होता है ।

संदर्भ—यह भटार्क का स्वगत कथन है। उसने स्कन्दगुप्त के साथ धोखा किया । इस कारण वह ग्लानि से गलता है ।

भावार्थ—बुरे कामों का बुरा नतीजा भोगने से मनुष्य भविष्य के लिए चौकन्ना हो जाता है। उसे मालूम हो जाता है कि अमुक बुरे काम के कारण अमुक यातना तथा यन्त्रणा भोगनी पड़ी थी । इन कष्टों के भय के कारण फिर वह धर्माचरण करके अन्त में पुण्य अर्जना करने में समर्थ होता है ।

शब्दार्थ—कालभुजंगी=काल रूपी नागिन ।

(२)

शब्दार्थ—अक्षय निधि=अपार धनराशि । वहन करना=ढोना । आपद्धर्म=आपद्-धर्म, आपत्ति के कारण किया हुआ आचरण । प्रायः साधारण धार्मिक आचरण के विपरीत होता है, विपत्तियों से हार मानकर नीति और मर्यादा से रहित किया हुआ आचरण । महावत भी है—"आपत्तिकाले मर्यादा नास्ति," अर्थात् विपत्ति के समय मर्यादा नहीं रहती। (ऐसा धर्म जिसका विधान केवल आपत्ति के समय के लिए ही हो। जैसे साधारणतया ब्राह्मण का

धर्म है कि अध्ययन-अध्यापन करे तथा भिक्षान्न द्वारा अपना भरण-पोषण करे परन्तु संयोगवश कभी इन साधनों द्वारा यदि वह अपनी गुजर न कर सके और कतिपय कार्य पूर्ण करने के लिए धन की विशेष आवश्यकता आ पड़े, तो वह व्यापार आदि कर सकता है और ऐसा करने में उसके ब्राह्मण धर्म का ह्रास न होगा, इत्यादि)।

विलास···　　　　····　　　　···**दरिद्रों के लिए नहीं।**

भावार्थ—भोग-विलास, नाच-रंग में यों ही बहा देने के लिए उनके पास प्रचुर धन है, परन्तु दीन-दुखियों की सहायता के लिए उनके पास एक पैसा भी नहीं है।

शब्दार्थ—संगीत-सभा=संगीत सुनने-सुनाने के लिए एकत्र जन-समूह। म्लान सौरभ=मुरझाई हुई सुगन्ध। अवसाद=क्लेश, थकान। प्रतिकृति=प्रतिमा, प्रतिबिम्ब, प्रतिरूप और चित्र।

संगीत सभा···　　　　····　　　　···**इच्छा जग जाती है।**

संदर्भ—अपने उपेक्षापूर्ण जीवन के प्रति उदासीनता व्यक्त करती हुई देवसेना पर्णदत्त से कहती है।

भावार्थ—जिस प्रकार संगीत की अन्तिम तानें पवन में स्वर भरकर देर तक गूँजती रहती हैं, गवैयों की स्वर-लहरियाँ समीपवर्ती वायु-मण्डल में समा जाती हैं तथा गाना समाप्त हो जाने पर भी श्रोतागणों के कानों में उसकी ध्वनि गूँजती रहतो है; तथा जिस प्रकार धूपबत्ती अथवा अगरबत्ती जैसे सुगन्धित पदार्थों के जल चुकने के बाद उनमें से एक पतली-सी क्षीण गन्धयुक्त धुएँ की रेखा उठती रहती और जिस प्रकार पुष्पों को चूर्ण कर देने से उनमें से कुछ मन्द सुगन्ध उड़ती रह जाती है, तथा जिस प्रकार विवाहादिक उत्सव कार्यों के बाद थकान और उआसी आ जाती है, उसी प्रकार मेरा जीवन भी अब ढल चुका है। उक्त समस्त उपमाएँ मेरे जीवन पर लागू होती हैं और इनकी सामूहिक प्रतिच्छाया—यह मेरा शरीर है। मेरा सौन्दर्य, मेरी चुहल, स्वाभाविक चपलता आदि बीत चुके हैं, दूसरों को वश में करने की अब मुझमें सामर्थ्य नहीं रही, मेरा ऐश्वर्य नष्ट हो चुका है, आदि। अब तो केवल पुरानी

वातों की चर्चा और ऐश्वर्यादि के खण्डहर रूप में ही शेष हैं (खण्डहर भले ही बता दें कि किसी समय इमारत बुलन्द थी)। अपना गायन मेरे लिए जीवन की सबसे अधिक प्रिय वस्तु रही है, परन्तु अब वे भी वासी पड़ गये हैं, पुराने गीत भी अब किसी को अपनी और आकर्षित न कर सकेंगे परन्तु फिर भी स्वयं मुझे उनमें आनन्द आता है। मेरी इच्छा है कि मैं जीवन की अन्तिम साँस तक गीत गाती रहूँ।

शब्दार्थ—राका=पूर्णमासी की रात्रि। राका में रमणीय यह किसका मधुर प्रकाश=रमणीय राका में यह (निराश चन्द्र) किसको खोजता है ? रस-निधि=रस का (आनन्द का) समुद्र। स्वाँति=एक नक्षत्र जिसमें बरसने वाले मेह की बूँद सीप में पड़कर मोती बनती है, चातक भी केवल इसी जल को ग्रहण करता है, इसके न मिलने पर प्यासा मर जाता है।

शून्य···   ····   ··· **तुझमें**।

संदर्भ—देवकी की समाधि के पास बैठी हुई देवसेना गाती है।

भावार्थ—पूर्णमासी की रात्रि के सूने आकाश में निराश चन्द्रमा किसके मधुर प्रकाश को (किस प्यारे को) खोजता रहता है। हे हृदय ! तुझमें ऐसी कौन-सी वस्तु छिपी हुई है, जिसे तू खोजता फिरता है। वता तो सही तू कौन-सी वस्तु पाने के लिए व्याकुल है, तेरी तो मुझसे कोई बात छिपी नहीं है। सारा जीवन आनन्द के साथ बीता परन्तु फिर भी प्यास न बुझी, वासनाओं का अन्त न आया। मेरी दशा उस सीपी जैसी है जो सदैव जल में डूबी रहने पर भी मुक्ता बन जाने की आशा से स्वाँति-जल की एक बूँद प्राप्त करने को सदैव ऊपर की ओर मुँह खोले टकटकी लगाए रहती है। हे हृदय ! तू भी एक समुद्र के समान है। इच्छा रूपी लहरें तुझमें सदैव उठती रहती हैं। एक के बाद दूसरी इच्छा सदैव उठा करती है और तू कभी भी स्थिर और शान्त नहीं होता। वता, अब तुझे कौन-सी नई वस्तु मिल गई, जो मुझमें पहले न थी।

विशेष—(१) पूर्णिमा की रात में चन्द्रमा की चाँदनी के प्रकाश के कारण तारागण नहीं दिखाई देते। इसी कारण इसे शून्य आकाश कहा है। (यह प्रसाद का सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण कहा जा सकता है।)

(२) स्वाँति बूँद कवियों की कल्पना है। उसकी आशा इसी कारण थोथी आशा समझनी चाहिए।

(३) समुद्र से समस्त रत्न निकलते हैं अथवा निकले हैं, फिर मालूम नहीं वह कौन-सी वस्तु पाने के लिए मचलता रहता है। उसकी लहरें उसके मचलने तथा उसके चंचल मन की द्योतक हैं। हमारा हृदय भी इसी प्रकार एक सागर है। उसे शान्त कर लें, तो फिर पूर्ण सन्तोष की प्राप्ति हो जाये और किसी वस्तु की आवश्यकता ही न रहे। मन को अपनी आत्मा में ही समस्त पदार्थ मिल जायें। पिण्ड में ब्रह्माण्ड की स्थिति इसी भावना का दार्शनिक विवेचन समझना चाहिए।

शब्दार्थ—परिष्कृत=साफ। तुझे अपने काम का बनाया था=हृदयेश्वरी बनाने का विचार किया था। प्रायश्चित्त=पापों का फल। उऋण=ऋण-मुक्ति। रत्न=वीर।

मालव···· ···· ···करूँगी।

संदर्भ—देवकी की समाधि के पास स्कन्दगुप्त देवसेना से प्रेम का प्रस्ताव कहता है। देवसेना उसके प्रति अनुरक्त होकर भी इस प्रस्ताव को स्वीकार करने में असमर्थ है।

भावार्थ—मेरे भाई बन्धुवर्मा ने मालव देश का सिंहासन तुम्हें दिया था। उसके बदले में तुम्हें वरण करके तथा मानव राज्य की साम्राज्ञी बनकर अपने मृत भाई बन्धुबर्मा की आत्मा का अनादर न करूँगी, उनके त्याग को कम न होने दूँगी। यदि मैंने तुन्हारे साथ विवाह कर लिया तो संसार यही कहेगा कि अपनी बहिन को स्कन्दगुप्त की पत्नी बनाने के लिए ही बन्धुवर्मा ने मालव का राज्य स्कन्दगुप्त को दे दिया था, इस दान के पीछे कोई त्याग-भावना न थी। (इस प्रकार उसका त्याग कलंकित हो जायेगा)।

एक बार कह दो—(कि तुम मेरी हो)।

अभिमानी भक्त··· ···· ···कीजिए।

संदर्भ—देवकी की समाधि के समीप देवसेना स्कन्द से कहती है कि वह उसको अपना सर्वस्व अर्पण करके बदले में उसका प्रेम भी नहीं चाहती है। वह सच्चे भक्त की भाँति भक्ति का ही आनन्द लेना चाहती है।

भावार्थ—बिना किसी प्रकार के फल की इच्छा रखते हुए भक्त भगवान् की उपासना करता है। भगवान् को भक्ति ही भक्त के लिए भक्ति का सबसे बड़ा फल है और सच्ची भक्ति ही उसका सबके बड़ा अभिमान और गौरव है। इसी प्रकार मैं आपकी निष्काम भक्ति करना चाहती हूँ, और चाहती हूँ कि कामनाहीन अपने इस प्रेम पर अभिमान कर सकूँ। नाथ ! आपसे विनम्र विनय है कि मेरे मन में किसी प्रकार की इच्छा अथवा वासना के बीज न डालिए, अन्यथा मेरा प्रेम विशुद्ध और पवित्र न रह जायगा। (मैं नहीं चाहती कि आप मुझे प्राप्त करके कहीं एकान्त स्थान में चलकर रहें और देश सेवा के कर्त्तव्य-पथ से विमुख हो उठें)।

शब्दार्थ—कुमार-जीवन व्यतीत करूँगा=आजन्म अविवाहित रहूँगा। साक्षी=गवाही। श्रीगणेश=प्रारम्भ। निष्कंटक=निः+कण्टक, विघ्न-बाधाओं से रहित। इन्दीवर=नील कमल।

विशेष—ममता का रंग लाल तथा मोह का रंग नीला माना गया है। सरस्वती नदी का जल लाल माना गया है (यह प्रसाद का रंग-ज्ञान कहा जा सकता है)।

शब्दार्थ—इन्द्रजाल=धोखा, तिलिस्म। इन्द्रजाल मन्त्र=धोखे में डालने वाली बातें। अन्तस्तल=हृदय। अन्तस्तल की आशा जीवित है=तुम्हें प्राप्त करने की इच्छा अभी भी शेष है। उस खेल को खेलने की इच्छा नहीं=विवाह करने की इच्छा का मैंने त्याग कर दिया है, प्रेम-चर्चा करने की इच्छा नहीं रही। कलुषित=मैला, कलंकित।

विशेष—विजया भटार्क के साथ दिल लगाकर अपने प्रेम की अस्थिरता का परिचय देती थी। अब स्कन्द ने विवाह न करने की प्रतिज्ञा भी कर डाली थी। इन्हीं कारणों-वश उसने विजया की बातों को धूर्तता पूर्ण कहते हुए इतना रूखा उत्तर दिया है।

शब्दार्थ—उत्कोच=घूस, रिश्वत। क्रीत=खरीदा हुआ। वितृष्णा=विरक्ति। ब्रह्मचक्र=सृष्टि चक्र। उपकरणों=साधनों, सामग्री। नीरद मंडल=आकाश मंडल में। अमोघ=अचूक।

परन्तु···   ····   ····विदित होता है।

संदर्भ—विजया के प्रति स्कन्दगुप्त का कथन है। वह अपने आप को महती योजना का एक अंग मात्र समझता है और कर्त्तव्य-पालन में सर्वस्व दे देना चाहता है।

व्याख्या—संसार किसी उद्देश्य विशेष को ध्यान में रखकर रचा गया है मानव का जन्म विकास के लिए हुआ है। उसे चाहिए कि सदाचार और सद्व्यवहार द्वारा देवता बने और इसी को स्वर्ग बना दे। पृथ्वी देवताओं के रहने योग्य बन जाय। बस, इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए मानव की रचना हुई है। मैं इसी उद्देश्य को पूरा करने में लगूँगा।

उन्मुक्त···   ····   ····हो जायेगा।

संदर्भ—स्कन्दगुप्त को विजया का प्रणय स्वीकार नहीं है, और वह समाज-सेवा के लिए अपना सर्वस्व अर्पण करने की प्रतिज्ञा के साथ आजन्म अविवाहित रहने का व्रत भी ले चुका है। विजया उसको अपने प्रति आकर्षित करना चाहती है।

व्याख्या—जिस प्रकार बिजली की लहरें चमक कर बादलों में समा जाती हैं उसी प्रकार हम दोनों भी स्वतन्त्रतापूर्वक क्रीड़ा करते हुए संसार से दूर कहीं एकान्त स्थान को चले जायेंगे। हमारे विनोद के कारण बिजली की-सी तेज रोशनी होगी और संसार की आँखें चौंधिया जायेंगी, कोई हमें देख न सकेगा। हमारे छिप जाने के बाद भी लोगों की आँखें बन्द रहेंगी। अपने को स्वर्ग की अप्सराएँ समझाने वाली संसार की स्त्रियाँ तथा अपने आप को सुख के अधिकारी मानने वाले पुरुष हमारे मनोविनोद और विलास को देखकर चकित रह जायेंगे। पारस्परिक आलिंगन द्वारा हम क्यों न उस मस्त खुशी का मजा लें। हमारे सम्भोग का सुख इतना मधुर और अपूर्व एवं अतुलित होगा कि स्वयं सुख भी सुखी होकर अपना अस्तित्व सफल समझने लगेगा।

शब्दार्थ—अगरु धूप=काले चन्दन का धुआँ। अलकें=लटें, बालों के गुच्छे। मादकता पलकों से=पलकों में मादकता की लाली हो (शराब और खुशी का नशा आँखों में भरा हो।) बल=लचक, झटका। सुललित—सुन्दर।

अनुपात=समता भाव, बराबर सम्बन्ध, गणित की त्रैराशिक क्रिया। लांच्छित=कलंकित, दूषित। (इसमें मिलन-सुख की कल्पना है। फिर चाहे स्कन्द मुझे ठुकरा ही क्यों न दे।)

शब्दार्थ—हिंस्र पशु एकादशी व्रत करेगा=कुटिल, क्रूर व्यक्ति से सरलता, निश्छलता की आशा व्यर्थ है, दुष्ट लोगों द्वारा शुभ कार्य हो नहीं सकते।

जिससे···· ···· ····**था।**

भटार्क अपनी पत्नी विजया से कहता है कि विजया! तूने उस स्कन्दगुप्त के प्रति अपराध किया है, जिसको दुःखी देखकर मैं स्वयं लज्जित हूँ। मैं स्वयं स्कन्दगुप्त से माफी माँगने यहाँ आया था।

शब्दार्थ—वानप्रस्त-आश्रम=वैदिक-धर्म में जीवन को चार भागों में बाँटा गया है। इन भागों को आश्रम कहा है। मनुष्य की आयु १०० वर्ष की मानकर प्रत्येक आश्रम २५ वर्ष का ठहरता है, यथा—२५ वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्य आश्रम, २५ से ५० वर्ष की आयु तक गृहस्थ आश्रम, ५० से ७५ वर्ष की आयु तक वानप्रस्थ आश्रम। इसके बाद संन्यास आश्रम। घर-द्वार लड़के को सौंपकर विरक्त हो जाता—वानप्रस्थ आश्रम का ग्रहण करना कहलाता है। इसमें स्त्री को भी साथ रख सकते हैं तथा घर में भी रह सकते हैं। किन्तु बीच मे दण्ड रखकर सोते हैं, ताकि अङ्ग स्पर्श न हो।

(४)

शब्दार्थ—अनार्य=भ्रष्ट, अनादरसूचक शब्द। मुंडित मस्तक=मुड़ा हुआ सिर; यह शब्द प्रख्यातकीर्ति की ओर संकेत करता है। मद्यपान=शराब पीना। अनातमभाव=आत्मा का विरोधी भाव, चेतना रहित। सतपथ—कल्याण मार्ग, अच्छी राह। साम्राज्य-स्कन्धावार=सरकारी फौज की छावनी।

(५)

शब्दार्थ—उषा=प्रभात की देवी। व्योमतमपुंज=आकाश में छाया हुआ घोर अँधेरा, चारों ओर फैला हुआ घोर अँधेरा (अज्ञान)। अखिल=पूरी, सम्पूर्ण। संसृति=संसार। अशोक=शोक रहित, सुखी। विमल वाणी=शुद्ध सरस्वती। कमल कोमल कर=कमल के समान कोमल हाथ। सप्त-स्वर=सातों स्वर (स, रे, ग, म, प, ध, नी)। सप्त-सिन्धु=सात समुद्र, सप्त सागर

ये हैं—क्षीर, दधि, घृत, इक्षु, मधु, मदिरा, और लवण । साम=सामवेद ॥ अरुण केतन=लाल पताका । वरुण=पानी । वरुण-पथ=जल-मार्ग, समुद्र में होकर । अभीत=निडर होकर । पुरन्दर=इन्द्र । पवि=वज्र । अस्थि-युग= वह युग जब हड्डी के हथियार बनते थे । एक निर्वासित कुमार=राम । भग्न= टूटी हुई । मग्न=पानी में डूबी हुई । रत्नाकर=समुद्र । रत्नाकर की राह= सेतुबन्धु, रामेश्वरम् स्थित समुद्र का पुल जिसे राम-कृपा से नल और नील ने बनाया था । धरा=पृथ्वी । समीर प्रचण्ड=भयंकर आँधियाँ । विपन्न= दुखी । समवेत=एक साथ । परशु=कुठार, फरसा । स्थल=स्थान तथा अवसर ।

हिमालय···· ···· ····भारतवर्ष ।

भावार्थ - इस गाने में भारतवर्ष की अतीत गौरव-गाथा की चर्चा करते हुए वीरों को कर्त्तव्य-पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा प्रदान की गई है तथा भारत के सोते हुए वीरों को दासता की जंजीरें तोड़ने के लिए प्रोत्साहित किया गया है यथा—

हिमालय के आँगन, भारतवर्ष में ही सर्वप्रथम ज्ञान रूपी सूर्य का प्रकाश प्रकट हुआ । स्वयं ज्ञान प्राप्त करके भारत के विद्वान् विश्व के अन्य लोगों को ज्ञान देने लगे । बस, फिर समस्त विश्व का अज्ञान रूपी अन्धकार दूर हो गया और सारे संसार का शोक नष्ट हो गया । अज्ञान के कारण अथवा मोहनिशा में मग्न होने के कारण जो भयभीत थे उनके चलने के लिए, उन्हें भय से छुटकारा देने वाला मार्ग प्रशस्त हो गया । अपने कमल से कोमल हाथों में देवी सरस्वती ने प्रेमपूर्वक वीणा उठाकर झंकृत की तथा अखिल विश्व में वह झंकार गूँज उठी, अर्थात् सारे संसार में विद्या का प्रचार हो उठा । उन्हीं दिनों सामवेद जैसे उच्चकोटि के संगीत-शास्त्र की रचना हुई थी । प्रलय के भयङ्कर कष्ट झेलते हुए, प्रकृति का आदिम रूप सुरक्षित रखते हुए हम लाल पताका लिए समुद्र मार्ग से आगे बढ़े (यहाँ मत्स्य अवतार की कथा की ओर संकेत है । कामायनी महाकाव्य का उपक्रम इसी प्रसंङ्ग से हुआ है), दधीचि ने इन्द्र को वृत्रासुर के वध के लिए वज्र बनाने के लिए अपनी जाँघ की हड्डी दी थी, यह कथा इतिहास-प्रसिद्ध है । अतएव यह ऐतिहासिक सत्य ठहरता है कि

हड्डियों के युग में भी हम 'आर्य' यहीं भारतवर्ष में रहते थे और काफी उन्नति कर चुके थे। हम में दधीचि जैसे त्यागी पुरुष, इन्द्र सदृश्य वैभवशाली राजा तथा अन्य पराक्रमशाली एवं ऐश्वर्यमान व्यक्ति मौजूद थे। कुमार राम को राजा दशरथ ने १४ वर्षों के लिए वनवास दिया था। देश से निकाले हुए उस कुमार में कितना अदम्य उत्साह था, इसका प्रमाण उसने समुद्र पर पुल बनाकर दिया था। शत्रु, कहीं भी जाये, बच नहीं सकता, इसके लिए उसने समुद्र तक को पाट और बाँध दिया था। समुद्र का वह पुल आज दिन भी टूटी-फूटी हालत में सेतुबन्धु रामेश्वरम् के नाम से मौजूद है और उस कुमार युवराज के अदम्य उत्साह की गौरवगाथा कह रहा है, किंवा साक्षी दे रहा है।

धर्म के नाम पर होने वाली जीव-हत्याओं को एक अन्य राजकुमार (गौतम बुद्ध) ने बन्द कराया था। गौतम बुद्ध ने सर्वप्रथम संसार को शान्ति का पाठ पढ़ाया था। वह भी यहीं भारतवर्ष में ही उत्पन्न हुए थे। दूसरों को सुख पहुँचाकर आनन्द का अनुभव करना—हमारी संस्कृति का एक आवश्यक अंग है।

भारतवासियों ने कभी किसी देश पर आक्रमण करके पशु-बल द्वारा विजय प्राप्त नहीं की। धर्म का पाठ पढ़ाना ही यहाँ के लोगों का ध्येय रहा है। भारत के राजा, सब प्रकार का वैभव होते हुए भी भिखारी बनकर रहते आये हैं तथा द्वार-द्वार जाकर प्रजाजन का दुख-दर्द दूर करना—उनका कर्त्तव्य रहा है। सम्राट् अशोक इसके सबके बड़े उदाहरण हैं। भारतीयों ने आक्रणकारी विदेशियों को परास्त करके उन्हें न मालूम कितनी बार दयापूर्वक क्षमा कर दिया (सिकन्दर का ऐतिहाहिक उदाहरण इस कथन की पुष्टि करता है) तथा चीन को हमने ही धार्मिक दृष्टिकोण प्रदान किया था (चीन में बौद्धमत का प्रचार हुआ था। चीन तथा जापान में आज दिन भी काफी बौद्ध हैं), राक्षसों की बस्ती लंका तक को हमने शीलवान् बना दिया था (विभीषण प्रमाण है।) हमारे भारतवर्ष में सब प्रकार से प्रकृति देवी की कृपा रही है, यहाँ तीन फसलें होती हैं। खेती द्वारा उत्पन्न होने वाली यहाँ सब वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। समस्त खनिज-पदार्थ उपलब्ध हैं, अनेक नदियाँ है, मानसून को रोकने वाले ऊँचे-ऊँचे पहाड़ हैं, आदि। हमने कभी किसी से कुछ लिया नहीं, क्योंकि हमें इसकी आवश्यकता न थी। हम 'आर्य' यहीं भारतवर्ष में ही उत्पन्न हुए थे।

एशिया माइनर आदि अन्य देशों से आकर हम यहाँ नहीं बसे थे। कुछ इतिहासज्ञ कहते हैं कि आर्य मध्य-एशिया में रहते थे और बनजारों का जीवन व्यतीत करते थे। कालान्तर में वे भारत में आकर बस गये। वे यहाँ दो बार आये। पीछे से आने वालों ने पहले से बसे हुए आर्यों को हराकर भगा दिया। ये लोग दक्षिण की ओर भाग गये और कालान्तर में अनार्य कहलाये। इनकी भाषाएँ तेलुगू, तमिल, कन्नड़ और मलयालम अभी तक अनार्य भाषाएँ कही जाती हैं। बाद में आने वाले लोगों ने पहले वालों से अपने को श्रेष्ठ बताया और इसी कारण वे आर्य नाम से विभूषित हुए। ये लोग अन्तर्वेद में बसे थे। (प्रसादी जी ने इतिहासज्ञों के इस मत को काल्पनिक बताकर, यहाँ उसका खंडन किया है)। हम आर्यों ने न मालूम कितनी जातियों के उत्थान-पतन देखे हैं, और न मालूम कितनी बार प्रलयकारी विप्लव और विद्रोह देखे हैं। हमने इन समस्त विपदाओं को हँसते-हँसते झेला, हमें तो प्रारम्भ से ही मुसीबतों का सामना करना पड़ा है। सृष्टि की रक्षा ही पहले प्रलय से संग्राम करके की थी।

आर्य वीर सदैव से बलवान्, सच्चरित्र तथा विनयशील रहे हैं। उनके हृदय में अपनी जाति और अपने देश का अभिमान भरा था तथा दूसरों के दुख में हाथ बँटना वे अपना धर्म समझते थे। हमारी पूँजी स्वार्थ-साधन के लिए नहीं, बल्कि औरों की सहायता करने के लिए थी। राज्य-कोष दीन-दुखी प्रजाजन की सहायतार्थ सदैव उन्मुक्त रहता था। अपने घर आये हुए व्यक्ति को हम देवता की तरह मान उसका यथाशक्ति सत्कार करते थे। हम लोग सत्यवीर राजा हरिश्चिन्द्र की भाँति सत्यवादी, राम और कृष्ण की भाँति तेज सम्पन्न, तथा भीष्म की भाँति दृढ़प्रतिज्ञ रहे हैं। वीरो! अपने प्राचीन गौरव को, अपने पूर्व पुरुषों की आन-बान, को याद करो। तुम्हारी रगों में उन्हीं का खून है; वही साहस है, वही ज्ञान, वही शील और शक्ति है। यह देश भी वही है और तुम उन्हीं आर्य वीरों की सन्तान हो। उठो! आज प्रण करो कि प्यारा भारतवर्ष हमारा है। उसके सम्मान की रक्षा के लिए हम तन-मन-धन; सब कुछ न्यौछावर कर देंगे। जीयेंगे तो उसी के लिए, मरेंगे तो उसी के लिए।

शब्दार्थ—विमाता=सौतेली माँ। क्षम्य=क्षमा करने योग्य। अग्नितेज=

अग्नि के समान तेज। कुत्सित=घृणित, पाप-युक्त। छत्रछाया=संरक्षण, शरण। क्षत-जर्जर=घावों से टूटा-फूटा, घायल।

(६)

हृदय···· **····** **····विदा लेती हूँ।**

संदर्भ—देवसेना स्कन्दगुप्त की प्रेम-याचना को पहले अस्वीकार कर चुकी है। स्कन्दगुप्त से प्रेम तो वह करती थी। किन्तु इस प्रेम में क्रय-विक्रय का सवाल न आये, इसी विचार से उसने स्कन्द को वरण करने का विचार त्याग दिया था। अन्ततोगत्वा मानव तो मानव ही है। उसका मन बड़ा ही चंचल होता है। आज उसे एकाएक स्कन्दगुप्त और अपने प्रेम की एवं तद्जन्य होने वाले सुख की याद आ गई। वह अपनी भावनाओं को दबाती हुई कहती है कि अब स्कन्दगुप्त के मेरे जीवन में आने की कोई आशा नहीं रही। मैंने स्वयं ही उसकी प्रेम-याचना ठुकरा दी और अब तो वह भी आजन्म कौमार व्रत धारण करने की प्रतिज्ञा कर चुका है, इसलिए उसके लिए मन में विचार भी लाना व्यर्थ है। हे मन ! स्कन्दगुप्त के लिए मचलना तुझे अब शोभा नहीं देता। मैं आज जीवन के समस्त सुखों, जीवन की आशाओं आदि सबको अन्तिम प्रणाम करती हूँ। आज से पीछे न किसी सुख की इच्छा करूँगी और न किसी वस्तु को पाने की आशा ही रखूँगी।

शब्दार्थ—मधुकरी=बाटी, रोटी, भिक्षान्न। श्रमकण=पसीने की बूँदें। श्रुति=कान, ध्वनि, वेद। उनींदी=नींद का आलस्य।

आह···· **····** **····कमाई।**

संदर्भ—देवसेना का अन्तिम गाना है।

भावार्थ—वेदने ! आज सबके साथ तुम से भी विदा लेती हूँ। अब तक मैं न मालूम किस भ्रमर में पड़ी हुई थी। मैं सदैव प्रत्येक की सहायता करने के लिए तत्पर रही, कोई भी भिखारी मेरे द्वार से भूखा न लौटा। दिन भर अश्रुपात होता था और सन्ध्या को माथे पर पसीनें की बूँदें झलक आती थीं। मेरे जीवन में पूर्ण शान्ति थी। मैं मानो वन में पेड़ के नीचे थक कर सोये हुए पथिक की भाँति थी। न मालूम किसने मुझे जगाकर यह प्रेम का गीत सुना

दिया। ऐसा लगता है कि यह प्रेम का सुन्दर स्वप्न उनींदी अवस्था (तन्द्रा की हालत) में मेरे हृदय में प्रविष्ट हो गया—(अन्यथा जान-बूझकर मैं इसे कभी भी ग्रहण न करती)। सब की आशा भरी नजरें मेरी ओर लगी हुई थीं। यथा-शक्ति मैंने सब की सहायता की। किन्तु बाह री बावली आशा।

मेरी सारी सम्पत्ति यों ही नष्ट हो गई। मेरे जीवन में प्रलय मची हुई है, जीवन रूपी रथ पर प्रलय के बादल और प्रलय की हवाएँ आरूढ़ हैं। मैंने अपनी दुर्बलता जानते हुए भी उसके साथ संघर्ष करने की ठानी। यह जानते हुए भी कि मैं हार जाऊँगी, मैने जीवन-संग्राम में बड़ी-बड़ी आशाओं के साथ प्रवेश किया—(यह जानते हुए भी कि मैं स्कन्दगुप्त को प्राप्त न कर सकूँगी, मैंने उसके प्रेम को हृदय में स्थान दिया और उसने मुझे झकझोर डाला)। मेरी करुणा पर करुणा को भी दया आ रही है। हे देव! मुझसे मेरा हृदय वापिस ले लो—(हे स्कन्द! मेरा हृदय मुझसे ले लो, मेरा प्रेम स्वीकार कर लो। इसी हृदय में तुम बसे हुए हो, हृदय के साथ जब तुम भी निकल जाओगे तब मुझे शान्ति मिलेगी अन्यथा जब तक मुझे अपनाओगे नहीं, तब तक मुझे चैन नहीं मिलेगा)। मुझमें अब इस हृदय को सम्हालने की शक्ति नहीं रही है। मेरे मन की लाज अब जाती रही है। निर्लज्ज हृदय केवल विडम्बना ही बन सकेगा।

शब्दार्थ—श्री=शोभा। अमरावती=इन्द्रपुरी। शची=इन्द्राणी, इन्द्र की पत्नी। हतभाग्य=अभागा। कसौटी=परीक्षा-स्थल। यवनिका=रंगमंच पर सबसे आगे वाला पर्दा।

देवी ··· ···· ····तुम्हें रोकूँ।

संदर्भ—मरणासन्न देवसेना के प्रति स्कन्दगुप्त का कथन है।

व्याख्या—देवी! मुझे जीवन भर संघर्ष करना पड़ा है। इस विषादमय जीवन से अब थक गया हूँ। तुम मेरे पास बनी रहो। परस्पर दर्शन लाभ से शेष जीवन काट लेगें। हमारे हृदय ने कहा कि शत्रुओं के आतंक का सामना करो। इसी कारण मैंने हथियार उठाये शौर कठोरतापूर्वक खून की नदियाँ बहाईं। इसका एक ही उद्देश्य था कि मनुष्य दानवता छोड़ दे और इस पृथ्वी पर देवोपम चरित्र वाले मनुष्य रहने लगें। अधर्म और अत्याचार को मिटाने के

लिए ही मैंने ये युद्ध किये हैं, किसी निजी स्वार्थ के वशीभूत होकर नहीं। परन्तु हे नन्दन के वसन्त की शोभा ! इन्द्रपुरी की रानी ! मेरे निर्मित इस पृथ्वी के स्वर्ग की लक्ष्मी ! तुमसे कैसे कहूँ कि तुम चली जाओ।........लेकिन तुम्हें रोक भी तो नहीं सकता ।

कष्ट··· .... ····**क्षमा ।**

संदर्भ – ये स्कन्द के प्रति देवसेना के अन्तिम शब्द हैं।

व्याख्या—विपत्ति के समय ही मनुष्य की पहचान होती है। संकट के समय जो न डिगे, वही धीर, वीर और प्रशान्त है। तपस्या रूपी अग्नि में पड़ कर ही मनुष्य मनुष्य बनता है। कष्टमय साधना द्वारा मनुष्य उन्नति कर सकता है। यदि तुम कष्ट नहीं सह सकते तो तुम कैसे वीर हो। स्कन्द ! संसार के सुख तो अल्पकालीन ही होते हैं। वे शीघ्र ही नष्ट हो जाने वाले होते हैं। सुख के नष्ट होने पर मनुष्य को दुख होता है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि सुख से किसी प्रकार का लगाव न रखे। फिर किसका अन्त ! और कैसा दुःख ! स्कन्द ! तुम मेरे जीवन के आराध्य देवता हो, जीवन भर मैंने तुम्हारी पूजा की हैं। मैं तुम्हारी मूर्ति को अपने हृदय में धारण करके मरूँगी। इस इच्छा और आशा के साथ कि अगले जन्म में तुम्हें पति रूप में प्राप्त करूँ।

(इस जन्म में तुम्हें न पा सकी, तो क्या ! अगले जन्म में, मैं तुम्हें प्राप्त करूँ, यही मेरे जीवन की साध है)।

खण्ड ३

१. प्रश्नोत्तर

२. पात्र-परिचय

प्रश्नोत्तर

प्रश्न १—स्कंदगुप्त नाटक की कथावस्तु को अपने शब्दों में लिखिए।

उत्तर—नाटक की कथावस्तु को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—
(क) आधिकारिक, और (ख) प्रासंगिक।

(क) आधिकारिक कथावस्तु

स्कन्दगुप्त नाटक की कथावस्तु भारत के दो राज्यों से सम्बन्धित है—मगध और मालव। दोनों राज्य मिलकर हूणों के आक्रमण का सामना करते हैं और अन्त में विजयी होते हैं।

इन राज्यों में अन्त:कलह है। फलस्वरूप एक वर्ग षड्यन्त्र करता है और हूणों को सहायता देता है। परन्तु उनकी एक भी नहीं चलती। ये विद्रोही या तो मर जाते हैं, अथवा पराजित एवं अपमानित होते हैं। सिंघल का राजकुमार धातुसेन (कुमारदास) भारतवर्ष की राजनीति एवं संस्कृति का अध्ययन करने के लिए आता है। वह समझता है कि केवल स्कंदगुप्त ही भारतवर्ष का उद्धार कर सकने में समर्थ है। आवश्यकता पड़ने पर वह स्कन्द की परोक्ष रूप में सहायता करता है और देश के उद्धार में सहायक होता है। मगध-सम्राट, गुप्त-साम्राज्य के स्वामी, कुमारगुप्त कुसुमपुर में विलासी जीवन व्यतीत करते हैं। सुरा और सुन्दरी से उन्हें अवकाश नहीं है। स्कन्द-गुप्त सब प्रकार योग्य एवं सक्षम है। परन्तु वह अपने अधिकारों के प्रति उदासीन-सा दिखाई देता है। महाराज विलासी हैं, छोटी रानी षड्यन्त्र में लिप्त है और विदेशी हूणों के आक्रमण हो रहे हैं। परन्तु महाराज कुमारगुप्त को अपने सुखोपभोग के सामने कुछ नहीं सूझता है। साम्राज्य का अन्धकारमय

भविष्य स्कन्द को स्पष्ट दिखाई देता है। इस कारण वह कुछ चिन्तित भी है। गुप्त राज्यवंश के उत्तराधिकार के नियमों की अव्यवस्था देखकर वह व्यथित है। उसको यह पता नहीं है कि वह राज्य का उत्तराधिकारी होगा भी या नहीं।

बन्धुवर्मा मालव का राजा है। मालव पर हूणों का आक्रमण होता है। वीर स्कन्दगुप्त समय पर पहुँचकर मालव की रक्षा करता है।

इसके पश्चात् मगध-सम्राट का स्वर्गवास होता है। कौटुम्बिक कलह सामने आता है। परिणामस्वरूप स्कन्द सिंहासन स्वीकार कर लेता है।

हूणों के आक्रमण जारी रहते हैं। उनसे आर्यावर्त की रक्षा करना स्कन्द अपना कर्त्तव्य समझता है। अभिषेक के पश्चात् वह सेना का संगठन और आक्रमणकारियों से मोर्चा लेता हुआ दिखाई देता है। इसी समय उसकी विमाता अनन्त देवी और उसके पुत्र पुरगुप्त का कुचक्र सामने आता है, जिसे वह दबा देता है। साम्राज्य का सेनापति भटार्क पुरगुप्त के साथ है। वह ऊपर से तो स्कन्दगुप्त का हितैषी बनता है, परन्तु आन्तरिक तौर पर वह स्कन्द के विरुद्ध चलने वाले षड्यन्त्र का अंग होकर पुरगुप्त का समर्थन करता है। उसी की नीचता के कारण हूण बढ़ते जाते हैं। जिस समय स्कन्द और उसके सिपाही हूणों के साथ युद्ध कर रहे होते हैं, उस समय भटार्क कुभा का बाँध तोड़ देता है। फलत: स्कन्दगुप्त सेना सहित विपत्ति में पड़ जाता है। सब लोग समझ लेते हैं कि स्कन्द लहरों की गोद में सदा-सर्वदा से लिए सो गया।

इस प्रकार कुभा के रण-क्षेत्र में स्कन्दगुप्त की सेना छिन्न-भिन्न हो जाती है। कठिन परिश्रम और भारी प्रयास करके वह फिर से सेना संगठित करता है। गुप्त साम्राज्य के बचे हुए कर्मठ वीर पुन: एकत्र होते हैं। स्कन्दगुप्त गोपाद्रि से बढ़कर सिन्धु के समीप आता है। यहाँ फिर युद्ध होता है। इस बार हूण पूर्ण रूप से पराजित हो जाते हैं। इस प्रकार स्कन्दगुप्त अपने काल में, आर्यावर्त्त को हूणों[1] से निरापद बना देता है।

---

१. **हूण — मंगोल जाति की एक उपजाति है। इन्होंने प्रबल होकर एशिया के देशों पर, विशेषकर मध्य एशिया के भू-खण्ड पर आक्रमण किए थे।**

एक प्रकार से आधिकारिक कथावस्तु यहीं समाप्त हो जाती है और नाटक का अन्त यहीं हो जाना चाहिए था। परन्तु ऐसा नहीं होता है। स्कन्दगुप्त और मालव नरेश बन्धुवर्मा की बहिन देवसेना का प्रसंग आगे तक चलता रहता है। वे दोनों एक-दूसरे को प्यार करते हैं, परन्तु देवसेना विवाह नहीं करना चाहती है। अपनी माता देवकी की समाधि के पास स्कन्दगुप्त देवसेना के सामने प्रतिज्ञा करता है कि वह भी आजन्म अविवाहित रहेगा। अगले जन्म में स्कन्द को प्राप्त करने की कामना लेकर देवसेना प्राण-त्याग करती है। यहाँ नाटक समाप्त होता है।

(ख) प्रासंगिक कथावस्तु

प्रासंगिक कथावस्तु के अन्तर्गत तीन कथाएँ आती हैं। यथा—

(i) स्कन्दगुप्त और मालव राजकुमारी देवसेना का प्रेम।

(ii) स्कन्दगुप्त के प्रति विजया की आसक्ति।

(iii) बलि के प्रश्न को लेकर ब्राह्मणों और बौद्धों के मध्य विवाद।

जैसा हम अन्यत्र लिख चुके हैं, प्रासंगिक कथावस्तु के दो भेद होते हैं— पताका और प्रकरी। उक्त तीन प्रसंगों में प्रथम दो पताका के अन्तर्गत आते हैं। स्कन्दगुप्त और देवसेना का प्रेम-प्रसंग नाटक के अन्त तक चलता है, और इसी के साथ नाटक की समाप्ति होती है। स्कन्दगुप्त के प्रति विजया की आसक्ति भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और काफी समय तक चलती है। इन दोनों ही कथानकों के द्वारा स्कन्दगुप्त के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है और घटनाचक्र को गति प्राप्त होती है।

बलि के प्रश्न को लेकर ब्राह्मणों और बौद्धों के मध्य जो विवाद चलता है, वह केवल थोड़े-से ही समय तक चलता है। इस प्रसंग के द्वारा न तो चरित्र-चित्रण में ही सहायता प्राप्त होती है, और न घटना-क्रम को ही गति प्राप्त होती है। अतः यह कथा—ब्राह्मण और बौद्धों के बीच होने वाला विवाद— प्रकरी (प्रासंगिक कथावस्तु) के अन्तर्गत आएगा।

मुद्गल एक विदूषक है। इसका अभिनय प्रेक्षकगण के मनोरंजनार्थ है। पुरानी परिपाटी के अनुसार विदूषक प्रायः पेटू हुआ करते थे। मुद्गल भी पेटू

है। नाटक की कथावस्तु के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। स्कन्दगुप्त नाटक की कथावस्तु का सारांश इस प्रकार है—

प्रथम अंक

दृश्य १—मगध के युवराज और नवीन महानायक पर्णदत्त का वार्त्तालाप के साथ दृश्य खुलता है। स्कन्दगुप्त अपने अधिकारों एवं राजश्री के प्रति उदासीनता दिखता है। पर्णदत्त कहता है कि ऐसा करने से काम नहीं चलेगा। मगध साम्राज्य पर संकट के बादल घिर रहे हैं। यहीं बात-चीत में पर्णदत्त तीन सूचनाएँ देता है—(i) मगध सम्राट (कुमारगुप्त) विलास हेतु कुसुमपुर चले गए हैं, (ii) पुष्यमित्रों की पराजय हो चुकी है, तथा (iii) हूण भी आक्रमण की तैयारी कर रहे हैं। यहाँ यह भी विदित हो जाता है कि महानायक वीरसेन की मृत्यु हो जाने के पश्चात् महानायक के पद पर पर्णदत्त की नियुक्ति हुई है।

पर्णदत्त का पुत्र चक्रपालित अपनी बाल-सुलभ सरलता वश यह व्यक्त कर देता है कि मगध साम्राज्य के उत्तराधिकार के नियम अव्यवस्थित हैं। पर्णदत्त उसे डाँटते हुए वाणी में संयम रखने को कहता है।

यहीं मालव का दूत आता है। वह दो सूचनाएँ देता है—(i) मालव सम्राट् विश्ववर्मा का शरीरान्त हो गया है और उनके पुत्र बन्धुवर्मा अब राज्य सिंहासन पर विराजमान हैं; तथा (ii) मालव पर पुष्यमित्रों का प्रबल आक्रमण होने वाला है और मालव पति ने स्कन्द से सहायता की याचना की है।

यद्यपि मगध पर भी संकट के बादल घिर रहे हैं तथापि मालव और मगध के मध्य हुई सन्धि के अनुसार और शरणागत-रक्षा के नाम पर स्कन्दगुप्त मालव की सहायता करने को प्रस्तुत हो जाता है।

दृश्य २—इस दृश्य में कुमारगुप्त, धातुसेन, भटार्क, मुद्गल, पृथ्वीसेन और अनन्तदेवी का परिचय प्राप्त होता है। इस दृश्य में दो बातें सामने आती हैं—(i) कुमारगुप्त विलासी है, और (ii) कुमारगुप्त अपनी छोटी रानी अनन्तदेवी से आतंकित रहता है।

दृश्य ३—मातृगुप्त (कालिदास) से परिचय होता है। हूणों के आतंक के कारण वह काश्मीर छोड़ता है। धातुसेन से उसकी भेंट होती है। सूचना मिलती है कि धातुसेन एक विनोदशील व्यक्ति है और वह गुप्त-साम्राज्य का वैभव एवं महाबोधि-बिहार के श्रमण अपने बाल सह-चर प्रख्यातकीर्ति को देखने भारत आया हुआ है। यहाँ मातृगुप्त के द्वारा यह सूचना भी मिल जाती है कि सम्राट् कुमारगुप्त अपनी छोटी पत्नी अनन्तदेवी के हाथ की कठपुतली बने हुए हैं।

दृश्य ४—भटार्क और अनन्तदेवी राज्य के विरुद्ध कुमन्त्रणा करते हैं। अनन्तदेवी पुरगुप्त को अभिषिक्त करके महादेवी कहलाना चाहती है। भटार्क को पुष्यमित्रों के युद्ध के बाद सेनापति की पदवी नहीं दी गई—वह इसका बदला लेना चाहते हैं। दोनों की यह योजना है कि महाराज जब शराब के नशे में चूर हों, तब उनकी हत्या कर दी जाय। याज सूचना देती है कि महाराज नशे में धुत हैं। भटार्क महाराज की हत्या के लिए भीतर जाता है।

दृश्य ५—नवीन महाबलाधिकृत भटार्क अन्तर्वेद के विषयपति शर्वनाग को आज्ञा देता है कि महादेवी देवकी पर नियन्त्रण रखे। इतने में कोला-हल होता है, भटार्क भीतर चला जाता है। शर्वनाग की पत्नी रामा आती है। वह शर्वनाग से कहती है कि वह महादेवी की रक्षा करे।

पुरगुप्त महादेवी के द्वार पर जाता है। भटार्क शर्वनाग से कहता है कि महाराज कुमारगुप्त का निधन हो गया है—परन्तु साथ ही यह भी आज्ञा देता है कि वह महाराज के निधन का समाचार किसी से कहे नहीं—स्पष्ट है कि भटार्क और अनन्तदेवी ने कुचक्र करके महाराज की हत्या कर दी है।

महाप्रतिहार, महादण्ड नायक और पृथ्वीसेन भीतर जाने का प्रयत्न करते हैं। उसी समय भटार्क और पुरगुप्त आ जाते हैं। भटार्क कहता है कि वे सब लोग पुरगुप्त को सम्राट स्वीकार करें। पृथ्वीसेन इस पर आपत्ति प्रकट करता है। भटार्क और पुरगुप्त की आज्ञा से

वे सब बन्दी बना लिए जाते हैं। अन्तर्विद्रोह सामने आ जाता है। पृथ्वीसेन सावधान करता हुआ कहता है कि बाह्य आक्रमण की छाया में यह अन्त:कलह उचित नहीं है।

दृश्य ६—मुद्गल और मातृगुप्त का वार्त्तालाप होता है। मुद्गल बताता है कि महादेवी देवकी ने उसको स्कन्द के पास अवन्ती भेजा था। वहाँ स्कन्दगुप्त नहीं मिल सके। इतने में ही आक्रमणकारी हूण आ जाते हैं। वे पुरुषों एवं नारियों के प्रति बर्बरतापूर्ण एवं नृशंसतापूर्ण अत्याचार करते हैं। इतने में ही कुमारगुप्त का छोटा भाई गोविन्दगुप्त आ जाता है। वह हूणों को ललकारता है। अन्य लोग भी प्रोत्साहित होकर हूणों से भिड़ जाते हैं। हूण भाग जाते हैं। मातृगुप्त बताता है कि स्कन्दगुप्त अवन्ती में सुरक्षित हैं और वह मालव की सहायतार्थ गए हुए हैं। गोविन्दगुप्त सूचना देता है कि पुष्यमित्र पराजित हो गए हैं।

दृश्य ७—मालव सम्राट् बन्धुवर्मा की पत्नी जयमाला, बन्धुवर्मा की बहिन देवसेना और मालव के घन कुबरे की कन्या बातें करती हैं। जयमाला वीर क्षत्राणी है और विजया एक कायर धन कुबेर की कन्या। जयमाला अपने पति बन्धुवर्मा से कहती है कि वह अपर्याप्त साधनों को लेकर ही शक-हूणों की सम्मिलित वाहिनी से दुर्ग की रक्षा करें। विजया युद्ध के नाम से डरती है। अन्त:पुर की रक्षा का भार देवसेना लेती है। देवसेना गाने लगती है। भीमवर्मा आकर दुर्ग के द्वार के टूटने का समाचार देता है। विजया भाग चलने की बात करती है। जयमाला छुरी निकाल लेती है। आक्रमणकारी अन्दर घुस आते हैं। इतने में ही स्कन्दगुप्त आ जाता है। आक्रमणकारी पराजित होते हैं। वे बन्दी बना लिए जाते हैं। विजया स्कन्दगुप्त को देखकर ढीली पड़ जाती है।

स्कन्दगुप्त के प्रति विजया की आसक्ति प्रारम्भ होती है। प्रासंगिक कथावस्तु (पताका) का यह महत्त्वपूर्ण प्रसंग है।

द्वितीय अंक

दृश्य १—देवसेना और विजया की बातचीत होती है। विजया स्वीकार करती है कि स्कन्द को देखकर उसने मन में पराजय का अनुभव किया है।

स्कन्दगुप्त युद्ध और राज्य के प्रति विरत होना चाहता है। चक्रपालित दार्शनिक पृष्ठभूमि में उसको युद्ध के प्रति प्रोत्साहित करता है। वह कहता है कि स्कन्दगुप्त को अविलम्ब राज्य-सिंहासन सम्भाल लेना चाहिए। विजया और देवसेना की फिर बातें होती हैं। देवसेना जीवन में संगीत का महत्त्व बताती है। वह कहती है कि विश्व में कण-कण में संगीत गूँजता है। हम उसको सुनें। बन्धुवर्मा सूचित करते हैं कि स्कन्दगुप्त कुसुमपुर वापिस जा रहा है।

दृश्य २—प्रपंच बुद्धि, शर्वनाग और भटार्क आपस में बातें करते हैं। प्रपंच बुद्धि सुझाव देता है कि देवकी की हत्या करना आवश्यक है। शर्वनाग अबला की हत्या को कायरता बताकर इसका विरोध करता है। अन्ततः वह तैयार हो जाता है। मुद्‌गल और धातुसेन को इस कुचक्र का पता लग जाता है। वे इसके प्रतिकार की सोचते हैं।

दृश्य ३—शर्वनाग और रामा की बातचीत होती है। जब रामा को यह विदित होता है कि शर्वनाग देवकी की हत्या करने को तैयार है, तो वह अपना सिर पीट लेती है। रामा कहती है कि वह यथाशक्ति देवकी की हत्या नहीं होने देगी।

दृश्य ४—रामा बन्दीगृह में देवकी—देवकी के पास पहुँच जाती है। भटार्क शर्वनाग आदि के साथ अनन्तदेवी बन्दीगृह में पहुँचती है। शर्वनाग देवकी की हत्या करना चाहता है। रामा बीच में आ जाती है। इतने में ही स्कन्दगुप्त, धातुसेन आदि आ जाते हैं। स्कन्दगुप्त से युद्ध करते हुए भटार्क घायल होता है। स्कन्दगुप्त अनन्तदेवी को क्षमा करता है और कहता है कि वह अब चुपचाप बैठे।

दृश्य ५—बन्धुवर्मा अवन्ती के दुर्ग में मन्त्रणा करता है। उसकी सम्मति है कि देश-हित के व्यापक उद्देश्य को देखते हुए मालव का राज्य भी

स्कन्दगुप्त को ही दे देना चाहिए। जयमाला इसका विरोध करती है। देवसेना अपने भाई का समर्थन करती है। भीमवर्मा भी अपने अग्रज बन्धुवर्मा का समर्थन करने लगता है। जयमाला के अत्यधिक विरोध करने पर बन्धुवर्मा राज्य-पाट छोड़कर विरक्त हो जाना चाहता है। इतने में चक्रपालित आ जाता है। वह स्कन्दगुप्त की शूरता का समाचार देता है। जयमाला भी बन्धुवर्मा के पक्ष में हो जाती है।

दृश्य ६—भटार्क और उसकी माँ कमला की वातचीत होती है कमला भटार्क के देशद्रोह की भर्त्सना करती है। विजया भी आ जाती है और वह भटार्क के प्रति अनुरक्त हो जाती है। मातृगुप्त, मुद्‌गल और गोविन्दगुप्त आ जाते हैं। वे भटार्क, विजया और कमला को बन्दी बनाते हैं।

दृश्य ७—मालव के सिंहासन पर स्कन्दगुप्त का राज्याभिषेक होता है। स्कन्द-गुप्त शर्वनाग को क्षमा करता है और उसको अन्तर्वेद का विषयपति बनाता है। स्कन्द भटार्क को गुप्त सामाज्य का महाबलाधिकृत नियुक्त करता है।

तृतीय अंक

(प्रपंच बुद्धि और भटार्क क्षिप्रा के तट पर मिलते हैं।)

दृश्य १—प्रपंच बुद्धि भटार्क को फिर स्कन्द के विरुद्ध विद्रोह करने को कहता है। विजया भी आ जाती है। विजया स्कन्द को चाहती है। देवसेना को वह अपने मार्ग की बाधक समझती है। वह चाहती है कि देवसेना की हत्या कर दी जाय। प्रपंच बुद्धि भी यही चाहता है। विजया देवसेना को श्मशान तक ले आने तो तैयार हो जाती है। भटार्क कृतघ्नता के भय से काँप उठता है।

दृश्य २—श्मशान का दृश्य है। स्कन्दगुप्त एक ओर छिपकर घटनाचक्र देखना चाहता है। प्रपंच बुद्धि साधक के रूप में बैठा हुआ है। विजया और देवसेना आती हैं। विजया देवसेना को प्रपंच बुद्धि के पास तक ले

आती है और स्वयं एक ओर हट जाती है। प्रपंच बुद्धि देवसेना की हत्या करना चाहता है। मातृगुप्त उसकी रक्षा कर लेता है। देवसेना स्कन्दगुप्त का आलिंगन करती है।

दृश्य ३—हूण-स्कंधावार से घर आता है। वह सूचित करता है कि भटार्क आदि ने खिंगिल से विपुल धन लेकर मगध के साथ विद्रोह करने का जो वचन दिया था, उसका पालन होना अभी शेष है। कुसुमपुर पीछे नष्ट होगा, पहले कुसुमपुरी का मणि-रत्न-भण्डार लूटा जायगा। भटार्क कहता है कि आगे युद्ध में मैं ही मगध की सेना का संचालन करूँगा और उसी समय में अपने वचन का पालन करूँगा, परन्तु खिंगिल को पुरगुप्त को सम्राट बनाने में सहायता करनी पड़ेगी।

दृश्य ४—स्कन्दगुप्त के प्रति देवसेना के अनुराग को लक्ष्य करके सखियाँ देवसेना के साथ परिहास करती हैं। देवसेना अपने मनोभावों को इस प्रकार व्यक्त करती है—"लोग कहेंगे कि मालव देकर देवसेना का व्याह किया जा रहा है।"

देवसेना की प्राण रक्षा करने के पुस्कार स्वरूप मातृगुप्त को कश्मीर का शासक बनाया जाता है। समाचार मिलता है कि स्कन्दगुप्त ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की है।

दृश्य ५—गान्धार की घाटी के रण-क्षेत्र में स्कन्द और हूणों के मध्य युद्ध होता है। युद्ध में बन्धुवर्मा वीर-गति को प्राप्त होता है।

दृश्य ६—दुर्ग के सम्मुख कुभा के रण-क्षेत्र में युद्ध होता है। भटार्क विश्वासघात करता है। भटार्क कुभा का बाँध तोड़ देता है। स्कन्दगुप्त आदि उसमें बहते हुए दिखाई देते हैं।

चतुर्थ अंक

दृश्य १—अनन्तदेवी विजया को भटार्क में वंचित करके उसे पुरगुप्त की पत्नी बनाने का प्रस्ताव करती है। विजया इसको अपना अपमान समझती है। वह अनन्तदेवी का अपमान करती हुई चली जाती है। विजया कहीं की नहीं रहती है। इसी समय शर्वनाग से उसकी भेंट होती है और वह देश के कल्याण के लिए कटिबद्ध हो जाती है।

दृश्य २—भटार्क के शिविर में कमला और देवकी आती हैं। वे उससे स्कन्द-गुप्त का पता पूछती हैं। भटार्क कहता है कि वह कुभा की लहरों में समा गया। स्कन्द की मृत्यु का समाचार सुनते ही देवकी मर जाती है।

दृश्य ३—न्यायाधिकरण में मातृगुप्त और उसकी प्रेमिका वेश्या मालिनी की भेंट होती है। हूण कश्मीर पर आक्रमण करना चाहते हैं, और स्कन्दगुप्त का पता नहीं।

दृश्य ४—धातुसेन और प्रख्यातकीर्ति के वार्तालाप द्वारा बलि के प्रश्न पर बौद्धों और ब्राह्मणों के विवाद की सूचना मिलती।

दृश्य ५—धातुसेन ब्राह्मणों के विवाद को शांत करता है। ब्राह्मण बलि का विचार त्याग कर राज्य के लिए लड़ने को प्रस्तुत होते हैं।

दृश्य ६—विजया मातृगुप्त से कहती है कि वह शृङ्गार के गीत बन्द करके भारतवासियों को जगाने के गीत गाए।

दृश्य ७—कमला की कुटी पर स्कन्दगुप्त विचित्र अवस्था में दिखाई देता है। शर्वनाग प्रलाप-सा करता हुआ आता है और चला जाता है। उसके प्रलाप का निष्कर्ष है कि अन्तर्वेद हूणों द्वारा पदाक्रान्त हो गया।

रामा और स्कन्द की भेंट होती है। हूण देवसेना का बध करना ही चाहता है कि पर्णदत्त उसकी रक्षा कर लेता है। स्कन्दगुप्त को विदित होता है कि उसकी माता देवकी स्वर्गवासिनी हो चुकी है।

पंचम अंक

दृश्य १—मुद्गल और विजया की भेंट होती है। विजया के पूछने पर मुद्गल बताता है कि स्कन्दगुप्त कमलादेवी की कुटीर के पास अपनी माता की समाधि पर होंगे। भटार्क अपने किए पर पश्चात्ताप करता है।

दृश्य २—महादेवी की समाधि पर पर्णदत्त और देवसेना भीख माँगते हुए दिखाई देते हैं। वेश बदले हुए स्कन्दगुप्त आता है। स्कन्दगुप्त और देवसेना की भेंट होती है। स्कन्दगुप्त देवसेना से प्रणय-प्रस्तावकरता है। देवसेना उसको अस्वीकार कर देती है। साथ ही यह भी आश्वासन देती है कि वह स्कन्दगुप्त के अतिरिक्त किसी

को नहीं चाहती । स्कन्दगुप्त आजीवन अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा करता है । स्कन्दगुप्त यह भी कहता है कि वह साम्राज्य भी पुरगुप्त को ही दे देगा ।

दृश्य ३—विजया आती है । वह स्कन्दगुप्त के प्रति अपना प्रणय निवेदन करती है । स्कन्दगुप्त उसको अस्वीकार कर देता है । इतने में ही भटार्क आ जाता है । विजया लज्जा के कारण आत्म-हत्या कर लेती है । भटार्क क्षमा-याचना करता है ।

दृश्य ४—प्रख्यातकीर्ति, अनन्तदेवी, पुरगुप्त और हूण-सेनापति की बातें होती हैं । सूचना मिलती है कि उत्तरापथ अब हूणों का विरोधी हो गया है, तथा स्कन्दगुप्त अभी जीवित है । पुरगुप्त मद्यपान करता है । प्रख्यातकीर्ति उसको वहाँ से निकालता है । हूण-सेनापति प्रख्यात-कीर्ति को मारना चाहता है । धातुसेन आकर सबको बन्दी बनाकर ले जाता है ।

दृश्य ५—खिंगिल और स्कन्दगुप्त का युद्ध होता है । खिंगिल घायल होकर वन्दी होता है । पर्णदत्त की मृत्यु हो जाती है । स्कन्द अनन्तदेवी को क्षमा करता है । पुरगुप्त को रक्त का टीका लगाकर युवराज घोषित करता है । खिंगिल को छोड़ देता है और आज्ञा देता है कि हूण सिंधु के इस पार भविष्य में आने का साहस न करें ।

दृश्य ६—स्कन्द और देवसेना की भेंट होती है । देवसेना महाप्रयाण के पथ पर अग्रसर है । "मेरे इस जीवन के देवता ! और उस जीवन के प्राप्य !" "क्षमा" कहती हुई घुटने टेक देती है और उसकी जीवन-लीलासमाप्त हो जाती है । स्कन्दगुप्त हाथ मलता हुआ अकेला रह जाता है ।

प्रश्न २—'स्कन्दगुप्त' नाटक की कथावस्तु की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट कीजिए ।

अथवा

इस कथन की समीक्षा कीजिए कि 'स्कन्दगुप्त' नाटक की कथावस्तु में इतिहास और कल्पना का सुन्दर संयोग दिखाई देता है ।

उत्तर—सन् १६२० के आस-पास भारतवर्ष की राजनीति एक नई करवट ले रही थी, राष्ट्रीयता के क्षेत्र में नई समस्याएँ उत्पन्न हो रही थीं। भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति एवं सभ्यता को अमर रखने के लिए देव-वासियों को बलिदान होना ही चाहिए, हमें अपनी ओर देखना चाहिए अथवा देश की ओर आदि प्रश्न हमारे सम्मुख थे।

'प्रसाद' के नाटकों में उक्त समस्या को इतिहास के आधार पर उठाया गया है। अन्तर्विद्रोहों, धार्मिक उन्माद, स्वार्थपरता आदि का प्रभाव देश के भविष्य को किस सीमा तक प्रभावित करता है। भारत अजेय होते हुए भी किस कारण पराजित होता रहा है—ये विषय 'प्रसाद' ने अपने नाटकों में सर्वथा अभिनय शैली द्वारा प्रस्तुत किये हैं।

विम्बसार से लेकर हर्षवर्द्धन तक का समय भारतवर्ष के इतिहास का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समय है। यह कालावधि लगभग १२०० वर्ष की है। इन दिनों भारत अपने भाग्य का स्वयं विधाता था। 'प्रसाद' के नाटकों में इस तत्कालीन परिस्थित का सुन्दर दिग्दर्शन मिलता है। उक्त काल भारतवर्ष के इतिहास का 'स्वर्ण युग' है। इस काल का आरम्भ गौतम बुद्ध के अवतरण के साथ आरम्भ होता है।

उक्त 'स्वर्ण युग' के पश्चात् हर्षवर्द्धन के शासन-काल के पश्चात् मुस्लिम-युग का आरम्भ होता है। यह युग पराधीनता एवं अभिशापों का युग है। 'भारतवर्ष' से 'हिन्दुस्तान' बनने का उपक्रम इसी युग की देन है।

प्रसाद ने पूर्व मुस्लिम-युग को ही अपनी प्रतिभा के प्रकाशन का क्षेत्र बनाया है। इस युग को 'बौद्ध-कला' भी कहा जा सकता है। गौतम बुद्ध से लेकर जगद्गुरु शंकराचार्य तक इसकी सीमा निर्धारित की जा सकती है। बौद्ध-धर्म के व्यापक प्रभाव के कारण भी उक्त काल की उक्त संज्ञा ही सर्वथा समीचीन प्रतीत होती है। प्रसाद की कृतियाँ—विशेष कर नाटक, इसी काल से सम्बद्ध हैं।

प्रसाद ने इस काल के प्रचुर साहित्य का व्यापक अध्ययन किया और अपनी सारग्राहिणी वृत्ति द्वारा उसका सार-रस ग्रहण किया। अपनी प्रतिभा द्वारा इतिहास को साहित्य का रूप प्रदान किया और जन-मन के रंजनार्थ उसे

नाटकों के माध्यम से प्रस्तुत किया। इनके नाटकों ने भारतीय इतिहास के उस परिच्छेद-विशेष को साकार, दृश्य, अमर और नव-स्फूर्तिदायक बना दिया है।

महावीर और बुद्ध की करुणा ने लगभग एक हजार वर्ष तक विश्व-कल्याण कामना की धारा बहाई परन्तु साथ ही विरक्ति और संघर्ष भी उत्पन्न किये। इन्हीं का चित्रांकन हमको प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों—अजातशत्रु, विशाख, स्कन्दगुप्त और राज्य श्री में मिलता है।

'स्कन्दगुप्त' नाटक की घटनायें प्राय: ऐतिहासिक ही हैं, अनुमान पर आधारित बहुत कम घटनाओं का समावेश किया गया है। अधिकांश बातें ऐसी हैं, जिनका समर्थन इतिहास के किसी-न-किसी विद्वान् ने किया ही है।

'स्कन्दगुप्त' नाटक के आधार के सम्बन्ध में स्वयं प्रसाद जी ने सविस्तार विचार किया है। नाटक के ऐतिहासिक आधार पर उन्होंने चार उपशीर्षकों के अन्तर्गत विचार किया है।[1] यथा—

(१) मगध का गुप्त राजवंश, (२) मालव का राजवंश,
(३) विक्रमादित्य, (४) कालिदास।

इसके उल्लेखनीय अंश यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं—

१—मगध का गुप्त राजवंश[2]—गुप्तवंश के परम प्रतापी भारत-विजेता सम्राट् समुद्रगुप्त ने सन् ३३५ से सन् ३८५ तक राज्य किया। इनके पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य – पाटलिपुत्र का विक्रमादित्य, का शासन-काल सन् ३८५ से ४१३ तक रहा। इनके पुत्र कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य ने सन् ४१३ से सन् ४५५ तक राज्य किया। इनका पुत्र स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य, उज्जयिनी का द्वितीय विक्रमादित्य—महान् वीर था। उसने केवल १२ वर्ष तक—सन् ४५५ से सन् ४६७ तक—राज्य किया। उसके चाँदी के सिक्कों पर "परम भागवत श्री विक्रमादित्य स्कन्दगुप्त" अंकित हैं। उसके पश्चात् उसका विमाता-पुत्र पुरगुप्त प्रकाशादित्य गद्दी पर बैठा, जिसने सन् ४६७ से सन् ४६९ तक, केवल

---

१. 'स्कन्दगुप्त नाटक' (प्रथम संस्करण) परिशिष्ट।

२. वही, पृ० सं० १-४

दो वर्ष तक राज्य किया। स्कन्दगुप्त के पश्चात् सम्भवतः उसकी उपाधि 'विक्रमादित्य' पुरगुप्त ने धारण कर ली थी।

स्कन्दगुप्त के साथ-साथ उसके विमाता-पुत्र का नाटक में स्पष्ट उल्लेख है।

२—मालव का राजवंश[1]—मालवराज नरवर्मा सिंहवर्मा का पुत्र था जो गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त का समकालीन था। मन्दसौर में प्राप्त सन् ४०४ के शिलालेख के अनुसार नरवर्मा और विश्ववर्मा स्वतन्त्र मालवेश थे। 'गंगधार' के शिलालेख में भी विश्ववर्मा स्वतन्त्र नरेश के रूप में अंकित है। विश्ववर्मा की मृत्यु के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र बन्धुवर्मा मालव के सिंहासन पर बैठा और गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त महेन्द्रगुप्त के अधीन हुआ। विश्ववर्मा का छोटा पुत्र भीमवर्मा सम्भवतः कौशाम्बी का शासक था।

'स्कन्दगुप्त' नाटक के अन्तर्गत मालव-राजवंश के चार महाराजाओं का उल्लेख मिलता है। ये हैं—नरवर्मा, विश्ववर्मा, बन्धुवर्मा और भीमवर्मा।

३—विक्रमादित्य[2]—इस विषय पर प्रसाद जी ने अत्यधिक विस्तार के साथ विवेचन किया। सारांश इस प्रकार है—

(क) 'कथासरित्सागर' में लिखा है—विक्रमादित्य इत्यासीद्राजा पाटिल-पुत्र थे।"

(ख) ईसवी पूर्व पहली शताब्दी में एक विक्रमादित्य हुए। स्कन्दगुप्त तीसरा विक्रमादित्य था।

(ग) गंगधार और मन्दसौर के शिलालेखों के अनुसार कुमारगुप्त की सार्वभौम सत्ता मानी जा चुकी थी। इससे प्रतीत होता है कि इसी काल में मालव गुप्त-साम्राज्य का अंग बना था।

(घ) सिक्कों में स्कन्दगुप्त का "परम भागवत श्री विक्रमादित्य स्कन्दगुप्त" के नाम से उल्लेख मिलता है। उसके शिलालेख से प्रकट है कि गुप्त-कुललक्ष्मी विचलित थी, म्लेच्छों और हूणों से आर्यावर्त्त आक्रान्त था। अपनी सत्ता बनाये

---

१. **'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य'** (प्रथम संस्करण), पृ० सं० १-४ (परिशिष्ट)।
२. **वही**, पृष्ठ सं० ५-२३ (परिशिष्ट)।

रखने के लिए स्कन्दगुप्त ने पृथ्वी पर सो-सोकर रातें व्यतीत की थीं। जूनागढ़ के शिलालेख द्वारा यह प्रकट है कि हूणों के साथ युद्ध में अपने विकट पराक्रम द्वारा धरा को विकंपित करने वाला तथा सौराष्ट्र के शकों का मूलोच्छेदन करके पर्णदत्त को वहाँ का शासक नियुक्त करने वाला स्कन्दगुप्त ही था।

(ङ) स्कन्दगुप्त को सौराष्ट्र के शकों से और तोरमाण के पूर्ववर्ती हूणों से लगातार युद्ध करना पड़ता था। इधर विमाता-पुत्र पुरगुप्त भी उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रचता रहता था—साथ उसका आंतरिक द्वन्द्व चल रहा था। ऐसी स्थिति में प्राचीन राजधानी पाटलिपुत्र से दूर एक केन्द्रस्थल में राजधानी स्थापित करना सर्वथा आवश्यक था। इसीलिए वर्तमान मालव की मौर्यकाल की अवन्ती नगरी को ही स्कन्दगुप्त ने अपने साम्राज्य का केन्द्र बनाया और शक तथा हूणों को परास्त करके उत्तरी भारत से हूणों तथा शकों का राज्य निर्मूल कर 'विक्रमादित्य' की उपधि धारण की।

स्कन्दगुप्त के समय में सौराष्ट्र के शकों का विनाश होना चक्रपालित के शिलालेख से स्पष्ट है। प्रसाद जी के मतानुसार 'विक्रमादित्य' की उपाधि के लिए शकों का नाश करना अनिवार्य था।[1]

४—कालिदास—प्रसाद के मतानुसार मातृगुप्त और कालिदास एक ही व्यक्ति थे। वह स्कन्दगुप्त का समकालीन था, 'कालिदास' उसकी उपाधि थी। इस सम्बन्ध में प्रसाद ने लगभग २० तर्क प्रस्तुत किये हैं।[2] उनके तर्कों का सारांश इस प्रकार है—

---

१. गांधार वंशीय हूण तुंजीन का समय और स्कन्दगुप्त का समय एक है, क्योंकि उसके पुत्र तोरमाण का काल स्मिथ ने सन् ५०० सिद्ध किया है। स्कन्दगुप्त द्वारा हूणों से काश्मीर का राज्य निकल जाने के पाश्चात् मातृगुप्त वहाँ का शासक था। पिटारी के स्तम्भ से स्पष्ट है कि स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य ही द्वितीय कहरूर-युद्ध का विजेता तृतीय विक्रम था। अतः यह पूर्ण सम्भावना है कि सौराष्ट्र के शक रुद्रसिंह और गांधार के हूण तुंजीन की सम्मिलित वाहिनी को कहरूर-युद्ध में पराजित करके स्कन्दगुप्त ने आर्यावर्त्त की रक्षा की थी।

२. **'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य'** (प्रथम संस्करण)' पृ० सं० २४-४०, परिशिष्ट।

"राजतरंगिणी" में एक विक्रमादित्य का वर्णन है जिसने प्रसन्न होकर देश का राज्य 'मातृगुप्त' नाम के एक कवि को दे दिया था। डॉक्टर भाऊदा का मत है कि मातृगुप्त ही कालिदास है। मेरा अनुमान है कि यह मातृगुप्त कालिदास तो थे, परन्तु काव्यकर्त्ता कालिदास द्वितीय और थे। प्रवरसेन, मातृगुप्त और विक्रमादित्य—ये परस्पर समकालीन व्यक्ति छठी शताब्दी के माने जाते हैं।

..........कुमारदास का सिंहल का राजा उसी काल में होना, सिंहल में कालिदास के जाने की रूढ़ि का उस देश में माना जाना, उधर चीनी यात्री हुएन्सांग द्वारा दादागुरु मनोरथ का कालिदास द्वारा हराए जाने का उल्लेख, दिङ्नाग और कालिदास का द्वन्द्व, विक्रमादित्य और मातृगुप्त की कथा का 'राजतरंगिणी' में उल्लेख, हूण राजकुल में 'सुगंपून' के अनुसार विग्रह, काश्मीर-युद्ध की देखी हुई घटना—ये सब बातें आकर एक सूत्र में ऐसी मिल जाती हैं कि दूसरे काव्यकार कालिदास को मातृगुप्त मानने में कुछ संकोच नहीं होता है;..........।

मातृगुप्त के कालिदास होने में अनुमान का विशेष सम्बन्ध है, हो सकता है कि आगे चलकर कोई प्रत्यक्ष प्रमाण भी मिल जाय परन्तु मुझे उनके लिए कोई आग्रह नहीं। इसलिए हमने नाटक में मातृगुप्त का ही प्रयोग किया है।

ऐतिहासिक तथ्यों का उक्त चार शीर्षकों के अन्तर्गत विवेचन करने के पश्चात् प्रसाद निम्न प्रकार से स्वमत-निर्धारण करते हैं—

(क) विक्रमादित्य के मरने पर मातृगुप्त काश्मीर राज्य छोड़ देता है और वही समय सिंहल के कुमार धातुसेन का भी निकलता है। इसी कारण नाटक में धातुसेन भी एक पात्र है।

(ख) बन्धुवर्मा, चक्रपालित, पर्णदत्त, शर्वनाग, भटार्क, पृथ्वीसेन, खिंगिल, प्रख्यातकीर्ति, भीमवर्मा, गोविन्दगुप्त आदि समस्त पात्र ऐतिहासिक व्यक्ति हैं।

उक्त ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर नाटक के कथानक का निर्माण करते समय प्रसाद ने कल्पना का पुट किस प्रकार दिया है—इसका विवेचन करते समय कुछ अन्य तथ्य भी द्रष्टव्य हैं। यथा—

१—श्री आर० डी० बनर्जी कृत 'दि एज ऑफ दी इम्पीरियल गुप्ताज़' (The Age of the Imperial Guptas) के अनुसार सम्राट कुमारगुप्त एक विलासी शासक था तथा महाराजकुमार गोविन्दगुप्त की मृत्यु स्कन्दगुप्त के जीवन-काल में हो गई थी।

२—प्रेमचन्द चौधरी कृत Political History of the Ancient India के अनुसार स्कन्दगुप्त की वीरता और योग्यता की धाक सम्राट कुमारगुप्त के समय में ही थी।

३—फ्लीटकृत 'कॉरपस इंस्क्रिप्शन्स इण्डीकैरम' (जिल्द ३) के अनुसार—

(क) सम्राट कुमारगुप्त ने पुष्यमित्रों से युद्ध किया।[1]

(ख) सम्राट कुमारगुप्त के पश्चात् उसका पुत्र और उत्तराधिकारी स्कन्द-गुप्त ही शासक बना।[2]

(ग) समृद्ध और सशक्त पुष्पमित्रों को भली-भाँति पराजित करने के उप-रान्त स्कन्दगुप्त शासक बना। —(पृ० सं० ५३-५४)

(घ) शत्रुओं को पराजित करके स्कन्दगुप्त, माता की वन्दना करने को उसी प्रकार पहुँचा जैसे श्रीकृष्ण देवकी के पास पहुँचे थे। —(पृ० सं० ५६)

(ङ) स्कन्दगुप्त की पदवी 'परम भट्टारक महाराजाधिराज' थी[3] तथा वह क्षितिश-शतपति भी था।[4]

(च) स्कन्दगुप्त ने साम्राज्य का विभाजन प्रान्तों में करके प्रान्तीय शासक नियुक्त किये थे।[5]

(छ) सौराष्ट्र प्रान्त का शासक (या गोप्ता) सम्राट् स्कन्दगुप्त का विश्वास-पात्र सहयोगी पर्णदत्त बनाया गया था।[6]

(ज) अन्दर्वेद का शासक (या विषयपति) शर्वनाग था।[7]

(झ) कोसल का शासक (या गोप्ता) भीमवर्मा था।[8]

४—सोमदेव-कृत 'कथा-सरित्सार' के अनुसार उज्जैन के शासक महेन्द्रा-दित्य के पुत्र विक्रमादित्य ने म्लेच्छों का संहार किया था और वह उज्जयिनी

---

१. प्लेट १३, २. प्लेट १२, ३. प्लेट १६, ४. प्लेट ५१, ५. प्लेट १४, ६. प्लेट १४, ७. प्लेट १६, ८. प्लेट ६५।

भी गया था। 'विषमशीललंबक' (प्रथम तरंग, श्लोक ११ तथा तृतीय तरङ्ग, श्लोक ७)।

विशेष—उक्त प्रामाणिक ग्रन्थों के अतिरिक्त डॉ॰ प्रेमनारायण टण्डन ने तीन अन्य महत्त्वपूर्ण इतिहासवेत्ताओं की चर्चा की है—(i) श्री वासुदेव उपाध्याय कृत गुप्त साम्राज्य का इतिहास', (ii) श्री राधागोविन्द बसक कृत 'दि हिस्ट्री ऑफ नार्थ ईस्टर्न इण्डिया' तथा (iii) श्री नन्द्रगिकार कृत 'इन्ट्रोडक्शन टु रघुवंश'।

नाटक के अध्ययन के फलस्वरूप हमारे सम्मुख यह निष्कर्ष प्रस्तुत होता कि नाटक की कथावस्तु एवं नाटक के महत्वपूर्ण पात्र मूलतः इतिहास सम्मत हैं, उनके ऐतिहासिक होने के प्रमाण हमें यत्र-तत्र बिखरे हुए मिल ही जाते हैं।

कथावस्तु को रोचक वनाने के लिए नाटककार ने प्रेम-कहानियों का समावेश किया है। इम कल्पना के फलस्वरूप कथावस्तु रोचक तो बन ही जाती है, साथ ही शृंखलाबद्ध भी बन जाती है। कथावस्तु को सुसंगठित करने के लिए नाटककार ने अन्य कल्पित बातें भी जोड़ी हैं—परन्तु इस प्रकार का जोड़ कहीं भी नहीं दिखाई देता है। यथा—

(क) प्रपंच बुद्धि और मुद्गल कल्पित पात्र हैं।

(ख) स्कन्दगुप्त की जननी का नाम देवकी रखा गया है। स्कन्दगुप्त के एक शिलालेख में—'हस्तरिपुखि कृष्णदेवकीध्युपतेः' मिलता है। सम्भवतः स्कन्द की माता के नाम 'देवकी' से ही कवि को यह उपमा सूझी हो। अतः स्कन्द की माता का नाम देवकी होना अनुमान का ही विषय मानना चाहिए।

(ग) देवसेना और जयमाला भी अनुमानित ही हैं। वे कल्पित और वास्तविक, दोनों ही हो सकती हैं। विजया, कमला रामा और मालिनी जैसी किसी दूसरी नामधारिणी स्त्रियों की भी उस काल में सम्भावना है। तब भी इन्हें कल्पित ही मानना चाहिए।

कथावस्तु में इतिहास और कल्पना के संयोग को स्पष्ट करने के लिए स्वयं नाटककार का यह कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

"पात्रों की ऐतिहासिकता के विरुद्ध चरित्र की सृष्टि, जहाँ तक सम्भव हो

सका है, न होने दी गई है। फिर भी कल्पना का अवलम्ब लेना ही पड़ा है, केवल घटना की परम्परा ठीक रखने के लिए।"[1]

नाटक में गुप्त और मालववंशीय शासकों तथा अधिकारियों के अतिरिक्त मातृगुप्त और धातुसेन की भी कथाएँ हैं। साथ ही तत्कालीन बौद्ध श्रमणों के भी यत्र-तत्र उल्लेख हैं। इन सबके सम्बन्ध में नाटककार ने ऐतिहासिक तथ्यों को सामने रखकर ही कहा है।[2]

प्रश्न ३—स्कन्दगुप्त नाटक के 'देश-काल' का विवेचन कीजिए।

उत्तर—नाटककार द्वारा नाटक के घटनाक्रम को अपने समय के अनुरूप प्रस्तुत करना, देश-काल का निर्वाह करना कहा जाता है।[3]

हमने नाटक की ऐतिहासिकता पर अभी[4] सविस्तार विचार किया है। उसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है।

नाटक अध्ययन के फलस्वरूप हम देखते हैं कि नाटककार ने नाटक की कथा के समसामयिक वातावरण को सफलतापूर्वक चित्रित किया है। यथा—

(i) स्कन्दगुप्त के समय तक गुप्त-साम्राज्य की सीमाएँ काफी विस्तृत हो गई थीं तथा शासकगण आलसी एवं प्रमादी हो चले थे—"गुप्त साम्राज्य की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ उसका दायित्व भी बढ़ गया है, पर उस बोझ को उठाने के लिए गुप्तकुल के शासक प्रस्तुत नहीं, क्योंकि साम्राज्य-लक्ष्मी को वे अनायास और अवश्य अपनी शरण आने वाली वस्तु समझने लगे हैं।"

—(पर्णदत्त का कथन, १।१)

(ii) विदेशी आक्रमणकारियों का जोर बढ़ रहा था। देश उनसे आतंकित था और राष्ट्र की स्वतन्त्रता को खटका पैदा होने लगा था, इतना ही नहीं—

---

१. 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य' (प्रथम संस्करण) परिशिष्ट, पृ० सं० ३९-४०।
२. इस सम्बन्ध में विशेष विवेचन के लिए देखें, प्रश्न सं० २ (नाटक में वर्णित देश-काल वाला तत्व)।
३. देखें, भूमिका—नाटक के आवश्यक तत्व।
४. देखें, प्रश्न सं० १।

"शक-राष्ट्रमण्डल चंचल हो रहा है, नवागत म्लेच्छवाहिनी से सौराष्ट्र भी पदाक्रान्त हो चुका है, इसी कारण पश्चिमो मालव भी अब सुरक्षित नहीं रहा।"

—(दूत का कथन, १।१)

(iii) सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् पश्चिमी भागों में यवनों का प्रभुत्व स्थापित हो गया था। वे यदा-कदा भारतवर्ष के लिए समस्या बनते रहते थे। गुप्तवंशीय सम्राट् उनको सिर उठाने का अवसर न देते थे। यथा—

"हाँ, तो आर्य समुद्रगुप्त को विवश होकर उन विद्रोही विदेशियों का दमन करना पड़ा, क्योंकि मौर्य साम्राज्य के समय से ही सिन्धु के उस पार का देश भी भारत-साम्राज्य के अन्तर्गत था। जगद्विजेता सिकन्दर के सेनापति सिल्यु-कस से उस प्रान्त को मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त ने ले लिया था।"

—(कुमारगुप्त का कथन, १।२)

(vi) भारतवर्ष का वैभव उन दिनों चरम सोमा पर था। सिंहल का राजकुमार, कुमारदास (धातुसेन) भारतवर्ष को 'स्वप्नों का देश भव्य भारत'[1] कहता है। उन दिनों गौतम बुद्ध का प्रभाव और गुप्त साम्राज्य का वैभव, दोनों ही मध्याह्न के प्रचण्ड सूर्य के समान तेजस्वी थे। सूर्य के ढलने का समय था, संक्रांति-काल उपस्थित था। देश की परिस्थितियाँ कह रही थीं कि काल-चक्र अब दूसरी ओर चलना ही चाहता है—"हाँ मित्र, लंका का युवराज। हमारा एक मित्र, एक बाल सहचर, महाबोधि विहार का श्रमण है। उस ओर गुप्त-साम्राज्य का वैभव देखने पर्यटक के रूप में भारत चला आया था। गौतम की पदरज से पवित्र भूमि को खूब देखा। दर्प से उद्धत गुप्त साम्राज्य के तीसरे पहर का सूर्य। आर्य-अभ्युत्थान का यह स्मरणीय युग है। मित्र, परिवर्तन उपस्थित है।"

—(कुमारदास का कथन, १।३)

(v) वीर स्कन्दगुप्त का पराक्रम असाधारण था। उसने अपने बाहुबल से विदेशियों को अच्छी तरह से कुचल दिया था। यथा—

"....एक सुखद समाचार सुन लो। पिता जी का अभी-अभी पत्र आया है कि सौराष्ट्र के शकों को निर्मूल करके परम भट्टारक मालव के लिए प्रस्थान कर चुके हैं।"

—(चक्रपालित का कथन, २।५)

---

१. प्रथम अंक, तृतीय दृश्य।

(vi) भारतवर्ष के अनेक महत्त्वपूर्ण राज्य प्रमाद की मोहनिद्रा में ग्रस्त थे। अनेक राजा विलासी हो गए थे—उन्हें राष्ट्रीय मानापमान का बोध ही न रहा था। विदेशी सभ्यता के चकाचौंध में वे अपनी ओर देख ही न सकते थे, उनकी विलासप्रिय मान्यताओं ने वस्तुत: उन्हें अभिभूत कर रखा था। देश की राष्ट्रीयता के लिए विकट संकट का समय उपस्थित हो गया था। यथा—

"·········यवनों से उधार ली हुई सभ्यता नाम की विलासिता पीछे के आर्य जाति उसी तरह पड़ी है, जैसे कुलबधू को छोड़कर कोई नागरिक वेश्या के चरणों में। देश पर बर्बर हूणों की चढ़ाई और तिस पर भी यह निर्लज्ज आमोद !·········जातीय जीवन के निर्वाणोन्मुख प्रदीप का यह दृश्य·········।"

—(एक सैनिक का कथन, ३।३)

तथा—"जहाँ देखो, वहीं यह प्रश्न होता है···········वह सुन्दरी कब मिलेगी ?—इस देश के छबीले-छैल और रसीली छोकरियों ने यही प्रश्न गुरु से पाठ में पढ़ा। अधिकार के लिए मुहूर्त्त पूछे जाते हैं।"

—(मुद्गल का कथन, ५।१)

परन्तु स्कन्दगुप्त ने विदेसियों का दमन करके भारतवर्ष को (विशेषकर उत्तरी-पश्चिमी भागों को) सर्वथा निरापद बना दिया था। यथा—

"आर्य-साम्राज्य का उद्धार हुआ। बहिन ! सिन्धु के प्रदेश से म्लेच्छ-राज्य ध्वंस हो गया है। प्रवीर सम्राट स्कन्दगुप्त ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की है। गौ, ब्राह्मण और देवताओं की ओर कोई भी आततायी आँख उठाकर नहीं देखता। लौहित्य से सिन्धु तक, हिमालय की कंदराओं में भी, स्वच्छन्दता-पूर्वक सामगान होने लगा है। धन्य हैं हम लोग जो इस दृश्य को देखने के लिए जीवित हैं।"

—(भीमवर्मा का कथन, ३।४)

(vii) नाटक के अन्तर्गत मालववंशीय शासकों एवं अधिकारियों की चर्चा हुई है, मातृगुप्त एवं धातुसेन की कथाएँ आई हैं तथा तत्कालीन बौद्ध श्रमणों के उल्लेख भी हुए हैं। (इस सम्बन्ध में प्राप्त ऐतिहासिक तथ्यों की चर्चा प्रश्न १ में हो ही चुकी है, नाटककार ने भी पृथक् रूप से उनकी विस्तृत चर्चा की है।) उक्त तथ्यों को नाटककार ने नाटक के अन्तर्गत कलापूर्ण ढंग से समाविष्ट करके देश-काल के तत्त्व का सुन्दर निर्वाह किया है। यथा—

१. **गुप्तवंशीय शासकों के सम्बन्ध में –**

(अ) कुमारगुप्त के पूर्वज—

"अच्छा तो स्वर्गीय आर्य समुद्रगुप्त के देवपुत्रों तक का राज्य विजय किया था।"—(सम्राट् कुमारगुप्त की सभा में धातुसेन का कथन, पृ० सं० १५) इस विषय में स्वयं कुमारगुप्त का कथन भी साक्षी है—"आर्य समुद्रगुप्त को विवश होकर उन विद्रोही विदेशियों का दमन करना पड़ा, क्योंकि मौर्य-साम्राज्य के समय से ही सिन्धु के उस पार का देश भी भारत साम्राज्य के अन्तर्गत था।"

—(पृ० सं० १६)

(आ) सम्राट् कुमारगुप्त की विलासिता—

"प्रौढ़ सम्राट् (कुमारगुप्त) के विलास की मात्रा और बढ़ गई है।"

—(पर्णदत्त का कथन, पृ० सं० १०)

इनके अतिरिक्त स्कन्दगुप्त, गोविन्दगुप्त तथा पुरगुप्त के सम्बन्ध में हमको अनेक कथोपकथन मिलते हैं, जो इनके चरित्र का सफलतापूर्वक उद्घाटन करते हैं तथा तत्कालीन परिस्थितियों को स्पष्ट कर देते हैं। एक उदाहरण देखिए "आज इस रणभूमि में पुरगुप्त को युवराज बनाता हूँ—मैंने भावी साम्राज्य-नीति की घोषणा कर दी है।"

—(स्कन्दगुप्त का कथन, पृ० सं० १४५)

२. **मालववंशीय शासकों के सम्बन्ध में—**

"मालव और शक-युद्ध में जो संधि गुप्त-साम्राज्य और मालव-राष्ट्र में हुई है, उसके अनुसार मालव की रक्षा गुप्त-सेना का कर्त्तव्य है। महाराज विश्ववर्मा के समय से ही सम्राट् कुमारगुप्त उसके संरक्षरक हैं।" यह कथन मालव-दूत के प्रति युवराज स्कन्दगुप्त का है। इसके द्वारा बन्धुवर्मा के पूर्वजों के विषय में प्रकाश पड़ता है। (पृ० सं १३)

इन्हीं के सम्बन्ध में स्कन्दगुप्त का एक अन्य कथन भी, जो इसी प्रसंग के अन्तर्गत है, द्रष्टव्य है—'खेद ! ऐसे समय में, जबकि हम लोगों को मालवपति से सहायता की आशा थी, वह स्वयं कौटुम्बिक आपत्तियों में फँस गये हैं।

बन्धुवर्मा का निम्नलिखित कथन भी इस विषय का उद्घाटन करने में विशेष सहायक है—"शकों के पतनकाल में पुष्करणाधिपति स्वर्गीय महाराज

सिंहवर्मा ने एक स्वतन्त्र राज स्थापित किया और उनके वंशधर ही उस राज्य के स्वत्वाधिकारी हैं।"

—(पृ० सं० ६७)

(ग) राजनीतिक परिस्थिति—

(i) "कपिशा का क्षेत्र हूणों ने पदाक्रांत कर लिया है।"

—(पर्णदत्त का कथन, पृ० सं० ११)

(ii) "गुप्त-कुल के शासक साम्राज्य को गले पड़ी वस्तु समझने लगे हैं।"

—(पर्णदत्त का कथन, पृ० सं० ११)

(iii) "शक राष्ट्रमण्डल चंचल हो रहा है, नवागत म्लेच्छवाहिनी से सौराष्ट्र भी पदाक्रांत हो चुका है। इसी कारण पश्चिमी मालव भी अब सुरक्षित नहीं रहा है।"

—(मालव-दूत, पृ० सं० १२)

(iv) "सौराष्ट्र में शक राष्ट्र बड़ा चंचल अथच भयानक है।"

—(भटार्क, पृ० सं० १७)

(v) "काश्मीर-मंडल में हूणों का आतंक है, शास्त्र और संस्कृत विद्या का कोई पूछने वाला नहीं है।"

—(मातृगुप्त का कथन, पृ० सं० २२)

नाटक में इस प्रकार के अनेक स्थल हैं जहाँ पर तत्कालीन राजनीतिक[1] छीना-झपटी एवं आंतरिक कलह को स्पष्ट किया गया है। विदेशियों के संगठित आक्रमण के सम्मुख भारतवर्ष के राजा एक प्रकार से हतोत्साहित ही हो गए थे। यथा—"क्या पुष्यमित्रों के युद्ध को देखकर सेनापति चकित हो रहे हैं?"

—(स्कन्दगुप्त का पर्णदत्त के प्रति कथन, पृ० सं० ११)

विदेशी आक्रमणकारी अपनी धाक जमाने के लिए भली-भाँति के अत्याचार करके आतंक फैला रहे थे। इस स्थिति का नाटक में सजीव निरूपण है—

---

१ "आर्यावर्त्त पर विपत्ति की प्रलय मेघमाला घिर रही है, आर्य-साम्राज्य के अन्तर्विरोध और दुर्बलता को आक्रमणकारी भली-भाँति जान गए।"

—(बन्धुवर्मा का कथन, पृ० सं० ६७)

"शक और हूणों की सम्मिलित सेना घोर आतंक फैला रही है। चारों ओर विप्लव का साम्राज्य है। निरीह भारतीयों की घोर दुर्दशा है।"

—(मातृगुप्त का कथन, पृ० सं० ३८)

× × ×

"आर्य कन्याएँ अपहरण की जाती हैं, हूणों के विकट तांडव से पवित्र भूमि पदाक्रान्त है, कहीं देवता की पूजा नहीं होती, सीमा की बर्बर जातियों की राक्षसी वृत्ति का प्रचंड पाखंड फैला हुआ है।"

—(गोविन्दगुप्त का कथन, पृ० सं० ७६)

"धन देकर प्राण बचाना हो तो शीघ्रता करो, नहीं तो गरम किये हुए लोहे प्रस्तुत हैं। कोड़े और तेल से तर कपड़े भी।........इनके बालकों को तेल में भीगा हुआ कपड़ा डालकर जलाओ और स्त्रियों को गरम लोहे से दागो।"

—(हूण सेनापति का कथन, पृ० सं० ४०)

(घ) सामाजिक परिस्थिति—

'समाज में विलासप्रियता का साम्राज्य था"—संक्षेप में समाज की स्थिति यही थी। इस विषय में हम मगध के सैनिक तथा मुद्गल के कथन को अन्यत्र उद्धृत कर चुके हैं। मगध के उसी सैनिक का कथन भी देख लीजिए—

"यह राष्ट्र का आपत्तिकाल है, युद्ध की योजनाओं के बदले हम....कुसुमपुर में आपानकों का समारोह देख रहे हैं। राजधानी विलासिता का केन्द्र बन रही है।....भला मगध के विलासी सैनिक क्या करेंगे ?" —(पृ० सं० ६१) तथा—पर्णदत्त का कथन —"नीच, दुरात्मा विलास का नारकीय कीड़ा ! बालों को सँवार कर अच्छे कपड़े पहनकर अब भी घमंड से तना हुआ निकलता है। कुलवधुओं का अपमान सामने होते देखते हुए भी अकड़ कर चल रहा है। अब तक विलास और नीच-भावना नहीं गई।" —(पृ० सं० १३०)

(ङ) धार्मिक परिस्थिति —

राजनीति की भाँति धर्म के क्षेत्र में अन्तर्विद्रोह था—ब्राह्मण और बौद्ध एक-दूसरे के विरोधी बने हुए थे, वे अवसर पाते ही एक-दूसरे पर कीचड़ उछालने से चूकते न थे। इतना ही नहीं, धार्मिक भावनाएँ वस्तुतः धन के

हाथों बिक चुकी थीं, कर्मकाण्ड का जोर था और धर्म के ठेकेदार स्वार्थ-साधन के हेतु देश-द्रोह तक करने को तैयार हो गए थे। यथा—

"समस्त सद्धर्म के अनुयायी और संघ—स्कन्दगुप्त के विरुद्ध हैं। याज्ञिक क्रियाओं की प्रचुरता से उनका हृदय धर्मनाश के भय से घबरा उठा है। सब विद्रोह करने को उत्सुक हैं।"

—(हूण-सेनापति खिंगिल का कथन, पृ० सं० ६०)

× × ×

"बौद्ध जनता और संघ भी साम्राज्य के विरुद्ध हैं।"

—(धातुसेन का कथन, पृ० सं० ११५)

"बौद्धों ने गुप्त शत्रु का काम किया है। कई बार के विताड़ित हूण इन्हीं लोगों की सहायता से पुनः आए हैं।"—(ब्राह्मण का कथन, पृ० सं० ११५)
तथा—ब्राह्मण के प्रति धातुसेन का यह कथन—"लोभ ने तुम्हारे धर्म का व्यवसाय चला दिया। दक्षिणाओं की योग्यताओं से स्वर्ग, पुत्र, धन, यश, विजय और मोक्ष तुम बेचने लगे। कामना से अन्धी जनता के विलासी समुदाय के ढोंग के लिए तुम्हारा धर्म आवरण हो गया।" —(पृ० सं० ११८)

(च) सांस्कृतिक एवं साहित्यिक परिस्थिति—

सामाजिक स्थिति के अनुरूप ही साहित्य की रचना हो रही थी। यथा—

"सुकवि शिरोमणि! गा चुके मिलन संगीत, गा चुके कोमल कल्पनाओं के लचीले गान, हो चुके प्रेम के पचड़े!"

—(मातृगुप्त के प्रति विजया का कथन, पृ० सं० १२१)

इनके अतिरिक्त नाटक में वर्णित पात्रों की सज्जा, युद्ध की विधि तथा दृश्य-विधान, सभी कुछ तत्कालीन वातावरण के अनुरूप है। सारांश यह है कि नाटककार तत्कालीन परिस्थितियों के सजीव एवं स्वाभाविक वर्णन द्वारा देश-काल का सफल निर्वाह कर सका है।

प्रश्न ४—"नाटककार पर रचना-काल की परिस्थितियों का व्यापक प्रभाव पड़ा है।" उपयुक्त उद्धरण देकर उक्त कथन की समीक्षा कीजिए।

उत्तर—भारतेन्दु-युग की प्रवृत्तियाँ इस युग में आकर अधिक गतिवती हो गई थीं। प्रसाद-युग—सन् १६२० के आसपास का युग है। प्रसाद जी द्विवेदी-

युग के लेखक हैं। द्विवेदी-युग सन् १९०३ से सन् १९२० तक माना जाता है। इस युग की सामान्य परिस्थिति स्कन्दगुप्त नाटक में भली-भाँति परिलक्षित है। यथा—

राजनीतिक—राजनीति के क्षेत्र में यह हलचल का समय था। भारत की राजनीति का संचालन-सूत्र महात्मा गांधी के हाथों में आ गया था। महात्मा जी ने अपनी अहिंसा के समावेश द्वारा राजनीति के साथ आध्यात्मिकता का संयोग कर दिया था तथापि भारत को राष्ट्रीयता निरन्तर उग्रता की ओर अग्रसर हो रही थी।

सन् १९०३-०४ में बंग-भंग के प्रश्न को लेकर देशव्यापी आन्दोलन सफल हो चुका था। सन् १९०५ में एशिया के एक देश जापान ने यूरोप के एक देश रूस को पराजित किया था। इस विजय के फलस्वरूप एशिया के निवासियों के हृदय में गौरव एवं आत्म-विश्वास का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक था। वे अभी तक श्वेत वर्ण वालों के सम्मुख हीनत्व भावना से ग्रसित थे। इस विजय के प्रवाह में भारतवासियों का हीनत्व-भाव बह गया था। वे सब गोरी चमड़ी वालों से मोर्चा लेने को तैयार थे।

सन् १९१४ से सन् १९१८ तक विश्वव्यापी प्रथम महायुद्ध हुआ था। इसमें भारतवासियों ने अंग्रेजों की जी-जान से सहायता की थी। इस सहायता के लिए अंग्रेज सरकार ने भारतवर्ष को औपनिवेशक स्वराज्य देने का आश्वासन दिया था। परन्तु युद्ध-समाप्ति के पश्चात् भारतवर्ष को मिले—रौलेट एक्ट, जलियाँवाला बाग आदि के हृदय-विदारक, लोम-हर्षक अत्याचार रूपी पुरुस्कार। इसके कारण भारतवासी अत्यधिक क्षुब्ध थे। गाँधीजी यद्यपि बार-बार विपक्षी की मानवता में विश्वास करने का पाठ पढ़ा रहे थे, तथापि सामान्य जनता में विदेशी शासकों के प्रति असन्तोष एवं अविश्वास के भाव व्याप्त हो गए थे। भारत की राष्ट्रीयता खुलकर श्वास लेने के लिए आकुल हो उठी थी। सारांश यह है कि उस समय राजनीतिक वातावरण क्षुब्ध था और देश की आन और शान के नाम पर सिर कटाने के गीत गाए जाने लगे थे। भारतेन्दु-युग की देशभक्ति राजभक्ति के म्यान में रहती थी—

'अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी॥'

—('भारत-दुर्दशा' नाटक में भारतेन्दु)

परन्तु प्रसाद-युग की राजनीति नंगी शमशीर थी। भारतवर्ष के अतीत की गौरव-गाथा देश के नाम पर मर-मिटने के लिए वीरों का आह्वान करने लगी थी, लोकमान्य तिलक का 'स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है', मन्त्र देश के कोने-कोने में गूँज उठा था।[1] स्वाधिकारों की प्राप्ति के लिए संघर्ष करना केवल धर्म ही न था, वल्कि उनके नाम पर चुप बैठ जाना पाप भी था। स्कन्दगुप्त नाटक में तत्कालीन उग्र देशभक्ति एवं वीरत्व-भावना के दर्शन द्रष्टव्य हैं—

"नहीं तो क्या रोने से, भीख माँगने से कुछ अधिकार मिलता है ? जिसके हाथ में बल नहीं, उसका अधिकार भी कैसा है ? और यदि माँग कर मिल भी जाए तो शान्ति की रक्षा कौन करेगा ?" —(पृ० १६, १।२)

भटार्क का धातुसेन के प्रति उक्त कथन उन लोगों को चुनौती है जो नरम दल के थे तथा सरकार को स्मरण-पत्र आदि देकर स्वराज्य-प्राप्ति की आशा करते थे। कायर एवं भोरु पुरुषों के लिए उन्नति का मार्ग बन्द ही समझना चाहिए—

"जो चूहे शब्द से भी आतंकित होते हैं.......उनके लिए उन्नति का कंटकित मार्ग नहीं हैं।" —(पृ० सं० २७, १।४)

तथा "............अर्थ देकर विजय खरीदना तो देश की वीरता के प्रतिकूल है।" —(पृ० सं० ४२, १।७)

सरकार यदि किसी को रायबहादुर की पदवी से विभूषित कर दे तो वह व्यक्ति वास्तव में बहादुर न बन सकेगा।

देश को विशुद्ध पुरुषार्थी एवं वीर नर सिंहों की आवश्यकता थी। भारत-माता अपने लाड़लों को तलवार की धार का आमन्त्रण दे रही थी—

---

१. **अधिकार खोकर बैठ रहना यह महा दुष्कर्म है।**
न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दण्ड देना धर्म है॥

—('जयद्रथ-वध' में मैथिलीशरण गुप्त)

"............ एक प्रलय की ज्वाला अपनी तलवार से फैला दो ! भैरव के शृंगीनाद के समान प्रबल हुङ्कार से शत्रु-हृदय कँपा दो ! वीरो ! बढ़ो, गिरो तो मध्याह्न के भीषण सूर्य से समान !" —(पृ० सं० ४५, १।७)

यह वस्तुतः एक सत्याग्रही की नहीं, एक क्रांतिकारी की पुकार है। क्योंकि नाटक के नायक स्कन्दगुप्त की स्पष्ट घोषणा है—"प्राणों का मोह त्याग करना वीरता का रहस्य है।" —(पृ० सं० ४८, २।१)

तथा—

बन्धुवर्मा का यह कथन—

"अकर्मण्यता और शरीर-पोषण के लिए क्षत्रियों ने लोहे को अपना आभूषण नहीं बनाया है। .. क्षत्रियों का कर्त्तव्य है—आर्त्त-त्राण परायण होना, विपद को हँसते हुए आलिंगन करना, विभीषिकाओं की मुसकराकर अवहेलना करना और विपन्नों के लिए, अपने धर्म के लिए, देश के लिए प्राण देना।"

—(पृ० सं० ६८, २।५)

इस पुस्तक के भीतर केवल देश को स्वतन्त्र करने की आवाज ही नहीं है, बल्कि देश के सामाजिक उत्थान का स्वर भी है।

वीरत्व-भावना के ऊपर गांधीवाद का अहिंसावादी अंकुर भी अपना कार्य कर रहा था—"वीरता उन्माद नहीं है। ...... केवल शस्त्रबल पर टिकी हुई वीरता बिना पैर की होती है। उसकी दृढ़ भित्ति है—न्याय।"

—(गोविन्दगुप्त का कथन, पृ० सं० ७२, २।३)

देश के नाम पर मर-मिटने वाले के लिए शोक के नहीं, मंगल-भावना के अश्रु बहाये जाते हैं। बन्धुवर्मा ने ठीक ही कहा है—"........यह रोने का नहीं, आनन्द का समय है। कौन वीर इसी तरह जन्मभूमि की रक्षा में प्राण देता है, यही मैं ऊपर से देखने जाता हूँ।"[1] —(पृ० सं० २००, ३।५)

भारतमाता के बन्धन तभी कट सकेंगे, जब अनेक वीर अपने शीश का बलिदान देंगे। शत-सहस्र वर्षों की गुलामी सहज दूर न हो सकेगी। केवल

---

१. **माता पड़ी है कैद में जा कर उसे छुड़ाए कौन।**
देखें गुलाम कौम में मुल्क के काम आए कौन।

—(कौमी गीत)

पुरुष ही नहीं, नारियों को भी इस स्वातंत्र्य-यज्ञ में आहुति डालनी पड़ती है। सुनिए वीर रमणी विजया की यह स्फूर्ति दायक वाणी—"एक नहीं, ऐसे सहस्र स्कन्दगुप्त, ऐसे सहस्रों देव-तुल्य उदार युवक, इस जन्मभूमि पर उत्सर्ग हो जायँ। सुना दो वह संगीत—जिससे पहाड़ हिल जायँ और समुद्र काँप कर रह जाय, अँगड़ाइयाँ लेकर मुचकुन्द की मोह-निद्रा से भारतवासी जग पड़ें। हम तुम गली-गली, कोने-कोने पर्यटन करेंगे, पैर पड़ेंगे, लोगों को जगायेंगे।"

—(पृ० सं० १२१, ४।६)

शासन के बारे में—नाटककार ने गांधीवादोचित राम-राज्य की कल्पना की है—

"तुम्हारी माता की भी मंगल कामना है कि तुम्हारा शासन, दण्ड क्षमा के संकेत पर चला करे।"

धर्म को राजनीति से दूर ही रहना चाहिए, शासन-व्यवस्था के ऊपर धार्मिक भावनाओं का कोई रंग न हो—"यद्यपि ऐसे अकर्मण्य युवक को आर्य-साम्राज्य से सिंहासन पर नहीं देखना चाहता तो भी बौद्ध धर्माचरण करेंगे, राजनीति में भाग न लेंगे।" —(पृ० सं० १४१, ५।४)

प्राचीन के प्रति आस्था एवं वर्तमान ने प्रति देश-भक्ति की प्रमुख प्रेरणा रहती है। 'स्कन्दगुप्त' में वह स्पष्टतया अभिव्यक्त है। पराधीन रहने की अपेक्षा सर्वनाश हो जाना कहीं अधिक अच्छा है। यथा—

"जिन पर विश्व भर का भंडार लुटाने को मैं प्रस्तुत था, उन्हीं गुदड़ी के लालों को राक्षसों ने, हूणों ने, लुटेरों ने लूट लिया।.........देश से हरे कानन चिता बन रहे हैं। धधकती हुई नाश की प्रचंड ज्वाला दिग्दाह कर रही है। अपने ज्वालामुखियों को वर्षा की मोटी चादर से छिपाये हिमालय मौन है, पिघलकर क्यों नहीं समुद्र से जा मिलता!"[१]

"आर्य-साम्राज्य की हत्या का कैसा भयानक दृश्य है! कितना वीभत्स है! सिंहों की विहारस्थली में शृगाल-वृन्द सड़ी लोथ नोच रहें हैं।"

—(पृ० सं० १२४, ४।७)

---

१. **हाय चित्तौड़ निलज तू भारी। अजहुँ खड़ौ भारतहि मँझारी।**—आदि

—('भारत-दुर्दशा' में भारतेन्दु)

सामाजिक परिस्थितियाँ एवं प्रभाव—सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का क्रम भारतेन्दु-युग में भी आरम्भ हो गया था। उनके 'भारत-दुर्दशा' नाटक में इसकी स्पष्ट पुकार है। आर्य-समाज, थियोसोफीकल सोसाइटी तथा बाद में कांग्रेस, इस क्षेत्र में ये तीन संस्थाएँ प्रमुख रूप से आगे आईं। वैसे राजा राममोहन राय द्वारा प्रवर्तित ब्रह्म-समाज ने भी इस दिशा में कार्य किया था।

'स्कन्दगुप्त' नाटक में हमें नारी-जागरण एवं नारी-उत्थान की भावना का स्वर सर्वोपरि सुनाई पड़ता है। शताब्दियों से दलित एवं उपेक्षिता नारी को इस युग में सम्मान की दृष्टि से देखा जाने लगा था। वह पुरुष की दासी एवं सम्पत्ति न रहकर सहचरी, माता आदि के रूप में देखी जाने लगी थी। उसका भी स्वतन्त्र अस्तित्व था। इतना ही नहीं, वह किन्हीं अंशों में पुरुष की अपेक्षा अधिक श्लाघ्य भी थी। यथा—

नर-नारी द्वित्व-प्रसूत सृष्टि के विषय में धातुसेन का यह कथन सर्वथा मनन करने योग्य है—

"समय पुरुष और स्त्री की गेंद लेकर दोनों हाथों से खेलता है। पुल्लिग और स्त्रीलिंग की समष्टि अभिव्यक्ति की कुंजो है। पुरुष उछाल दिया जाता है, उत्प्रेक्षण होता है, स्त्री आकर्षण करती है। यही जड़-प्रकृति का चेतन रहस्य है। .... पुरुष है—कुतूहल और प्रश्न; और स्त्री है—विश्लेषण, उत्तर और सब बातों का समाधान।" माता होने के कारण स्त्री वस्तुतः पुरुष की शिक्षिका है—"पुरुष के प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देने के लिए वह प्रस्तुत है। उसने कुतूहल—उसके अभावों को परिपूर्ण करने का उष्ण प्रयत्न और शीतल उपचार।"

—(पृ० सं० २५, ५।३)

भारतवर्ष की नारियाँ सदा जीवन-संग्राम से पुरुषों का हाथ बँटाती आई हैं—"हम क्षत्राणी हैं, चिरसंगिनी खड्गलता का हम लोगों से चिर-स्नेह है।"

—(जयमाला, पृ० सं० ४४, १।७)

सावित्री की भाँति रामा भी अपने पुण्य के प्रभाव में अपने पति की प्राण-रक्षा करती हैं। "रामा सती ! तेरे पुण्य से आज तेरा पति मृत्यु से बचा।"

—(पृ० ७८, २।७)

भारत की नारियों के ही कारण भारत का सिर ऊँचा रहा है—"आर्य-नारी सती ! तुम धन्य हो ! इसी गौरव से तुम्हारे देश का सिर ऊँचा रहेगा।"
--(कुमारदास, ८०, २।८)

कायर और देश-द्रोही पुत्र को जन्म देने की अपेक्षा वन्ध्या रहना भारत की नारी ने सदैव श्रेष्ठ समझा है। यथा—कमला का भटार्क के प्रति यह कथन—"परन्तु मुझे तुझको पुत्र कहने में संकोच होता है, लज्जा से गढ़ी जा रही हूँ ! जिस जननी की सन्तान, जिसका अभागा पुत्र ऐसा देशद्रोही हो उसको क्या मुँह दिखाना चाहिए !"
—(पृ० सं० १०६, ४।२)

तथा—"मैंने भूल की, सतिकागृह में ही तेरा गला घोंटकर क्यों न मार डाला !"[१]

प्रसाद के युग में विजया की भाँति सरोजनी नायडू प्रभृति नारियाँ देश के कोने-कोने में देश-भक्ति का संदेश गुंजायमान करने निकल पड़ी थीं। यथा—

"सुना दो वह संगीत, जिससे .... अँगड़ाइयाँ लेकर मुचकुन्द की मोहनिद्रा से भारतवासी जग पड़ें।"
—(पृ० सं० १२१, ४।६)

तथा—"एक बार वह उद्बोधन गीत गा दो कि भारतीय अपनी नश्वरता पर विश्वास करके अमर भारत की सेवा को सन्नद्ध हो जायँ।"
—(विजया ४।६)

तत्कालीन परिस्थितियों में समाज का दायित्व बढ़ गया था। राष्ट्रीय आन्दोलन में प्राणों की आहुति देने वालों के परिवार के भरण-पोषण का भार समाज के ऊपर आ गया था—"हमारे ऊपर सैकड़ों अनाथ वीरों के बालकों का भार है।"
—(पृ० सं० १२१, ४।६)

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक तथ्य की ओर संकेत करना आवश्यक है। नाटककार ने अबला के सबला अथवा चण्डी रूप की ओर संकेत करके पुरुष-वर्ग को सचेत किया है। बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, दहेज आदि प्रथाएँ भारतीय समाज के लिए भारी खतरा थीं। नारी-वर्ग उनके भार से कराह उठा

---

१. **विज्ञान की भाषा में यही** 'Polanisation' **है।**

था। सुनिए विजया का यह कथन—"प्रणय-वंचिता स्त्रियाँ अपनी राह के रोड़े—विघ्नों को दूर करने के लिए वज्र से भी दृढ़ होती हैं।"

—(पृ० सं० १०६, ४।१)

सांस्कृतिक परिस्थिति एवं प्रभाव—थियोसोफीकल सोसाइटी ने विश्व-बन्धुत्व की व्यापक चर्चा की। उसकी शिक्षाओं में सर्ववाद, करुणा एवं विकास-वाद का महत्त्वपूर्ण स्थान था। डार्विन ने भौतिक स्तर पर ही विकासवाद का प्रतिपादन किया था, थियोसोफीकल साहित्य के अन्तर्गत आध्यात्मिक स्तर पर भी उसकी प्रतिष्ठा की गई।

थियोसोफीकल साहित्य के अन्तर्गत जीव-प्रेम का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह गौतम बुद्ध को विश्व का धर्मगुरु स्वीकार करता है और करुणा एवं विश्व-मैत्री को मानव का सर्वोपरि धर्म। हमारे विचार से प्रसाद की विचार-धारा एवं उनकी कृतियों में गौतम बुद्ध का इतना महत्त्वपूर्ण स्थान होने का महत्त्वपूर्ण कारण यही रहा है। प्रसाद की दार्शनिक विचारधारा बुद्ध-दर्शन से ओत-प्रोत है।

उन दिनों डार्विन के विकासवाद एवं कार्ल मार्क्स के अर्थवाद (वर्ग-संघर्ष पर आधारित) का बड़ा जोर था। प्रसाद पर इनका भी प्रभाव पड़ा था।

महायुद्ध की विभीषिका, उसके नर-संहार से विश्व-मानव विचलित हो उठा था। टैगोर की गीतांजलि ने उसको स्थूल से हटाकर सूक्ष्म की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न किया।

भारत के अतीत गौरव के प्रति आकर्षण ने भारतवासियों को भारतवर्ष के आर्य-साहित्य के अध्ययन की ओर प्रेरित किया। परिणामतः भारतीय साहित्य और संस्कृति के नये तथ्य प्रकट हुए और उनके प्रति हमारी श्रद्धा में वृद्धि हुई।

उक्त समस्त प्रवृत्तियाँ प्रसाद के नाटकों में परिलक्षित होती हैं। 'स्कन्दगुप्त' नाटक के अन्तर्गत भी हमको इनकी छाया प्राप्त होती है। यथा—

विकासवाद—जिसकी लाठी उसकी भैंस' का ही बोलबाला है। "लड़कर ले लेना ही एक प्रधान स्वत्त्व है। संसार में इसी का बोलबाला है।"

—(पृ० सं० १६, १।२)

परन्तु साथ ही मानव को पशु की कोटि से ऊपर उठाना है। इसके लिए अपेक्षित हैं—उदात्त वृत्तियाँ। यह है आध्यात्मिक श्रेणी का विकास। यथा—

"लाभ ही के लिए मनुष्य सब काम करता तो पशु बना रहना ही उसके लिए पर्याप्त था।"

चाहे तो इसे एक भारतीय-संस्कृति के प्रेमी द्वारा डार्विन के विकासवाद का विरोध भी कह सकते हैं।

कार्ल-मार्क्स का प्रभाव—"अन्न पर स्वत्त्व है भूखों का और धन पर स्वत्त्व है देशवासियों का।.........वह घाती है। उसे लौटाने में इतनी कुटिलता! विलास के लिए उनके पास पुष्कल धन है और दरिद्रों के लिए नहीं?"

—(पृ० सं० १३१, ५।२)

उक्त कथन में वर्ग-संघर्ष-विचारोचित पूँजीपति के विरुद्ध विद्रोह का स्वर व्यंजित है।

धर्म की पतनोन्मुख अवस्था—उन दिनों धार्मिक रूढ़ियों का बोलबाला था। धर्म-शास्त्र प्रायः लोप हो गये थे—प्रथा-मात्र के हम उपासक बने हुए थे। पण्डे और पुरोहित धर्म के नाम पर भोली जनता को ठग रहे थे। सब धर्म टका-धर्म हो गया था। यथा—

"दक्षिणाओं की योग्यता से स्वर्ग, पुत्र, धन, यश, विजय और मोक्ष तुम बेचने लगे।.........जिस धर्म के आचरण के लिए पुष्कल स्वर्ण चाहिए, वह धर्म जन-साधारण की सम्पत्ति नहीं। धर्म-वृक्ष के चारों ओर स्वर्ण के काँटेदार जाल फैलाये गए हैं।"........आदि। —(धातुसेन, पृ० सं० ११८-११९, ४।५)

वर्ण-व्यवस्था भारतीय संस्कृति का आधार-स्तम्भ है। उसके द्वारा प्रतिष्ठित धर्म की श्रेष्ठता स्वीकार करते हुए धातुसेन कहता है—"ब्राह्मण क्यों महान हैं? इसीलिए कि वे त्याग और क्षमा की मूर्ति हैं।....... उनका धर्म समयानुकूल प्रत्येक परिवर्तन को स्वीकार करता है, क्योंकि मानव-बुद्धि ज्ञान का, जो वेदों के द्वारा हमें मिलता है—प्रसार करेगी, उसके विकास के साथ बढ़ेगी और यही धर्म की श्रेष्ठता है।" —(४।५, वही)

विश्व-बन्धुत्व—कुछ थियोसोफीकल सोसाइटी के प्रभाववश तथा कुछ अपने चिन्तनशील स्वभाववश, प्रसाद जी बौद्ध-साहित्य की ओर विशेष आकर्षित

हुए थे। फलतः पशु-प्रेम, मानवता आदि भाव-धाराएँ उनकी कृतियों में ऊपर उभर आई हैं। 'स्कन्दगुप्त' नाटक में ही तत्सम्बन्धी स्थल भरे पड़े हैं। पशु-प्रेम का दर्शन करने के लिए देखिए, प्रख्यातकीर्ति का यह कथन—"अतः यदि तुममें कोई सच्चा धार्मिक हो तो वह आगे आये और ब्राह्मणों से पूछे कि आप मेरी बलि देकर इतने जीवों को छोड़ सकते हैं ? क्योंकि इन पशुओं से मनुष्यों का मूल्य ब्राह्मणों की दृष्टि में भी विशेष होगा। आइए, कौन आता है, किसे बोधिसत्त्व होने की इच्छा है?"—(४।५)। पशु-रक्षा मानव-विकास की महत्त्व-पूर्ण श्रृंखला है—यह बात "किसे बोधिसत्त्व होने की इच्छा है"—वाक्यांश द्वारा स्पष्ट है।

नाटककार विश्व-कल्याण कामना द्वारा बहुत प्रभावित था। विश्वबन्धुत्व एवं मानववाद से सम्बन्धित कथनों से नाटक ओतप्रोत है।। यथा—

"इस संसार में जहाँ एक ओर श्मशान के कुत्तों से भी बढ़कर मनुष्यों की पतित दशा है"—(पृ० सं० ४७, ४।१), वहाँ दूसरी ओर ऐसे भी मनुष्य हैं जिनके कारण महीतल पर मानव का मानवता के प्रति विश्वास निःशेष नहीं हो पाया है—

"......परन्तु संसार में ही नक्षत्र से उज्ज्वल किन्तु कोमल स्वर्गीय संगीत की प्रतिमा तथा स्थायी कीर्तिसौरभ वाले प्राणी देखे जाते हैं। उन्हीं से स्वर्ग का अनुमान कर लिया जा सकता है।" —(देवसेना, पृ० सं० ४७, २।१)

"मानवता का निर्वाह सिद्धान्ततः किता सरल किन्तु व्यवहार में कितना कठिन है ? विश्वास करना और देना, इतने ही लघु व्यापार से संसार की सब समस्याएँ हल हो जायेंगी।"—(पृ० सं० ५४, २।२), "क्योंकि लाभ ही के लिए मनुष्य सब काम करता तो पशु बना रहना ही उसके लिए पर्याप्त था।"

—(पृ० सं० ५५, वही)

मानवता का व्यापार वस्तुतः जीवन की आवश्यकताओं की समाप्ति के पश्चात् ही आरम्भ होता है।

जयमाला के निम्नलिखित कथन द्वारा नाटककार विश्व-प्रेम को सर्वोपरि धर्म-साध्य धर्म घोषित कर देता है—"विश्व-प्रेम, सर्वभूत-हित-कामना परम धर्म हैं।"

—(पृ० सं० ६८, २।५)

क्षमाशीलता द्वारा ही मानव मानवता का दावा पूरा करता है। यथा—

"क्षमा पर मनुष्य का अधिकार है, वह पशु के पास नहीं मिलती। प्रतिहिंसा पाशव धर्म है।" —(पृ० सं० ७६, २।७)

वास्तव में मनुष्यता सांसारिक आवश्यकताओं – देश-काल की सीमा—से परे की वस्तु है—"........सच है आवश्यकता ही संसार के व्यवहारों की दलाल है। परन्तु मनुष्यता भी कोई वस्तु है, मुद्गल !" (पृ० सं० १२८, ५।१)

सारांश यह है कि 'स्कन्दगुप्त' नाटक के अन्तर्गत हमको नाटक के रचना-काल का राजनीतिक वातावरण, सामाजिक परिस्थिति एवं सांस्कृतिक विचार-धारा की सजीव झाँकी हो जाती है। और नाटककार ने अत्यन्त कौशल के साथ उन परिस्थितियों को आधुनिक युग की परिस्थितियों के अनुरूप प्रस्तुत कर युगीन समस्याओं को भी आलोकित करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। यह झाँकी नाटककार के दार्शनिक व्यक्तित्व में पर्यवेष्ठित है।

प्रश्न ५—'स्कंदगुप्त' नाटक के आधार पर 'प्रसाद' की देशभक्ति का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—देशभक्ति के प्रमुख अवयव पाँच माने जा सकते हैं। यथा—(i) देश एवं देश की प्रत्येक वस्तु के प्रति प्रेम, (ii) अतीत गौरव के प्रति श्रद्धा, (iii) वर्तमान के प्रति क्षोभ, (iv) वर्तमान की परिस्थितियों के सुधार के लिए प्रयत्न करना, (v) देश के नाम पर आवश्यक त्याग एवं बलिदान के लिए हृदय में उत्साह होना।

'स्कन्दगुप्त' नाटक के अन्तर्गत हमको सांगोपांग देश-भक्ति के दर्शन होते हैं—

(i) **देश एवं देश की प्रत्येक वस्तु के प्रति प्रेम**—"...जन्म-भूमि ! जिसकी धूल में लोटकर खड़े होना सीखा, जिसमें खेल-खेलकर शिक्षा प्राप्त की।"

तथा— —(पृ० सं० २२, १।३)

"भारत समग्र विश्व का है और सम्पूर्ण वसुन्धरा इसके प्रेम-पाश में आबद्ध है।......वसुन्धरा का हृदय भारत – किस मूर्ख को प्यारा नहीं है ? तुम देखते नहीं कि विश्व का सबसे ऊँचा शृङ्ग इसके सिराहने और सबसे गम्भीर तथा विशाल समुद्र इसके चरणों के नीचे है।" —(पृ० सं० २१५, ४।६)

(i) **अतीत गौरव के प्रति श्रद्धा अथवा अतीत का गौरव गान**—भारत के अतीत गौरव की श्रद्धापूर्ण चर्चा एवं उसका सादर गुण-गान हमको पग-पग पर मिलता है। यथा—

गोविन्दगुप्त का कथन—"इन आर्य जाति के रत्नों की कौन-सी प्रशंसा करूँ!"

—(पृ० सं० ७६, २१७)

× × ×

तथा—बन्धुवर्मा का यह कथन—"...तुम्हारे पैरों के नीचे दबे हुए कण्ठ से उन्हें स्वीकार करना होगा कि भारतीय दुर्जेय वीर हैं।"

—(पृ० सं० ६८, ३१५)

नाटक की समाप्ति के लगभग गाया जाने वाला निम्नलिखित गान भारत-भक्ति का सजीव रूप है। इसमें अतीत का गौरव-गान, गौरव-रक्षा का प्रयत्न, देश की आन-बान-शान पर बलिदान हो जाने का प्रण आदि सभी कुछ है। तथा—

हिमालय के आँगन में उसे, प्रथम किरणों का दे उपहार।
उषा ने हँस अभिनन्दन किया, और पहिनाया हीरक हार॥

× × ×

यवन को दिया दया का दान, चीन को मिली धर्म की दृष्टि।
मिला था स्वर्ग भूमि को रत्न, शील की सिंहल को भी सृष्टि॥

× × ×

किसी का हमने छीना नहीं, प्रकृति का रहा पालना यहीं।
हमारी जन्म-भूमि थी यही, कहीं से हम आए थे नहीं॥

× × ×

जियें तो सदा उसी के लिए, यही अभिमान रहे यह हर्ष।
निछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष॥

—(पृ० सं० १४३-१४४. ५१५)

(iii) **वर्तमान स्थिर के प्रति क्षोभ**—वर्तमान परिस्थितियों के प्रति क्षोभ के बिना सुधार एवं परिवर्तन की भावना आती ही नहीं है। दासता में रहने की अपेक्षा मर जाना, नष्ट हो जाना श्रेयस्कार है—जब तक अपनी स्थिति के

प्रति क्षोभ इतना उग्र न होगा; तब तक दासत्व की शृंखला तोड़ फेंकने के लिए अपेक्षित उत्साह जाग्रत ही न हो सकेगा।

"देश के हरे कानन चिता बन रहे हैं। धधकती हुई नाश की प्रचंड ज्वाला दिग्दाह् कर रही है। अपने ज्वालामुखियों को बर्फ की मोटी चादर से छिपाये हिमालय मौन है, पिघलकर क्यों नहीं समुद्र में जा मिलता ? अरे जड़, मूक बधिर, प्रकृति के टीले !"

तथा—"सिंहों की विहार स्थली में शृगाल-वृन्द सड़ी लोथ नोंच रहे हैं।"

(पृ० सं० १२४, ४।७)

(iv) **जन-जागरण, सुधार एवं परिवर्तन के लिये प्रयत्नशील होना—**

"विजया ! चलो, देश के प्रत्येक बच्चे, बूढ़े और युवक को उसकी भलाई में लगाना होगा, कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना होगा।...... हम देश की प्रत्येक गली को झाड़ू देकर इतना स्वच्छ कर दें कि उस पर चलने वाले राजमार्ग का सुख पावें।" (पृ० सं० १०८, ४।१)

"सुना दो वह संगीत जिससे पहाड़ हिल जायँ.......अँगड़ाइयाँ लेकर मुचकुन्द की मोह-निद्रा से भारतवासी जग पड़ें। हम तुम गली-गली, कोने-कोने पर्यटन करेंगे, पैर पड़ेंगे, लोगों को जगावेंगे।"— (पृ० सं० १२१, ४।६)

तथा—देवसेना का यह गीत—

देश की दुर्दशा निहारोगे,
डूबते को कभी उबारोगे।

× × ×

कुछ करोगे कि बस सदा रोकर,
दीन हो दैव को पुकारोगे।

× × ×

दीन जीवन बिता रहे अब तक
क्या हुए जा रहे, विचारोगे।

(पृ० सं० १२१, ५।२)

(v) देश के नाम पर त्याग एवं बलिदान की भावना—

"स्त्रियों की, ब्राह्मणों की, पीड़ितों और अनाथों की रक्षा में प्राण-विसर्जन करना, क्षत्रिय का धर्म है।" (पृ० सं० ४५, १।७)

× × ×

"........अकर्मण्यता और शरीर-पोषण के लिए छत्रियों ने लोहे को अपना आभूषण नहीं बनाया है।" (पृ० सं० ६८, २।५)

× × ×

"........एक नहीं, ऐसे सहस्र स्कन्दगुप्त, ऐसे सहस्रों देव तुल्य उदार युवक इस जन्मभूमि पर उत्सर्ग हो जायँ।" (पृ० सं० १२२, ६।६)

× × ×

"अन्न पर स्वत्त्व हैं भूखों का, और धन पर स्वत्त्व है देशवासियों का।"

(पृ० सं० १२६, ५।२)

धातुसेन के इस कथन के पीछे स्वयं नाटककार ही बोलता दिखाई देता है : "भारत के कल्याण के लिए मेरा सर्वस्व अर्पित है।" (पृ० सं० ११५, ४।४)

तथा—यह सहगान—

"जियें तो सदा उसी के लिए, यही अभिमान रहे यह हर्ष।
निछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष।"

सारांश यह है कि 'स्कन्दगुप्त' नाटक में भारत-भक्ति का सजीव रूप व्याप्त है, उसके आदर्श पात्र देश-भक्ति की भावना से ओतप्रोत हैं। प्रसाद ने भारत-वासियों को देश-भक्ति की स्फूर्ति प्रदान कर स्वातन्त्र्य-संग्राम में प्रेरित होने के लिए आह्वान किया है।

प्रसाद यद्यपि गान्धीवादी क्षमा, सहनशीलता, परदुःखकातरता विनम्रता आदि को स्वीकार करते हैं तथापि वे देश-भक्ति के यज्ञ में आहुति देने के लिए वीर एवं पुरुषार्थियों को ही आमन्त्रित करते हैं।[1] उनकी देश-भक्ति नरम-दलीय न होकर गर्म दल की देश'भक्ति है। यथा—

---

१. कहता है श्री पुकार जो नर हैं कि शेर दिल !
उन्ही से कुछ उम्मीद है, हिजड़ों के पास जाये कौन !
माता पड़ी है कैद में, आकर उसे छुड़ाए कौन !

—(एक क्रान्तिकारी का गीत)

"........लड़कर ले लेना ही एक प्रधान स्वत्त्व है। संसार में इसी का बोलवाला है।"

तथा—

"जिसके हाथों में बल नहीं, उसका अधिकार ही कैसा ?"

—(पृ० सं० १६, ११२)

"...... जीवन-रहस्य के चरम सौन्दर्य की नग्न और भयानक वास्तविकता का अनुभव केवल सच्चे वीर हृदय को होता है।........अत्याचार के श्मशान में ही मंगल का, शिव का, सत्य सुन्दर संगीत का समारम्भ होता है।"

—(पृ० सं० ४३, ११७)

प्रश्न ६—देवसेना का चरित्र-चित्रण कीजिए।

उत्तर—"मालवकुमारी देवसेना का पावन चरित्र 'प्रसाद जी' की उर्वर कल्पना है। उसके चरित्र में नारी-जीवन की आदर्श सहिष्णुता, त्याग, उदारता, समरसता, भावुकता, गम्भीरता आदि इस भाँति प्रतिष्ठित हैं कि वह काल्पनिक होते हुए भी वास्तविक प्रतीत होती है। यह दूर की रागिनी सुनती हुई भाव-विभोर कुरंगी-सी कुमारी, जीवन के संघर्ष में अपनी सहज उदारता, साहस एवं सहानुभूति से अपने युग पर अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप डाल देती है।"

—('प्रसाद के नाटकीय पात्र', पृ० सं० ६६)

श्री जगदीशनारायण दीक्षित के उक्त शब्द देवसेना के चरित्र पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। उसके जीवन के दो विशिष्ट गुण हैं—पावन प्रेम की व्यंजना और संगीत-प्रियता। इन दोनों की धूप-छाँह में हँसती-खेलती हुई वह जीवन-संग्राम में भली प्रकार सफल होती दिखाई देती है।

देवसेना स्कन्दगुप्त की प्रेयसी है। स्कन्दगुप्त उसे अन्त तक प्यार करता है। नायक की पत्नी बन जाने पर वह नाटक की नायिका कही जा सकती थी परन्तु विवाह न होने के कारण वह नायक की पत्नी न बन सकी, अतएव शास्त्रीय विवेचन करते समय उसे नाटक की नायिका भी नहीं कह सकते। परन्तु व्यवहारिक दृष्टिकोण से देवसेना को नाटक की नायिका कहने में विशेष आपत्ति नहीं होनी चहिए।

देवसेना स्कन्दगुप्त से प्रेम करती थी—

"इस हृदय में····आह ! कहना ही पड़ा, स्कन्दगुप्त को छोड़कर न तो कोई दूसरा आया और न वह जायगा। अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर मुझे उसकी उपासना करने दीजिये, उसे कामना के भँवर में फँसकर कलुषित न कीजिये। नाथ ! मैं आपकी ही हूँ, मैंने अपने को दिया है, अब उसके बदले कुछ लिया नहीं चाहती।" —(पृ० १५२)

अपने निःस्वार्थ प्रेम की चर्चा वह पहले एक बार विजया से भी कर चुकी थी—"देवसेना मूल्य देकर प्रणय नहीं लिया चाहती।"

देवसेना का प्रेम विशुद्ध प्रेम था, उसमें विलास की गन्ध भी न थी। वह नहीं चाहती कि उसमें लिप्त होकर स्कन्दगुप्त अपने कर्त्तव्य को भूल बैठे। स्कन्दगुप्त जब (पृ० १५१) उसके साथ एकान्त जीवन व्यतीत करने के प्रस्ताव करता है तो उसका सहज उत्तर होता है कि "तब तो और भी नहीं। मानव का महत्त्व तो रहेगा ही परन्तु उसका उद्देश्य भी सफल होना चाहिए।"

"आपको अकर्मण्य बनाने के लिए देवसेना जीवित न रहेगी, सम्राट् ! क्षमा हो।" —(पृ० १५२)

देवसेना के भाई बन्धुवर्मा ने स्कन्दगुप्त को मालव का राज्य दिया है। इसी कारण स्कन्दगुप्त को वरण करते हुए वह झिझकती है। लोग कहेंगे कि मालव का राज्य देकर देवसेना का विवाह किया जा रहा है। ऐसे लोकापवाद से उसके भाई की दिवंगत आत्मा को कष्ट होने की आशङ्का है। इसी कारण वह स्कन्दगुप्त से स्पष्ट कह देती है, "सो न होगा सम्राट् ! मैं दासी हूँ। मालव ने जो देश के लिए उत्सर्ग किया है, उसका प्रतिदान लेकर मृत आत्मा का अपमान न करूँगी। सम्राट् ! देखो, यही पर सती जयमाला की भी छोटी-सी समाधि है।"—आदि।

देवसेना अपने प्रणय में इतनी गम्भीर होते हुए भी जीवन के प्रति आस्था नहीं खो बैठती। वह प्रेम के स्थूल एवं वासनामय स्वरूप का तिरस्कार कर अलौकिक प्रेम की शरण पकड़ती है। प्रेम सर्वथा सात्विक है, उसने स्कन्द के ही चरणों में अपने आपको अर्पण किया है। इस जन्म में न मिला तो क्या प्रेमास्पद अगले जीवन में अवश्य ही मिलेगा। इसी विश्वास को लेकर वह जीवन

भर मन-मन्दिर में अपने देव स्कन्दगुप्त की अर्चना के लिए प्रेम-दीपक जलाती रहती है, यथा—

"कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या अग्नि है, सम्राट् ! यदि इतना भी न कर सके तो क्या। सब क्षणिक सुखों का अन्त है। जिसमें सुखों का अन्त हो, इसलिए सुख करना ही नहीं चाहिए। मेरे इस जीवन के देवता और उस जीवन के प्राप्य ! क्षमा।"

—(पृ० १३७)

देवसेना ने अपने जीवन के वसंत में स्कन्दगुप्त की मन्मथ मूर्ति को अपने मन-मानस में प्रतिष्ठित किया था। दुर्भाग्यवश उसे प्राप्त न कर सकी, भ्रमवश स्कन्दगुप्त विजया की ओर कुछ दिनों के लिए आकर्षित हो गया। स्कन्दगुप्त के विजया के प्रति आकर्षण को जानकर उसने अपना जी छोटा नहीं किया, उलटे विजया के मार्ग को साफ किया। कभी स्वप्न में भी विजया के साथ किसी प्रकार का दुर्व्यवहार नहीं किया।

"विजया तूने जल्दी की"—(पृ० ८५)। "विजया आज तू हार कर भी जीत गई।"—(पृ० ८३)। "कापालिक ! विजया के स्थान को मैं कदापि ग्रहण न करूँगी।"

देवसेना नारी थी और इसी लोक की रहने वाली थी। मानव-सुलभ दुर्बलताएँ उसे भी यदा-कदा सता देती थीं। उसका प्रणय कितना प्रबल था ! मानो 'कूलों में उफन कर बहने वाली नदी, तुमुल तरंग, प्रचण्ड पवन और भयानक वर्षा।"

अपने प्रेम के नाम पर उसने केवल एक बार आँसू बहाए हैं। अपने हृदय की सहज दुर्बलता को अपनी सखी के सम्मुख वह इस प्रकार व्यक्त करती है— "बुरा हृदय मुझसे अनुरोध करता है, मचलता है, रूठता है, मैं उसे मनाती हूँ, आँखें प्रणय-कलह उत्पन्न करती हैं, चित्त उत्तेजित करता है, बुद्धि झिड़कती है, कान कुछ सुनते भी नहीं। मैं सबको समझाती हूँ, विवाद मिटाती हूँ। सखी ! फिर भी मैं झगड़ालू कुटुम्ब में गृहस्थी सम्हाल कर स्वस्थ होकर बैठती हूँ"—(पृ० १०३), अन्यथा देवसेना अलौकिक लोक की नारी होती।

देवसेना की सङ्गीतप्रियता जन्म-जात है। जीवन की विषमतम घड़ियों में भी वह स्वर-लहरियों में भूलकर अपना हृदय हलका कर लेती है। विजया और

बन्धुवर्मा आदि की दृष्टि में तो देवसेना की सङ्गीतप्रियता एक रोग विशेष के रूप में दिखाई देती है। यथा—

"देवसेना' तुझे गाने का भी विचित्र रोग है।"—(बन्धुवर्मा, पृ० ५४) परन्तु देवसेना के विचार से सङ्गीत एक महौषधि है और अनेक रोगों का अचूक उपचार है—"रोग तो एक-न-एक सभी को लगा है। परन्तु यह रोग अच्छा है, इससे कितने रोग अच्छे किये जा सकते हैं।" देवसेना अपने व्यावहारिक ज्ञान का परिचय देती है। उसके साथ सङ्गीत की चर्चा करती है। विजया सङ्गीत की अनुपयुक्तता के प्रति संकेत करती है। देवसेना का सङ्गीत ब्रह्म की सत्ता के समान सर्वत्र व्याप्त है—अणु-अणु में, कण-कण में। देखिए विजया और देवसेना की निम्न वार्त्ता—

विजया—इस समय भी गान !

देवसेना—बिना गान के कोई कार्य नहीं। विश्व के प्रत्येक कम्प में एक ताल है। आह ! तुमने सुना नहीं ? दुर्भाग्य तुम्हारा।

विजया—राजकुमारी, गाने का भी रोग होता था ? हाथ को ऊँचे-नीचे हिलाना, मुँह बनाकर एक भाव प्रकट करना।

देवसेना—विजया, प्रत्येक परमाणु के मिलन में एक सम है, प्रत्येक हरी-भरी पत्ती के हिलने मे एक लय है। मनुष्य ने अपना स्वर विकृत कर रखा है, इसी से तो उसका स्वर विश्व-वीणा में शीघ्र नहीं मिलता। ······पक्षियों को देखो, उनकी चहचह, कलकल, छलछल में, काकली में, रागिनी है।

× × ×

तुमने पारिजात वृक्ष देखा है ?······उसका स्वर अन्य वृक्षों से नहीं मिलता। वह अकेले अपने सौरभ की तान से दक्षिण पवन में कम्प उत्पन्न करता है। कलियों को चटकाकर, ताली बजाकर झूम-झूमकर नाचता है। अपना नृत्य, अपना संगीत, वह स्वयं देखता है—सुनता है- उसके अन्तर में जीवन-शक्ति वीणा बजाती है, वह बड़े कोमल स्वर में गाता है—

"घने प्रेम तरु तले।"—इत्यादि।

मालव दुर्ग पर हूणों एवं शकों की सम्मिलित सेना का आक्रमण हो रहा

है। उस समय देवसेना अपनी भाभी से कहती है—"एक बार गा लूँ हमारा प्रिय गान, फिर गाने को मिले या नहीं।" —(पृ० ४५)

देवसेना का कोई कार्य बिना गान के नहीं होता। उसकी संगीत की परिभाषा इस प्रकार है—

"भाभी ! सर्वात्मा के स्वर में, आत्मसमर्पण के प्रत्येक ताल में अपने विशिष्ट व्यक्तित्व का विस्तृत हो जाना—एक मनोहर संगीत है।"

प्रियतम के अभाव में भी संगीत के प्रति उसका आकर्षण बना रहता है। "मेरे प्रिय गान ! अब क्यों गाऊँ और क्या सुनाऊँ।" इन बार-बार के गाए हुए गीतों में क्या आकर्षण है—क्या बल है, जो खींचता है ? केवल सुनने को ही नहीं, प्रत्युत् उसके साथ अनन्तकाल तक कण्ठ मिलाए रखने की इच्छा जग जाती है और वह गाना आरम्भ कर देती है।

भिक्षा माँगते समय जनसमूह के कुछ असभ्य पुरुष उसकी ओर वासनायुक्त कलुषित कटाक्ष करते हैं। पर्णदत्त उत्तेजित हो जाता है। परन्तु देवसेना शान्तिपूर्वक कहती है—"क्या है बाबा ! क्यों चिढ़ रहे हो ? जाने दो, नहीं दिया अपना, कुछ तुम्हारा तो नहीं ले गया।"

स्कन्दगुप्त के अज्ञात हो जाने पर देश के बिखरे हुए रत्नों को एकत्र करने तथा उनके भरण-पोषण के लिए देवसेना ने भीख माँगी थी।

देवसेना का चरित्र परम पावन और उज्ज्वल है। 'श्मशान' से उसने जीवन की वास्तविक शिक्षा ग्रहण की थी—"संसार का मूक शिक्षक 'श्मशान' क्या डरने की वस्तु है ? जीवन की नश्वरता के साथ ही सर्वात्मा के स्थान का ऐसा सुन्दर स्थल और कौन है ?"

Imp.

प्रश्न ७—बन्धुवर्मा के चरित्र पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—बन्धुवर्मा का प्रसंग कथानक के बीच में ही आरम्भ होता है और थोड़े समय तक योगवाही के रूप में चलकर समाप्त हो जाता है। बन्धुवर्मा एक सच्चा वीर, रणकुशल सैनिक तथा पराक्रमी योद्धा है। वह राजनीति, कूटनीति तथा स्वार्थपरता से परे है। वह लड़ना तथा मरना और मारना जानता है। उसने स्कन्द से नदी की तीक्ष्ण धारा को लाल कर बहा देने की प्रतिज्ञा की थी और उसने उसे अपने प्राण देकर पूरा किया।

क्षत्रियोचित साहस और शौर्य के अतिरिक्त उसमें आदर्श तथा कर्त्तव्य के साथ त्याग के भाव कूट-कूटकर भरे हैं, साथ ही वह शील और सौजन्य की मूर्ति है। बन्धुवर्मा ने स्कन्दगुप्त के कल्याण में आर्यावर्त्त का कल्याण देखा था, इसी कारण उसने स्कन्द को अपना सर्वस्व समर्पित करने की प्रतिज्ञा की थी। अपना राजपाट उसने स्कन्द को सौंप स्वयं आर्य-साम्राज्य-सेना का एक साधारण पदाति-सैनिक बनना पसन्द किया था। स्कन्दगुप्त के राज्याभिषेक के समय गोविन्दगुप्त ने बन्धुवर्मा की प्रशंसा में ये शब्द कहे हैं—"इनका स्वार्थ-त्याग दधीचि के दान से कम नहीं।"

बन्धुवर्मा के कथन के कुछ अंश नीचे उद्धृत किए जाते हैं। इनके द्वारा उसके चरित्र पर अच्छा प्रकाश पड़ता है—

(१) "आर्यराष्ट्र के त्राण के लिए युवराज उज्जयिनी में रहें, इसी में सबका कल्याण है। आर्यावर्त्त का जीवन केवल स्कन्दगुप्त के कल्याण से है। और उज्जयिनी में राज्याभिषेक का अनुष्ठान होगा, सम्राट् होंगे स्कन्दगुप्त।"

उसकी पत्नी जयमाला इस प्रस्ताव का विरोध करती है। इस पर वह कहता है—"तुम कृतघ्नता का समर्थन करोगी! वैभव और ऐश्वर्य के लिए ऐसा कदर्य प्रस्ताव करोगी, इसका मुझे स्वप्न में भी ध्यान न था।" यह कह कर उसने पत्नी को राज्य सौंपा और चल दिया देश-सेवा को—"तब मैं इस कुटुम्ब की कमनीय कल्पना को दूर से नमस्कार करता और आजीवन अविवाहित रहता। क्षत्रिये! जो केवल खड्ग का अवलम्बन रखने वाले हैं, सैनिक हैं, उन्हें विलास की सामग्रियों का लोभ नहीं रहता। सिंहासन पर, मुलायम गद्दों पर लेटने के लिए या अकर्मण्यता और शरीर-पोषण के लिए क्षत्रियों ने लोहे को अपना आभूषण नहीं बनाया है।"

कष्ट उठाने में 'वह अपने धर्म का कर्त्तव्य-पालन हुआ' समझता था।

(२) "ठहरो, जयमाला! इसी क्षुद्र महत्त्व ने हमको दुष्ट भावना की ओर प्रेरित किया है, इसी से हम स्वार्थ का समर्थन करते हैं। इसे छोड़ दो जयमाला! इसके वशीभूत होकर हम अत्यन्त पवित्र वस्तुओं से दूर हो जाते हैं। बलिदान करने के योग्य वह नहीं, जिसने अपना आपा नहीं खोया।"

"भारतीय दुर्जेय वीर हैं। समझ लो, आज के युद्ध में प्रत्यावर्तन नहीं है। जिसे लौटाना हो, अभी से लौट जाये।"

बन्धुवर्मा के उक्त कथन में एक शूरमा का अदम्य उत्साह, एक देश पर मर मिटने वाले के दिल का दर्द, देश-प्रेम, स्वदेशाभिमान, कायरों के लिए ललकार आदि वीरोचित गुण कूट-कूटकर भरे हैं। इन्हें पढ़कर हमें आल्हा-ऊदल की ये पंक्तियाँ याद आती हैं—

"जिन्हें प्यारी हैं घर की तिरियाँ सो दूनी तलब लेउ घर जाउ।
जिन्हें प्यारे हैं आल्हा-ऊदल सो दोऊ-दोऊ हाथ लेउ तलवार॥"

बन्धुवर्मा साहस और कर्त्तव्य का आदर्श है। संकट में वह सीधा कूद पड़ता है और उसी स्थल पर दृढ़ता से डटा रहकर जीवन का बलिदान करता और शत्रु पर विजय प्राप्त करता है। वह स्वयं अपनी शक्ति और प्रवृत्तियों को जानता है। कर्त्तव्य-पालन के लिए वह अपने प्रिय स्कन्दगुप्त के सामने भी आ जाता है—

(३) "……यहाँ मालव की सेना मरेगी, दूसरे को यहाँ मरकर अधिकार जमाने का अधिकार नहीं है और बन्धुवर्मा मरने-मारने में जितना पटु है, उतना षड्यन्त्र तोड़ने में नहीं। आपके रहने से सौ बन्धुवर्मा उत्पन्न होंगे। आप शीघ्रता कीजिए।"

"यहाँ हूणों को रोकना मेरा कर्त्तव्य है, उसे मैं पूरा करूँगा। महाबलाधिकृत का अधिकार मैं न छोड़ूँगा। चक्रपालित वीर है, परन्तु अभी वह नवयुवक है, आपका वहाँ पहुँचना आवश्यक है। भटार्क पर विश्वास न कीजिए।"

स्कन्दगुप्त ने भटार्क पर विश्वास कर लिया और धोखा खाया। परन्तु बन्धुवर्मा दूरदर्शी वीर है।

कर्त्तव्य-पालन में, रणक्षेत्र में उसकी मृत्यु होती है। मरते समय वह आर्य-साम्राज्य की जय बोलता है और एक अभिमानी योद्धा की भाँति स्वर्ग प्रयाण करता है। अपने कर्त्तव्य-पालन के हेतु प्राण-विसर्जन करने का उसे गर्व है—

"विजय! तुम्हारी विजय! आर्य-साम्राज्य की जय!"

"भाई! स्कन्दगुप्त से कहना कि मालव वीर ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की, भीम और देवसेना उनकी शरण हैं।"

बन्धुगण ! यह रोने का नहीं, आनन्द का समय है। कौन वीर इसी तरह जन्मभूमि की रक्षा में प्राण देता है, यही मैं ऊपर से देखने जाता हूँ।"

बन्धुवर्मा में शौर्य के साथ अपार शील है। उसकी पत्नी जयमाला विजया पर व्यंग्य करती है—"स्वर्णरत्न की चमक देखने वाली आँखें बिजली-सी तलवारों के तेज को कब सह सकती हैं।" बन्धुवर्मा को यह व्यंग्य शील के विरुद्ध लगता है। अत्यन्त शान्तिपूर्वक वह अपनी पत्नी को समझाता है— "प्रिये ! शरणागत और विपन्न की मर्यादा रखनी चाहिए।"

मालव की सभा में गोविन्दगुप्त प्रस्ताव करता है कि महाबलाधिकृत के पद पर अब बन्धुवर्मा अधिष्ठित हो, क्योंकि वह स्वयं वृद्धावस्था के कारण उस पद का कार्य-भार सम्हालने में असमर्थ हैं। उस समय बन्धुवर्मा द्वारा दिया गया उत्तर विनम्रता, शील और गुरुजनों के प्रति आदर-भाव का सुन्दर उदाहरण है—"अभी नहीं आर्य ! आपके चरणों में बैठकर यह बालक स्वदेश सेवा की शिक्षा ग्रहण करेगा। मालव का राज-कुटुम्ब, एक-एक बच्चा, आर्य-जाति के कल्याण के लिए जीवन उत्सर्ग करने को प्रस्तुत है। आप जो आज्ञा देंगे, वही होगा।"

बन्धुवर्मा के त्याग, कर्त्तव्य-पालन और देश-प्रेम की हमारे हृदय पर अमिट छाप पड़ती है। उसकी मृत्यु से स्कन्दगुप्त के हृदय को कड़ी ठेस लगती है, "आह बन्धु ! तुम चले गये।"

बन्धुवर्मा के त्याग की स्कन्दगुप्त ने जीवन पर्यन्त प्रशंसा की है—

"जननी जन्मभूमि के उद्धार करने की जिस वीर की दृढ़ प्रतिज्ञा थी, जिसके ऋण का कभी प्रतिशोध नहीं किया जा सकता, उसी वीर बन्धुवर्मा की भगिनी मालवेश कुमारी देवसेना की क्या आज्ञा है ?"

"वसुन्धरा का शृंगार, वीरता का वरणीय बन्धु, मालव-मुकुट', आर्य बन्धुवर्मा, साहसी और परम देशभक्त नरेश है। विपत्ति में धैर्य, युद्ध में उत्साह और वैभव तथा उत्कर्ष में विनम्रता—ये महान् गुण उसके व्यक्तित्व को गौरवान्वित करते हैं।"[1]

---

१. **'प्रसाद के नाटकीय पात्र'**, पृ० ८३।

बन्धुवर्मा का चरित्र पराक्रम, शील, स्वदेश प्रेम, कर्त्तव्य-तत्परता आदि की दृष्टि से स्कन्दगुप्त के चरित्र की टक्कर का है। नाटककार ने नाटक के बीच में ही उसकी मृत्यु करवाकर उसके चरित्र को नायक के चरित्र से अधिक प्रभावपूर्ण नहीं होने दिया।

प्रश्न ८—पर्णदत्त के चरित्र की विशेषताओं का उद्‌घाटन कीजिए।

उत्तर—पर्णदत्त गुप्त-साम्राज्य का प्रमुख योद्धा और सेनापति है। उसकी वीरता की लेखमाला शिप्रा और सिंधु की लोल लहरों से लिखी जाती रही है, शत्रु भी उसकी वीरता की सराहना करते हैं। वह स्वामिभक्ति, शूरता, साहस, धैर्य और कर्त्तव्यपरायणता का श्रेष्ठतम उदाहरण है। साम्राज्य की मान-मर्यादा की रक्षा के लिए वह आजन्म चिन्तित और प्रयत्नशील बना रहता है।

पर्णदत्त उन पात्रों में से है जो नाटक में थोड़े से समय के लिए ही हमारे सामने आते हैं—और अपने उज्ज्वल चरित्र की झलक मात्र से प्रेक्षक का मन मोह लेते हैं। पर्णदत्त हमारे सम्मुख केवल दो बार आता है। प्रथम—नाटक के प्रारम्भ में ही वह स्कन्दगुप्त को उसके कर्त्तव्य और अधिकारों की ओर सजग करता हुआ दिखाई देता है। गुप्त-साम्राज्य पर आपत्ति के बादल मँडरा रहे हैं और कोई योग्य कर्णधार सामने नहीं आ रहा है। यह देखकर वह चिन्तित और अधीर है। युवराज स्कन्द को राज्याधिकार एवं शासन-व्यवस्था की ओर से उदासीन देख वह निराश-सा हो जाता है। वह बार-बार अनेक प्रकार से स्कन्द को उत्साहित करता और जीवन का प्रत्येक पहलू उसे दिखाता है। अन्त में स्कन्दगुप्त से कहलवा ही लेता है कि "अकेला स्कन्दगुप्त मालव की रक्षा करने के लिए सन्नद्ध है।"

देखिए, उस वीर पर्णदत्त ने किस वाक्‌चातुरी द्वारा स्कन्दगुप्त को उद्‌घाटन किया है—"अनेक समरों के विजेता, महामानी, गुप्त साम्राज्य के महाबलाधिकृत अब इस लोक में नहीं हैं। इधर प्रौढ़ सम्राट् के विलास की मात्रा बढ़ गई है।"

इसको सुनकर स्कन्दगुप्त कहता है कि "यह सब मुसीबत, अधिकार का उपयोग मैं आखिर किस लिए करूँ?" बस, पर्णदत्त क्षुब्ध हो उठता है। तनिक तीव्र स्वर से वह कहना प्रारम्भ करता है—"किस लिए? त्रस्त प्रजा की रक्षा

के लिए, सतीत्व से सम्मान के लिए, देवता, ब्राह्मण और गौ की मर्यादा में विश्वास के लिए, आतङ्क से प्राकृति को आश्वासन देने के लिए, आपको अपने अधिकारों का प्रयोग करना होगा। युवराज ! इसलिए मैंने कहा था कि आप अपने अधिकारों के प्रति उदासीन हैं, जिसकी मुझे बड़ी चिन्ता है। गुप्त-साम्राज्य के भावी शासक को अपने उत्तरदायित्व का ध्यान नहीं।"

विशेष—पहले वह कह चुका है कि अपने अधिकारों के प्रति आपकी यह उदासीनता और अयोध्या में नित्य नये परिवर्तन।

स्कन्दगुप्त उसकी प्रशंसा में कहता है—"गुप्त-साम्राज्य की मान-मर्यादा की रक्षा के लिए पर्णदत्त सदृश महावीर अभी प्रस्तुत हैं।"

इस कथन से पर्णदत्त तनिक उत्तेजित-सा हो जाता है और व्यंग्यपूर्वक गुप्त-साम्राज्य पर आने वाली मुसीबतों का रूप प्रस्तुत करता हुआ कहता है—"राष्ट्र-नीति दार्शनिकता और कल्पना का लोक नहीं है। इस कठोर प्रत्यक्षवाद की समस्या बड़ी कठिन होती है। गुप्त-साम्राज्य की उत्तरोत्तर वृद्धि के लिए गुप्त-कुल के शासक प्रस्तुत नहीं, क्योंकि साम्राज्य-लक्ष्मी को वे अब अनायास और अवश्य अपनी शरण आने वाली वस्तु समझने लगे हैं।"

"चरों ने आज ही कहा है, कपिशा को श्वेत हूणों ने पदाक्रांत कर लिया है। जिस पर भी युवराज पूछते हैं कि अधिकारों का उपभोग किस लिए ? यही 'किस लिए' प्रत्यक्ष प्रमाण है कि गुप्त-कुल के शासक इस साम्राज्य को उसे पड़ी वस्तु समझने लगे हैं।"

पर्णदत्त स्वामी की हाँ-में-हाँ मिलाने वाला चापलूस सेवक नहीं है। वह गलती करते हुए मालिक को सही रास्ते पर लाने वाला सेवक है। वह गुप्त साम्राज्य के युवराज स्कन्दगुप्त से स्पष्ट कह देता है—"आँधी आने से पहले आकाश जिस तरह स्तम्भित हो रहता है, बिजली गिरने से पूर्व जिस प्रकार नील कादम्बिनी का मनोहर आवरण महाशून्य पर चढ़ जाता है, क्या वैसी ही दशा गुप्त-साम्राज्य की नहीं है ?"

और अन्ततोगत्वा वह युवराज से मालव की रक्षा करने की प्रतिज्ञा करा ही लेता है। बस, वही प्रसन्न है—"युवराज ! आज यह वृद्ध हृदय से प्रसन्न

हुआ !" यदि पर्णदत्त स्कन्दगुप्त के इतना पीछे न पड़ा होता तो बहुत सम्भव था कि स्कन्दगुप्त विरक्त होकर कहीं एकान्तवास को चला गया होता। गुप्त-साम्राज्य की रक्षा का वास्तविक श्रेय सचमुच पर्णदत्त को ही है।

गुप्त-साम्राज्य के हित के विरुद्ध पर्णदत्त को एक शब्द भी सह्य नहीं है। उसका पुत्र चक्रपालित बातचीत में तनिक-सी असावधानी बरतता है। पर्णदत्त तुरन्त डाँट जगाता है—"चक्र ! यदि बात हो भी, तब भी तुमको ध्यान रखना चाहिए कि हम लोग साम्राज्य के सेवक हैं। असावधान बालक ! अपनी चंचलता को विष वृक्ष का बीज न बना देना।"

पर्णदत्त वीर और उत्साही तो है ही, साथ ही बड़ा ही आत्म-विश्वासी भी है। उसे अपने बाहुबल और भगवान् की कृपा पर पूरा भरोसा है। युवराज स्कन्दगुप्त से यह सुनकर कि "अभी राजधानी से सहायता की कोई आशा नहीं है और इस आसन्न विपद में अपना ही भरोसा है", उसके उत्साह में कोई भी कमी नहीं आती। वह बड़े ही विश्वास के साथ कहता है—"कुछ चिन्ता नहीं, युवराज ! भगवान् सब मङ्गल करेंगे। चलिए, विश्राम करें !"

इसके बाद पर्णदत्त का कुछ पता नहीं चलता। द्वितीय अङ्क में स्कन्दगुप्त के राज्यारोहण के अवसर पर चक्रपालित द्वारा यह सूचना मिलती है—'वह सौराष्ट्र की चंचल नीति की देख-रेख में लगे हैं।" पर्णदत्त का महत्त्व बताने के लिए उक्त शब्द पर्याप्त हैं। ऐसे आनन्द के समय में भी वह अपने कर्त्तव्यपालन में तत्पर है।

इसके बाद पंचय अङ्क में मुद्गल द्वारा उसके बारे में यह सूचना मिलती है—"देवसेना को लेकर बूढ़ा पर्णदत्त देवकुलिक-सा महादेवी की समाधि पर जीवन व्यतीत कर रहा है।"

तदुपरान्त वह देवसेना के साथ भीख माँगता हुआ दिखाई देता है। कुभा के प्रवाह में स्कन्दगुप्त और उसकी सेना बह जाते हैं। कुछ दिन के लिए साम्राज्य की सैनिक-शक्ति छिन्न-भिन्न हो जाती है। उस समय पर्णदत्त अपना कर्त्तव्य बड़ी ही मुस्तैदी के साथ पूरा करता है। बचे-बचाए सैनिकों को इकट्ठा करके उनकी रक्षा करता और उचित अवसर की प्रतीक्षा में दिन बिताता है। राज-क्रान्ति और गरीबी के कारण भोजन के लाले हैं, इस कारण भीख माँगकर

वह सबकी भोजन-व्यवस्था में रत होता है। उसकी यह कर्त्तव्यनिष्ठा और कष्टसहिष्णुता उसकी राजनीति और मनुष्यता की परिचायक है। अपनी दुर्दशा का वह स्वयं वर्णन करता है—"सूखी रोटियाँ बचाकर रखनी पड़ती हैं। जिन्हें कुत्तों को देते संकोच होता था, उन्हीं कुत्सित अन्नों का संचय। अक्षय निधि के समान उन पर पहरा देता हूँ। मैं रोकूँगा नहीं, परन्तु यह रक्षा क्या केवल जीवन का बोझ वहन करने के लिए है? नहीं, पर्ण! रोना मत, एक बूँद भी आँसू आँखों में दिखाई न पड़े। तुम जीते रहो, तुम्हारा उद्देश्य सफल होगा। भगवान् यदि होंगे तो कहेंगे कि मेरी सृष्टि में एक सच्चा हृदय था। संतोष कर, तू रोटियों के लिए नहीं जोता है, तू उसकी भूल दिखाता है, जिसने तुझे उत्पन्न किया है। परन्तु जिस काम को कभी नहीं किया, उसे करते नहीं बनता, स्वाँग भरते नहीं बनता (भीख माँगने को ओर संकेत है), देश के बहुत से दुर्दशा-ग्रस्त वीर हृदयों की सेवा के लिए करना पड़ेगा। मैं क्षत्रिय हूँ, मेरा यह पाप ही आपद्धर्म होगा, साक्षी रहना भगवान्!"

पर्णदत्त ने परिस्थितिवश तथा परमार्थ-साधन के लिए ही भिक्षा जैसी निकृष्ट वृत्ति को अपनाया था। परन्तु उसने अपना स्वाभिमान नहीं छोड़ा। भिक्षा माँगते समय गीत गाती हुई देवसेना के प्रति एक नागरिक के अशिष्ट एवं वासनायुक्त शब्द सुनकर उसका खून उबल पड़ता है। वह दाँत पीसकर ललकार उठता है—"नीच दुरात्मा, विलास का नारकीय कीड़ा! बालों को सँवार कर, अच्छे कपड़े पहनकर, अब भी घमण्ड से तना हुआ निकलता है। कुल बधुओं का अपमान देखते हुए भी अकड़कर चल रहा है, अब तक विलास और नीच वासना नहीं गई। जिस देश के नवयुवक ऐसे हों, उसे अवश्य दूसरों के अधिकार में जाना चाहिए। देश पर यह विपत्ति, फिर भी यह निराली धुन।"

विशेष—पर्णदत्त के उक्त दोनों कथनों में भारतवासियों की वास्तविक दशा की अच्छी झलक मिल जाती है। राह चलती महिला को छेड़ना—आज एक फैसन की चीज है तथा विलासप्रियता एवं कृपणता—सभ्यता की निशानी है।

पर्णदत्त सच्चा वीर है। उसे वीर ही चाहिए। उसे जयनाद नहीं, बल्कि वीरों की आहुती चाहिए। वह चाहता है कि देश के नाम पर मर मिटने वाले

अनेक वीर छाती ठोककर आगे आयें। उसकी तपस्या का परिचय हमें स्कन्द-गुप्त के इन शब्दों द्वारा मिलता है—"वृद्ध पूज्य पर्णदत्त, तात पर्णदत्त ! तुम्हारी यह दशा ? जिसके लोहे से आग बरसती थी, वह जंगल की लकड़ियाँ बटोर कर आग सुलगाता है !"

वृद्धावस्था को प्राप्त होने पर भी पर्णदत्त की एक ही कामना थी कि वह देश-सेवा करते हुए ही प्राण त्यागे। यथा—"इस वृद्ध ने गरुड़ध्वज लेकर चन्द्रगुप्त की सेना का संचालन किया है। अब भी गुप्त-साम्राज्य की नासीर सेना में उसी गरुड़ध्वज की छाया में पवित्र क्षात्रधर्म का पालन करते हुए उसी के नाम के लिए मर मिटूँ—यही कामना है। गुप्त-कुल भूषण ! आशीर्वाद दीजिए, वृद्ध पर्णदत्त की माता का स्तन्य लज्जित न हो।"

भगवान् ने वीर शिरोमणि की टेक रखी। उसकी कामना यथार्थ रूप में प्रतिफलित्त होती है। हूणों से अन्तिम युद्ध में वह वीरतापूर्वक लड़ता है। सम्राट् की रक्षा करते हुए वृद्ध पर्णदत्त महाप्रयाण करता है, गरुड़ध्वज की छाया में वह लिटाया जाता है।

पर्णदत्त का चरित्र आदर्श गुणों का सन्निधान है। आर्य-साम्राज्य के साथ सबने 'आर्य पर्णदत्त की जय' भी बोली थी।

प्रश्न ६—"शर्वनाग एक ऐसा पात्र है जो क्षमा-दान द्वारा सुधारा जा सकता है।" इस कथन को स्पष्ट करते हुए शर्वनाग का चरित्र-चित्रण कीजिए।

उत्तर—हमारे सामने सर्वप्रथम शर्वनाग एक सच्चे सैनिक के रूप में आता है। वह अपनी तलवार पर मुग्ध और अपनी स्त्री से घबड़ाता है। एक को वह पास रखना अपना सौभाग्य समझता है और दूसरी ओर से दूर होना, अपनी जान छुड़ाना चाहता है। प्रेम और भय—उसके जीवन के ये दोनों रूप प्रथम मिलन में ही अपने को स्पष्ट कर देते हैं। यथा—

"किस सौन्दर्य पर मन रीझा ? कुछ नहीं, सदैव इसी सुन्दरी खड्गलता की प्रभा पर मैं मुग्ध रहा। मैं नहीं जानता कि और कुछ सुन्दर है। वह मेरी स्त्री—जिसके अभावों का कोष खाली नहीं, जिसकी भर्त्सनाओं का भण्डार

अक्षय है, उससे मेरी अन्तरात्मा काँप उठती है। आज मेरा पहरा है। घर से जान छूटी.......।"

अपनी पत्नी रामा से वह स्पष्ट कह देता है कि "मैं क्रोध से गरजते हुए सिंह की पूँछ उखाड़ सकता हूँ, परन्तु सिंहवाहिनी ! तुम्हें देखकर मेरे देवता कूच कर जाते हैं।"

शर्वनाग सीधा-सच्चा योद्धा है। वह न राजनीति की भाषा को समझता है और न छल-कपट की बातें ही। "मुझे घबराओ मत, समझाकर कहो। मुझे क्या करना होगा।" शर्वनाग का यह कथन उसके हृदय की सरलता का द्योतक है, इसमें दो राय नहीं हो सकतीं।

शर्वनाग स्पष्टवादी तथा अपने चरित्र पर विश्वास रखने वाला शूरमा है। उसे चिन्ता और भय नहीं व्यापते—"परन्तु आप इतना क्यों चौंकते हैं ! मैं तो कभी यह चिन्ता नहीं करता कि कौन आया ? कौन गया ? मैं खड्ग हाथ में लिए भविष्यत् की प्रतीक्षा करता हूँ। जो कुछ होगा वही निबटा लेगा। इतने डर की, घबराहट की आवश्यकता नहीं। विश्वास करना और देना, इतने ही लघु व्यापार से संसार की सब समस्याएँ हल हो जायेंगी।" शंकित होना उसके स्वभाव के प्रतिकूल है। "तुम घबराओ मत, तीन साथियों को साथ लेकर घूमो, सबको सचेत रखो। हम इसी शिला पर हैं, कोई डरने की बात नहीं।"

भटार्क उसके सम्मुख महादेवी के वध का प्रस्ताव रखता है। वह अत्यन्त धैर्य और दृढ़ता के साथ उसका विरोध करता है—"नापतौल मैं नहीं जानता, मुझे शत्रु दिखा दो। मैं भूखे भेड़ियों की भाँति उसका रक्तपान कर लूँगा, चाहे मैं ही क्यों न मारा जाऊँ। परन्तु निरीह हत्या, यह मुझसे नहीं होगी।" इस कथन में उसका चरित्र, बल एवं आत्मिक शक्ति स्पष्ट है। उसकी यह दृढ़ता धृष्टता और अक्खड़ता का रूप धारण कर लेती है—"तुम सैनिक हो, उठाओ तलवार ! चलो, दो सहस्र शत्रुओं पर, हम दो मनुष्य आक्रमण करें। देखें, मरने से कौन भागता है ? कायरता, अबला महादेवी की हत्या ! किस प्रलोभन में तुम पिशाच बन रहे हो !"

"लाभ ही के लिए मनुष्य सब काम करता तो पशु बना रहना ही उसके लिए पर्याप्त था। मुझसे यह नहीं होने का........!"

परन्तु यही शर्वनाग मदिरा में उन्मत्त होकर विद्रोहियों पर विश्वास करके प्रतिज्ञा कर बैठता है—"जो आज्ञा होगी, वही करूँगा।"

यहीं से उसका पतन प्रारम्भ होता है। शराब की चाट उसे चाट जाती है। उसकी पशुता दुर्जेय बन जाती है। रामा के समझाने पर भी वह नहीं मानता, उलटे उसे ही मारने को तैयार हो जाता है, "अच्छा, तू इसमें विघ्न डालेगी। तू तो क्या, विघ्नों का पहाड़ भी होगा तो ठोकरों से हटा दिया जायगा। मुझे सोना और सम्मान मिलने में कौन बाधा देगा?"

× × ×

"जा तू हट जा, नहीं तो मुझे एक के स्थान पर दो हत्याएँ करना पड़ेंगी। मैं प्रतिश्रुत हूँ, वचन दे चुका हूँ।"

विशेष—शर्वनाग महादेवी की हत्या को तैयार था और रामा ने उसे ऐसा करने से रोका था। इसी विघ्न के प्रति शर्वनाग क्षुब्ध हो उठा था। मदिरा से मुक्त होने पर जब वह अपनी वास्तविक स्थिति देखता है, तब उसे दुःख होता है। जिस समय वन्दी के रूप में वह न्यायाधिकरण के सम्मुख उपस्थित किया जाता है, उस समय उसे कितनी मानसिक वेदना हो रही थी—"दुहाई सम्राट्! मुझे वध की आज्ञा दीजिए, नहीं तो आत्महत्या करूँगा। ऐसा देवता के प्रति मैंने दुराचरण किया था। ओह....!"

भटार्क की बातों में आकर वह पतित हो गया, यह विचार उसे व्यथित कर देता है। पश्चात्तापस्वरूप वह स्कन्द और महादेवी देवकी से करबद्ध क्षमा माँगता है। देवकी के पैरों पर गिरकर वह कहता है—"माँ! मुझे क्षमा करो, मैं मनुष्य से पशु हो गया था। अब तुम्हारी दया ही से मैं मनुष्य हुआ। आशीर्वाद दो, जगद्धात्री कि मैं देव-चरणों में आत्मबलि देकर जीवन सफल करूँ।"

अपने कुकर्म और पतन के प्रति शर्वनाग की यह ग्लानि उसके हृदय में अन्त तक घर किये रही। और यही उसके चरित्र की उज्ज्वलता है। उसका चरित्र इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि आत्मग्लानि आत्म-सुधार का प्रथम सोपान है।

अन्तर्वेद के विषयपति के रूप में वह साम्राज्य की सेवा करता है और चाहता है कि किस प्रकार देश और देशवासियों के काम आये। "........चलो देश के प्रत्येक बच्चे बूढ़े और युवक को उसकी भलाई में लगाना होगा, कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना होगा। आओ, यदि हम राज सिंहासन प्रस्तुत न कर सकें तो हमें अधीर न होना चाहिए, हम देश की प्रत्येक गली को झाड़ू देकर ही इतना स्वच्छ कर दें कि उस पर चलने वाले राजमार्ग का सुख पायें।"

जीवन का यह उतार-चढ़ाव ही शर्वनाग के चरित्र की विशेषता है। वह उन भाग्यवान् व्यक्तियों में से है जो अन्त में साम्राज्य की सफलता अपनी आँखों से देखते हैं।

प्रश्न १०—मातृगुप्त का चरित्र-चित्रण कीजिए।

उत्तर—मातृगुप्त प्रतिभावना, सहृदय, भावुक तथा कोमल वृत्ति का राष्ट्रीय कवि है। काव्य-साधना को लेकर वह जीवन में प्रवेश करता है। पर्याप्त धनप्राप्ति न होने के कारण धातुसेन की प्रेरणा एवं मुद्गल के सहयोग से राजनीति में आ जाता है। देश की सम्मान-रक्षा में वह सदैव स्कन्दगुप्त के साथ लगा रहता है। देश के उज्ज्वल भविष्य का उसे सदैव ध्यान बना रहता है।

मातृगुप्त एक सच्चा काव्य-साधक है। विस्तार की दृष्टि से उसका चरित्र विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है। उसके मुख द्वारा निकले हुए ये शब्द उसके चरित्र एवं गुणों पर प्रकाश डालने के लिए काफी हैं—

(१) "कविता करना अनन्य पुण्य का फल है। संसार के समस्त अभावों को असंतोष कहकर हृदय को धोखा देता रहा। परन्तु कैसी विड़म्बना! लक्ष्मी के लालों का भ्रू-भंग और मोक्ष की ज्वाला के अतिरिक्त मिला क्या? एक काल्पनिक प्रशंसनीय जीवन, जो कि दूसरों की दया में अपना अस्तित्व रखता है। संचित हृदय-कोष के अमूल्य रत्नों की उदारता और दारिद्रय का व्यंग्यात्मक कठोर अट्टहास, दोनों की विषमता की कौन-सी व्यवस्था होगी। मनोरथ को, भारत के प्रकांड बौद्ध पंडित को, परास्त करने में भी सबकी प्रशंसा का भाजन बना। परन्तु हुआ क्या?"

"अन्धकार का आलोक से, असत् का सत् से, जड़ का चेतन से और बाह्य-जगत् का अन्तर्जगत् से सम्बन्ध कौन स्थापित करती है ? कविता ही, न ?"

(२) मातृगुप्त की मधुर कल्पना का मृदुल स्वरूप देखिए। उसने क्या विचारा था और क्या हो गया !

"अमृत के सरोवर में स्वर्ण कमल खिल रहा था, भ्रमर वंशी बजा रहा था, सौरभ और पराग की चहल-पहल थी। सबेरे सूर्य की किरणें उसे चूमने को लौटती थीं, संध्या में शीतल चाँदनी उसे अपनी चादर से ढक देती थी। उस मधुर सौन्दर्य, उस अतीन्द्रिय जगत् की साकार कल्पना की ओर मैंने हाथ बढ़ाया था, वहीं स्वप्न टूट गया।"

(३) "उस हिमालय के ऊपर प्रभात सूर्य की सुनहरी प्रभा से आलोकित बर्फ का, पीले पुखराज का-सा एक महल था। उसी से नवनीत की पुतली झाँककर विश्व को देखती थी। वह हिम की सुशीलता से सुगन्धित थी। सुनहरी किरणों को जलन हुई। तप्त होकर महल को गला दिया। पुतली ! उसका मङ्गल हो, हमारे अश्रु की शीलता उसे सुरक्षित रखे। कल्पना की भाषा के पंख गिर जाते हैं, उसे मौन नीड़ में निवास करने दो। छोड़ो मत मित्र !"

(४) कुमारदास उसे सचेष्ट बनाने के लिए कहता है—"तुम सचेष्ट बनो, प्रतिभाशाली हो। तुम्हारा भविष्य उज्ज्वल है……!"

इसका उत्तर मातृगुप्त बड़ी ही भावुकता एवं कविसुलभ निस्पृहता के साथ देता है—"उसकी चिन्ता नहीं। दैन्य जीवन के प्रचण्ड आतप में सुन्दर स्नेह मेरी छाया बने। झुलसा हुआ जीवन धन्य हो जायगा।"

(५) दण्डनायक देवनन्द से मातृगुप्त कहता है—"तुम गुप्त साम्राज्य का विधान भूल गये ? प्रजा की रक्षा के लिए कर लिया जाता है। यदि तुम उसकी रक्षा न कर सके, तो वह अर्थ तुम्हारी भृत्ति से कटकर इसी रमणी को मिलेगा।"

"मातृगुप्त केवल भाव संसार का ही प्राणी नहीं, वह व्यवसार जगत् का सुलझा हुआ जीव भी है, जो विधि-विधान के अनुसार न्याय को समझता-समझाता है।"

मातृगुप्त ने एक गणिका से प्रेम किया और सच्चे प्रेमी के रूप में प्रेम किया। मालिनी काश्मीर की सुप्रसिद्ध वार-विलासिनी है, यह जानते हुए भी मातृगुप्त ने उसे अपने मन-मन्दिर में स्थान देकर उसकी पूजा की, परन्तु बाजारू स्त्री से प्रेम करके उसने अपने प्रणय को बाजारू नहीं बनाया। मालिनी के परिरम्भण में मातृगुप्त मुकुल में बन्द अलि की भाँति काँप उठता है।

मातृगुप्त के काश्मीर छोड़ देने पर मालिनी उसे भूल जाती है। मातृगुप्त के शब्दों में उसने "सीने के लिए नन्दन का अम्लान कुसुम बेच डाला है", परन्तु फिर भी वह मालिनी की स्मृति को अपने हृदय में सुखद कसक के रूप में सुरक्षित रखता है। भौतिक अर्थ में मालिनी उसकी प्रणयिनी नहीं रहती, परन्तु उसका मानसिक सम्बन्ध चिरस्थायी है—"मैं आज तक तुम्हें पूजता था। तुम्हारी पवित्र स्मृति को कंगाल की निधि की भाँति छिपाये रखा ! मूर्ख था मैं मालिनी ! मेरे शून्य भाग्याकाश के मन्दिर का द्वार खोलकर तुम्हीं ने उनींदी उषा सदृश झाँका था और मेरे भिकारी संसार पर स्वर्ण बिखेर दिया था····· !"

मालिनी को विदा करते हुए उसके ये शब्द उसके हृदय की करुणा को बिखेर देते हैं—"मैं इतना दृढ़ नहीं हूँ मालिनी कि तुम्हें इस अपराध के कारण भूल जाऊँ। पर वह स्मृति दूसरे प्रकार की होगी। उसमें ज्वाला न होगी। धूआँ उठेगा और तुम्हारी मूर्ति धुँधली होकर सामने आयेगी। जाओ !"

मातृगुप्त सच्चा देश-भक्त एवं राज-भक्त है। स्कन्दगुप्त के अज्ञात हो जाने पर उसके द्वारा कहे हुए वचन इसके प्रमाण हैं—"सो सब गया······ परन्तु पासा पलट गया। प्रवीर उदार हृदय स्कन्दगुप्त कहाँ है ? तब काश्मीर ! तुमसे विदा।"

"प्रकृति-प्रेम मातृगुप्त के रोम-रोम में व्याप्त है। उसकी कोमल कल्पना के प्रांगण में मूक प्रकृति मुखर हो उठती है। काश्मीर के हिमाच्छादित हिम-शृङ्ग और अमृत सरोवर उसके कंठ में बैठकर सरस्वती को रुलाते और हँसाते हैं। धातुसेन के शब्दों में उसकी कोमल कल्पना वाणी की वीणा में झंकार उत्पन्न करती है।" —(पृ० सं० ८७, 'प्रसाद के नाटकीय पात्र' से उद्धृत)

मातृगुप्त के चरित्र में नाटककार का कवि-हृदय मुखरित हो उठा है।

प्रश्न ११—भटार्क की चारित्रिक विशेषताओं का उद्घाटन कीजिए।

उत्तर—गुप्त साम्राज्य का नवीन महाबलाधिकृत भटार्क महत्त्वाकांक्षी एवं वीर योद्धा है। यह वसुन्धरा को वीरभोग्या समझता है—'नहीं तो क्या रोने से, भीख माँगने से कुछ अधिकार मिलता है ? जिसके हाथों में बल नहीं, उसका अधिकार ही कैसा ? और यदि माँगकर मिल भी जाय तो शान्ति की रक्षा कौन करेगा ?"

भटार्क एक अत्यन्त स्वाभिमानी एवं विचारशील योद्धा है। वह तलवार और बर्छी के घाव सह सकता है परन्तु किसी की टेढ़ी नजर अथवा अनुचित बात उसे बरदाश्त नहीं। सुनिये उसी के मुख से—

"महादेवी ! कल सम्राट् के समक्ष जो विद्रूप और व्यंग्य वाण मुझ पर बरसाये गये हैं वे अन्तस्तल में गड़े हुए हैं। उनके निकालने का प्रयत्न नहीं करूँगा, वे ही भावी विजय में सहायक होंगे। चुभ-चुभ कर वे मुझे सचेत करेंगे। मैं उन पथ-प्रदर्शकों का अनुसरण करूँगा, परन्तु वह भी जान-बूझकर। मेरा हृदय शूलों के लौह-फलक सहने के लिए बना है, क्षुद्र विषवाक्य वाणों के लिए नहीं।"

भटार्क को अपने बाहुबल पर सचमुच बड़ा अभिमान है। अपनी तलवार पर उसे अपार विश्वास है—"क्या मेरी खड्गलता आग के फूल नहीं बरसाती ? क्या मेरे रणनाद वज्रध्वनि के समान शत्रु के कलेजे नहीं कँपा देते ? क्या भटार्क का लोहा भारत के क्षत्रिय नहीं मानते ?"

महत्त्वाकांक्षी भटार्क के हृदय में महाराज के विरुद्ध प्रतिशोध की भावना जगकर अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है—"तो जायँ सब जायँ। गुप्त साम्राज्य के हीरों के से उज्ज्वल हृदय वीर युवकों के शुद्ध रक्त सब मेरी प्रतिहिंसा राक्षसी के बलि हों।"

भटार्क की इस प्रतिशोध-भावना से अनन्तदेवी ने पूरा फायदा उठाया। उसने भटार्क को तनिक-सी एड़ लगा दी, बस भटार्क उठ बैठा। इसके अतिरिक्त उसे महाबलाधिकृत बनाने में अनन्तदेवी का ही हाथ था। अनन्तदेवी के इस ऐहसान और उसके द्वारा प्रेरित होकर विद्रोही बनाना, ये दोनों बातें वह स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है। अन्तःकरण की प्रेरणा होने पर भी वह षड्यन्त्र से छुटकारा

नहीं पा सकता, इसे वह अपना दुर्भाग्य समझता है। परन्तु करे क्या ! अनन्तदेवी का ऐहसान जो उसके ऊपर है।

स्कन्दगुप्त के यह कहने पर कि "तुम्हीं साम्राज्य-लक्ष्मी महादेवी की हत्या के कुचक्र में सम्मिलित हो। यह तुम्हारा अक्षम्य अपराध है।" भटार्क स्पष्ट उत्तर देता है—"मैं केवल राजमाता की आज्ञा का पालन करता था।"

× × ×

अनन्तदेवी के प्रति कृतज्ञता भी वह स्पष्ट भाव से प्रकट करता है—"मैं सब समझ रहा हूँ। पुष्यमित्रों के युद्ध में मुझे सेनापित की पदवी नहीं मिली, इसका कारण मैं भी जानता हूँ। मैं दूध पीने वाला शिशु नहीं हूँ। और यह मुझे स्मरण है कि पृथ्वीसेन के विरोध करने पर भी आपकी कृपा से मुझे बलाधिकृत पद मिला है। मैं कृतघ्न नहीं हूँ, महादेवी ! आप निश्चिन्त रहें।"

वीर होने के अतिरिक्त भटार्क षड्यन्त्र-रचना में भी कुशल है। वीरोचित दृढ़ निश्चय और लक्ष्य की अनन्यता उसके रक्त में समाई हुई है। अपने लक्ष्य को स्थिर करके फिर वह पूरी कड़ाई के काम लेता है। फिर वह यह नहीं देखता कि कौन है और क्या बात है। शर्वनाग को बगलें झाँकता हुआ देखकर वह साफ कह देता है—"सावधान शर्व ! इस चक्र से तुम नहीं निकल सकते। या तो करो या मरो। मैं सज्जनता का स्वाँग नहीं ले सकता, मुझे वह नहीं भाता। मुझे कुछ लेना है, वह जैसे मिलेगा, लूँगा। साथ दोगे तो तुम भी लाभ में रहोगे।"

अपना कार्य पूरा करने के लिए वह साम, दाम, दण्ड, भेद—सभी साधनों को काम में लाता है। अवसर मिलने पर वह स्कन्दगुप्त के साथ भी विश्वासघात करता है। थोड़ी देर पहले तो वह स्कन्दगुप्त से कहता है कि "मेरा खड्ग साम्राज्य की सेवा करेगा।" और थोड़ी ही देर बाद, दूसरे ही क्षण वह कुभा का बंध तोड़ देता है और स्कन्दगुप्त आदि उनमें बहते हुए दिखाई देते हैं। "नीच भटार्क ने बंध तोड़ दिया है, कुभा में जल वेग से बढ़ रहा है। चलो, शीघ्र चलो !"

भटार्क को अपने किये पर पश्चात्ताप होता है। अपनी माता के सम्मुख वह अपना अपराध स्वीकार करता है। "माँ, क्षमा करो ! आज से मैंने शस्त्र

त्याग किया । मैं इस संघर्ष से अलग हूँ। अपनी दुर्बुद्धि से तुम्हें कष्ट न पहुँचाऊँगा—(तलवार डाल देता है) ।" इस प्रकार वह अपनी मातृभक्ति का परिचय देकर एक बार फिर सच्चे शूरवीर राजभक्त महाबलाधिकृत के रूप में आ जाता है—"महादेवी की अन्त्येष्टि क्रिया राजसम्मान से होनी चाहिए ।"

भटार्क जैसा शुद्ध वीर योद्धा कुचक्रियों के चक्कर में पड़कर बुरा बन गया। और तो और, रणक्षेत्र में उसे कामदेव के दर्शन होने लगे थे—"अबोध ! जो विलासी न होगा, वह भी वीर हो सकता है ? जिस जाति में जीवन न होगा, वह विलास क्या करेगी ? जाग्रत राष्ट्र में ही विलास और कलाओं का आदर होता है। वीर एक कान से तलवारों की ओर, दूसरे से नूपुरों की झनकार सुनते हैं।"

कुमार्ग पर आ जाने से भटार्क की आत्मा का हनन हुआ और तेज मन्द पड़ गया। वह बार-बार सद्भावनाओं द्वारा प्रेरित होकर षड्यन्त्र से अपने को अलग करना चाहता है, परन्तु कभी कृतनिश्चय की कठोरता, कभी विजया की प्रेम-प्रेरित उत्तेजक वाणी, कभी अनन्तदेवी के सम्मुख की हुई प्रतिज्ञा आदि अनेक बाधाएँ उनके लिए रोड़ा बन जाती हैं और उसे कई बार मुँह की खानी पड़ती है।

विजया के कहने पर कि "अहा, यदि आज राजाधिराज कहकर युवराज पुरगुप्त का अभिनन्दन कर सकती"—वह तुरन्त ही उत्तर देता है, "यदि मैं जीता रहा, तो वह भी कर दिखाऊँगा।"

इसके बाद वह उबल पड़ता है। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए देश के साथ भी विद्रोह करने को तैयार हो जाता है। खिंगिल के दूत से वह अपना अभिप्राय कहता है—"............हूणों को एक बार ही भारतीय सीमा से दूर करने के लिए स्कन्दगुप्त ने समस्त सामन्तों को आमन्त्रण दिया है। मगध की रक्षक सेना भी उसमें सम्मिलित होगी और मैं ही उसका परिचालन करूँगा। वहीं इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिलेगा। और यह लो प्रमाण-पत्र। इसी सिलसिले में मेरा खड्ग साम्राज्य की सेवा करेगा", कहकर वह स्कन्दगुप्त के साथ विश्वासघात करता है।

कुभा में स्कन्दगुप्त को बहा देने पर उसकी अन्तरात्मा उसे धिक्कारती है—"मेरी उच्च आकांक्षा, वीरता का दम्भ पाखंड की सीमा तक पहुँच गया। अनन्तदेवी एक क्षुद्र नारी, उसके कुचक्र में, आशा के प्रलोभन में, मैंने सब बिगाड़ दिया।" अन्त में स्कन्दगुप्त द्वारा वह परास्त होता है और बन्दी बनाया जाता है। वह लज्जा, ग्लानि और पश्चात्ताप के मारे जमीन में गढ़ा जा रहा है। अपनी प्रिया विजया को भी डाँट देता है। वह आत्महत्या करना चाहता है किन्तु स्कन्द उसका हाथ पकड़ लेता है। यहीं से उसका हृदय का वास्तविक परिष्कार होता है और वह स्कन्दगुप्त के साथ देश-सेवा में तन-मन-धन—सब कुछ अर्पण करने का व्रत ठान लेता है। यथा—

"हाँ, तेरा पति भटार्क ! दुश्चरित्र ! सुना था कि तुझे देश-सेवा करके पवित्र होने का अवसर मिला है, परन्तु हिंस्र पशु कभी एकादशी का व्रत करेगा—कभी पिशाची शान्ति-पाठ पढ़ेगी ?"

× × ×

"फिर भी किसके साथ ? जिसके ऊपर अत्याचार करके मैं भी लज्जित हूँ, जिससे क्षमायाचना करने मैं आ रहा था। नीच स्त्री !"

"देव ! मेरी भी लीला समाप्त करो।"

स्कन्दगुप्त—"तुम वीर हो, इस समय देश को वीरों की आवश्यकता है, तुम्हारे प्रायश्चित्त की नहीं। रणभूमि में प्राण देकर जननी-जन्मभूमि का उपकार करो.......आत्महत्या के लिए जो अस्त्र तुमने ग्रहण किया है, उसे शत्रु के लिए सुरक्षित रखो।"

भूमि खोदते समय भटार्क का रत्न-गृह प्रकट होता है। स्कन्दगुप्त कहता है—"भटार्क ! यह तुम्हारा है।" भटार्क तुरन्त ही सच्चे देश-सेवक की भाँति उत्तर देता है—"हाँ सम्राट् ! यह हमारा है, इसीलिए देश का है। आज से मैं सेना-संकलन में लगूँगा।"

अन्त में जब स्कन्दगुप्त यह कहता है कि "भटार्क ! मैंने तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी की। लो, आज इस रणभूमि में पुरगुप्त को युवराज बनाता हूँ", तो पुरगुप्त का पोषक और स्कन्दगुप्त का विरोधी, किसी समय उसके खून का

प्यासा भटार्क उदास मुख से निराशापूर्ण उत्तर देता है—"देवव्रत ! अभी आपकी छत्रछाया में हम लोगों को बहुत-सी विजय प्राप्त करनी है, यह आप क्या कहते हैं !"

सच्चरित्रता और अटल मातृ-भक्ति भटार्क को पिशाच होने से बचा लेती हैं। इन्हीं के कारण वह पाप-पंक से निकल सन्मार्ग पर आकर एक बार फिर खड़ा हो जाता है। उसका जीवन चरित्र, "विधिबस सुजन कुसंगति परहीं" का जीता-जागता नमूना है। भटार्क का प्रत्यावर्तन, सुन्दर और शिव, दोनों ही है।

प्रश्न १२—अनन्तदेवी के चरित्र पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—अनन्तदेवी मगध सम्राट् कुमारगुप्त की दूसरी पत्नी है। वह 'वृद्धस्य तरुणी भार्या' है। सुनिए भटार्क के शब्द, "परन्तु इसकी आँखों में काम-पिपासा के संकेत अभी उबल रहे हैं। अतृप्ति की चंचल प्रवंचना कपोलों पर रक्त होकर क्रीड़ा कर रही है। हृदय में श्वासों की गरमी विलास का संदेश वहन कर रही है।" इसी कारण वह 'वृद्धस्य तरुणी विषम्' सिद्ध होती है।

अनन्तदेवी उग्र स्वभाव की स्त्री है। वह षड्यन्त्र करने में पूर्ण पटु है। "एक दुर्वेद्य नारी-हृदय में विश्व-प्रहेलिका का रहस्य बीज है। आह ! कितनी सहनशीला स्त्री है। देखूँ, गुप्त साम्राज्य के भाग्य की कुंजी यह किधर घुमाती है।"
—(भटार्क का कथन)

भटार्क को महाबलाधिकृत बनाकर पहले वह उसे अपने प्रति कृतज्ञ बनाती है और फिर अत्यन्त चतुरता के साथ उसे अपने हाथ का कठपुतला बना लेती है, "तुम वीर हो भटार्क ! यह तुम्हारे उपयुक्त ही है। देवकी का प्रभाव जिस उग्रता से बढ़ रहा है, उसे देखकर मुझे पुरगुप्त के जीवन में शंका हो रही है। महाबलाधिकृत ! दुर्बल माता का हृदय उसके लिए आज से ही चिन्तित नहीं है, सम्राट् की मति एक-सी नहीं रहती, वे अव्यवस्थित और चंचल हैं। इस अवस्था में वे विलास की अधिक मात्रा से जीवन के जटिल सुखों की गुत्थियाँ सुलझाने में व्यस्त हैं।"

अनन्तदेवी के उक्त कथन में सौतिया डाह और अपने पुत्र की मंगलकामना,

दोनों स्पष्टतया व्यंजित हैं। उसकी बातें सुनकर हमें रामायण की राम-वनवास का प्रसङ्ग याद आ जाता है। अनन्तदेवी कैकेयी और मन्थरा, दोनों का काम एक साथ करती है। भटार्क जब "महादेवी की जय हो" कहता है, तब वह उत्तर में, "परिहास न करो मगध के महाबलाधिकृत ! देवकी के रहते किस साहस से तुम मुझे महादेवी कहते हो ?" कहकर एक हलका-सा चाबुक लगा देती है। भटार्क तुरन्त ही रास्ते पर आ जाता है—"हमारा हृदय कह रहा है और आये दिन साम्राज्य की जनता, प्रजा—सभी कहेगी।"

उसकी एक ही कामना है। पुरगुप्त को सिंहासन पर बैठाकर राजमाता बन जाय और स्वयं गुप्त-साम्राज्य का संचालन करे। "अहा ! यदि आज राजाधिराज कहकर युवराज पुरगुप्त का अभिनन्दन कर सकती।" बस, इसी उद्देश्य से वह कार्य में अग्रसर होती है, षड्यन्त्र करती है। व्यावहारिक बाधाएँ उसे रोक नहीं सकतीं—"अपनी नियति का पथ मैं अपने पैरों चलूँगी।" यह भली प्रकार जानते हुए भी कि इस मार्ग में उसे अनेक भयानक स्थितियों का सामना करना पड़ेगा, उसे अपने ऊपर पूरी तरह विश्वास है। विजया द्वारा समाधान किये जाने पर वह दृढ़तापूर्वक उत्तर देती है—"क्षुद्र हृदय, जो चूहे के शब्द से भी शंकित होते हैं, जो अपनी साँस से ही चौंक उठते हैं, उनके लिए उन्नति का कण्टकित मार्ग नहीं है। महत्त्वाकांक्षा का दुर्गम स्वर्ग उनके लिए स्वप्न है।"

अनन्तदेवी गिरगिट की तरह क्षण-क्षण में रंग बदलने वाली स्त्री के रूप में हमारे सामने आती है। एक क्षण तो अत्यन्त कठोर दिखाई देती है और दूसरे ही क्षण अत्यन्त नम्र और विनयशील बन जाती है। कुटिलता उसमें कूट-कूट कर भरी है। अवसर के अनुसार बातें बनाकर अपना काम निकाल लेने में वह बड़ी ही चतुर है। शर्वनाग को भयभीत करती हुई वह कहती है—'सौगन्ध है। यदि तू विश्वासघात करेगा तो कुत्तों से नुचवा दिया जायगा।" और महादेवी को डाँटती हुई कहती है—"परन्तु व्यंग की विष-ज्वाला रक्तधारा से नहीं बुझती, देवकी ! तुम मरने के लिए प्रस्तुत हो जाओ।"

यही अनन्तदेवी भटार्क और शर्वनाग के परास्त होने पर तुरन्त घुटनों के बल बैठ स्कन्दगुप्त से विनम्रतापूर्वक माता की वाणी बोलने लगती है—

"स्कन्द ! फिर भी मैं तुम्हारे पिता जी की पत्नी हूँ।" वह विजया को पुरगुप्त के साथ राज्यसिंहासन पर बैठने का प्रलोभन दिखाती है, परन्तु दूसरे ही क्षण तनिक-सा विरोध-भाव देख तुरन्त ही उग्र हो जाती है। शीतोष्ण आचरण ही अनन्तदेवी के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है—

"क्या तुम पुरगुप्त के साथ सिंहासन पर नहीं बैठना चाहती हो ?" तथा—

"मूर्ख रमणी ! तेरा भटार्क केवल मेरे कार्य साधन का अस्त्र है और कुछ नहीं। वह पुरगुप्त के ऊँचे सिंहासन की सीढ़ी है, समझी ? इतना साहस ! तुच्छ स्त्री ? तू जानती है कि किसके साथ वात कर रही है ? मैं वही हूँ - जो अश्वमेध पराक्रम कुमारगुप्त से बालों को सुगन्धित करने के लिए गन्ध चूर्ण मलवाती थी - जिसकी एक तीखी कोर से गुप्त साम्राज्य डाँवाडोल हो रहा है, उसे तुम·······एक सामान्य स्त्री ! जा-जा, ले अपने भटार्क को, मुझे ऐसे कीट-पतंगों की आवश्यकता नहीं। परन्तु स्मरण रखना, मैं हूँ अनन्तदेवी, तेरी कूटनीति के कलंकित कानन की दावाग्नि, तेरे गर्व शैलशृङ्ग का वज्र। मैं वह आग लगाऊँगी, जो प्रलय के समुद्र से भी न बुझे।"

अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति में वह मर्यादा के उल्लंघन को अवैध नहीं मानती। भटार्क के साथ मद्यपान कर लेती है।

यही अनन्तदेवी अन्त में जब बन्दी वेश में स्कन्दगुप्त के सम्मुख लाई जाती है, तब अत्यन्त सरल मुद्रा बना, दीन भाव से कहती है, "क्यों लज्जित करते हो स्कन्द ! तुम भी पुत्र हो····मुझे क्षमा करो सम्राट् !"

अनन्तदेवी का चरित्र आदर्श से बहुत नीचा है। वह स्वार्थ में अन्धी होकर पति की हत्या करती, सौतेले पुत्र के विरुद्ध षड्यन्त्र रचती, सपत्नी के वध की चेष्टा करती, सेनापति परपुरुष के साथ मद्यपान करके कामुकतापूर्ण चेष्टाएँ करती और साम्राज्य के विरुद्ध विदेशियों को सहायता प्रदान करती है। 'जानि न जाइ नारि गति भाई' की वह सजीव प्रतिमा है। भटार्क ने उसके लिए ठीक ही कहा था कि वह—"एक दुर्भेद्य नारीहृदय में विश्व-प्रहेलिका का रहस्य-बीज है।"

यथार्थ ही उसने अपने कुत्सित कर्मों की राख से कुमारगुप्त के अग्नि-तेज को ढक रखा था।

प्रश्न १३—श्रेष्ठि कन्या विजया की चारित्रिक दुर्बलताओं का उद्घाटन कीजिए।

उत्तर—विजया मालव के धनकुबेर की कन्या है। वह सौन्दर्य और धन से प्रेम करती है। उसके जीवन का यह प्रेय और श्रेय एक वर्गगत विशेषता के रूप में हमारे सामने आता है। राजनीतिक विप्लव के समय भी उसे अपने धन का ध्यान है। उसकी सम्पत्ति की ओर यदि किसी की निगाह उठती है तो अत्यन्त व्यवहारकुशलता के साथ वह उसकी रक्षा का मार्ग ढूँढ़ निकालती है। जयमाला के इस प्रस्ताव पर कि 'तुम्हारी अपार धन-राशि में से एक क्षुद्र अंश यदि इन धनलोलुप शृगालों को दे दिया जाता तब तो"—विजया तुरन्त बात बनाती है—"किन्तु इस प्रकार अर्थ देकर विजय खरीदना तो देश की वीरता के प्रतिकूल है।"

विजया सच्चे अर्थों में वणिक-कन्या है। वह क्षत्रिय तेज की तथा युद्धक्षेत्र की महत्ता को समझने में सर्वथा असमर्थ है। जयमाला ने उससे ठीक ही कहा था, 'स्वर्णरत्न की चमक देखने वाली आँखें बिजली-सी तलवारों के तेज को कब सह सकती हैं। श्रेष्ठि कन्ये ! हम क्षत्राणी हैं……।"

युद्ध की चर्चा सुनकर वह कहती है, "भयानक युद्ध समीप ही जान पड़ता है, क्यों राजकुमारी !" विजया के इस कथन में उसकी घबराहट स्पष्ट अंकित है। युद्ध सिर पर और देवसेना गाने का प्रस्ताव करती है। विजया सोचती है कि ये स्त्रियाँ भी विचित्र हैं। इस समय बजाय सुरक्षा की बातें करने के अथवा डरकर नहीं छिप जाने के, इन्हें गीत गाने की सूझ रही है—"रानी तुम लोग स्त्री हो, या आग की चिनगारियाँ। ज्वालामुखी की सुन्दर लपट के समान तुम लोग….।"

जयमाला के यह कहते ही, "दुर्ग-रक्षा का भार मैं लेती हूँ"—विजया त्रस्त हो उठती है, "महाराज ! यह केवल वाचालता है। दुर्ग-रक्षा का भार किसी सुयोग्य सेनापति पर होना चाहिए।"

उसे तो आत्मरक्षा के लिए भी हाथ में छुरी लेते हुए डर लगता है—"न, न, मैं लेकर क्या करूँगी ! भयानक !"

वाहर कोलाहल और भयानक शब्द सुनते ही डर जाती है और कहने लगती है, "महारानी ! किसी सुरक्षित स्थान में निकल चलिए।"

विजया की दुर्बलता का कारण उसके मन की चंचलता है। इसी चंचलता के कारण वह पतित भी हुई और अन्त में कहीं की न रही। प्रथम दर्शन में ही उसने स्कन्द को हृदय दिया—"आहा ! कैसी भयानक और सुन्दर मूर्ति है।"

स्कन्द के प्रति अपने इस प्रेम को वह देवसेना के सम्मुख व्यक्त भी कर देती है—"मुझे तो आज तक किसी को देखकर हारना नहीं पड़ा। हाँ, युवराज के सामने मन ढीला हुआ परन्तु मैं उसे कुछ राजकीय प्रभाव भी कहकर टाल सकती हूँ।"

विजया के इस कथन में उसकी वैभव के प्रति दुर्बलता स्पष्टतः व्यक्त हो रही है। इसी चंचलता के कारण उसने स्कन्दगुप्त से अपना मन फेरना चाहा था। स्कन्दगुप्त को स्वीकार करने में उसे एक बाधा दिखाई दी—"कदाचित् स्कन्द राजसिंहासन पर न बैठ पावें अथवा न बैठें, तो ? युवराज तो उदासीन हैं। दुर्बलता इन्हें राज्य से हटा रही है।"

स्कन्दगुप्त को राज्य एवं वैभव की ओर से विरक्त देखकर, वह स्वयं उसकी ओर से विरक्त हो उठती है। देवसेना ने इस सम्बन्ध में छींटा भी मारा था—"कहीं तुम्हारा सोचा हुआ युवराज के महत्त्व का पर्दा तो नहीं हट रहा है ? क्यों विजया ! वैभव का अभाव तुम्हें खटकने तो नहीं लगा ?"

विजया का लक्ष्य वैभव एवं शारीरिक सौन्दर्य है। अथवा यों कहिए कि वह मन से नहीं, धन से प्रणय करती है। उसका प्रेम कामुकता एवं विलासिता से भरा हुआ है। पास ही खड़े हुए चक्रपालित को देखकर वह कहने लगती है—"परन्तु राजकुमारी ! इस उदार दृष्टि से तो चक्रपालित क्या पुरुष नहीं है ? है अवश्य, वीर हृदय है, प्रशस्त वक्ष है, उदार मुख मण्डल है।"

विजया को शारीरिक सौन्दर्य और धन-वैभव—दोनों ही एक साथ चाहिए। एक का भी अभाव उसे खटकता है। भटार्क में उसे उक्त दोनों पक्षों का संयोग दिखाई देता है और वह उसकी ओर आकर्षित हो उठती है। विजया के प्रणय के मापदण्ड को देवसेना ने भली प्रकार बता दिया है, "उसे तुम अपने

वैभव से क्रय कर सकती हो, क्यों ? भाई तुमको लेना है, तुम स्वयं समझ लो।"

इस संसार की गरीबी और छीना-झपटी उसे सर्वथा अरुचिकर है। उसे मालूम हो नहीं है कि आखिर संसार की इन परेशानियों का मतलब क्या है ?

गाने को विजया रोग बताती है।

आगे चलकर उसे भटार्क मिलता है। भटार्क में उसे दोनों ही बातें मिलती हैं। भटार्क वीर भी है और वैभवशाली भी—"अहा ! कैसी वीरत्वव्यंजक मनोहर मूर्ति है और गुप्त साम्राज्य का महाबलाधिकृत।"

इन्हीं दो बातों को देखकर, बिना समझे-बूझे वह स्कन्दगुप्त की ओर से मन फेर कर 'अच्छा तो भटार्क ही सही' का निर्णय कर लेती है। अपनी प्रति-हिंसा और स्त्री-सुलभ सन्देह की भावनाओं के कारण प्रणय को भी वह एक आवेश की वस्तु समझ बैठती है—"ओह, इस आनन्द महोत्सव में मुझे कौन पूछता है, मैं मालव में अब किस काम की हूँ। जिसके भाई ने समस्त राज्य अर्पण कर दिया है—कहाँ वह देवसेना और कहाँ मैं ! अब तो मेरा यही····" कहकर भटार्क की ओर देखती है।

स्वार्थ और काम-वासना का पर्दा उसकी आँखों के सामने पड़ा हुआ है। वास्तविकता को समझने की उसमें शक्ति ही नहीं है। इस को लक्ष्य करके देवसेना ने ठीक ही कहा था—"प्रतिहिंसा मनुष्य को इतना नीचे गिरा सकती है। परन्तु विजया तूने शीघ्रता की।"

भटार्क के साथ बन्दिनी बनकर वह न्यायाधिकरण में सबके सामने निस्संकोच रूप से स्वीकार करती है कि "मैंने भटार्क का वरण किया है।"

देवसेना के प्रति उसके हृदय में ईर्ष्या है। भटार्क को वरण करके ही वह सन्तुष्ट नहीं हो जाती। अपने विरोध भाव को और भी उग्र रूप में प्रकट करती है—"राजकुमारी ! आज से मेरी ओर देखना मत। मुझे कृत्या अभिशाप की ज्वाला समझना।"

× × ×

"राजकुमारी ! मुझे न छेड़ना। मैं तुम्हारी शत्रु हूँ।"

इसी सिलसिले में वह अपना हृदय अच्छी तरह खोल देती है—"हमारा

जीवन कितना भयानक होता है—यह नहीं जानती हो ? उस दिन जिस तीखी छुरी को रखने के लिए मेरी हँसी उड़ाई जा रही थी, मैं समझती हूँ कि उसे रख लेना मेरे लिए आवश्यक था।"

देवसेना स्कन्दगुप्त से प्रेम करती है। विजया को यह सहन नहीं। बिना सोचे-विचारे वह यह तीखा व्यंग कर देती है, "उपकारों की ओट से मेरे स्वर्ग को छिपा दिया, मेरी कामनालता को समूल उखाड़कर कुचल दिया।"

विशेष—देवसेना के भाई बन्धुवर्मा ने मालव का राज्य स्कन्दगुप्त को दिया था। विजया का कटाक्ष उसी ओर है। सबको वह अपनी ही भाँति धन के पलड़े में तोलती है।

विजया देवसेना को श्मशान पर ले जाती है और बलि-स्थान पर उसे छोड़कर चली जाती है। उसने तो प्रपंच बुद्धि से खुला प्रस्ताव किया है—"आर्य ! मेरा भी एक स्वार्थ है।····राजकुमारी देवसेना का अन्त····।"

"उसे श्मशान तक ले आना तो मेरा काम है।"

भटार्क के पास पहुँचकर भी विजया को शान्ति नहीं मिलती। पुरगुप्त को राजाधिराज देखने की कामना लिए वह उसे कुछ दिनों तक पात्र भर-भर कर पिलाती और उसका मन बहलाती है।

परन्तु भटार्क को प्राप्त न करने के कारण यह स्थिति भी उसके लिए असह्य बन जाती है।

अनन्तदेवी भटार्क को अपने चंगुल से नहीं निकलने देती और अब विजया को पुरगुप्त की ओर लगाए रहती है। बस, सन्देह उत्पन्न होते ही विजया का अनन्तदेवी के साथ विरोध प्रारम्भ हो जाता है। परन्तु यहाँ भी वह सफल नहीं हो पाती। अनन्तदेवी भटार्क को अपने कार्य-साधन का अस्त्र बताती है और प्रस्ताव करती है कि विजया पुरगुप्त की होकर राज्यसिंहासन पर बैठे। विजया इसका बड़ा कठोर उत्तर देती है और अपने विषाक्त हृदय की निराशा को व्यक्त करने लग जाती है। उसे पता चलता है कि वह कहाँ है और उसने किन बेकार के चक्करों में समय नष्ट कर दिया—"समझी, और तुम भी जान लो कि तुम्हारा नाश समीप है·········।"

"हाँ, वह कुमारगुप्त का पुत्र है परन्तु वह तुम्हारे गर्भ से उत्पन्न हुआ है। तुमसे उत्पन्न हुई सन्तान—छिः........।"

"कहती हूँ, और फिर कहूँगी। प्रलोभन से, धमकी से, भय से कोई भी मुझको भटार्क से वंचित नहीं कर सकती। प्रणय-वंचिता स्त्रियाँ अपनी राह के रोड़े विघ्नों को दूर करने के लिए वज्र से भी दृढ़ होती हैं।"

"कहे देती हूँ, हट जाओ, नहीं तो तुम्हारी समस्त कुमन्त्रणाओं को एक फूँक में उड़ा दूँगी।"

विजया को भटार्क और स्कन्दगुप्त में से एक भी न मिल सका। पुरगुप्त और उसके राज्यसिंहासन की उसे इच्छा नहीं। इसलिए अपने किये पर उसे पश्चात्ताप होता है। परन्तु अब वह करे भी तो क्या करे? "मैं कहीं की न रही। इधर भयानक पिशाचों की लीलाभूमि, उधर गम्भीर समुद्र। दुर्बल रमणी हृदय! थोड़ी आँच में गरम, और शीतल हाथ फेरते ही ठण्डा।...क्षमा और उदारता वही सच्ची है, जहाँ स्वार्थ की बलि हो। अपना अतुल धन और हृदय दूसरों के हाथ में देकर चलूँ....कहाँ? किधर....।"

इन्हीं सब विचारों में वह पागल-सी हो उठती है। चिन्ता तरंगों के झूले में बैठकर वह कहती है—"स्नेहमयी देवसेना का शंका से तिरस्कार किया, मिलते हुए स्वर्ग को घमण्ड से तुच्छ समझा; देवतुल्य स्कन्दगुप्त से विरोध किया, किसके लिए? केवल अपना रूप-धन, यौवन दूसरे को दान करके उन्हें नीचा दिखाने के लिए, स्वार्थपूर्ण मनुष्यों की प्रतारणा में पड़कर खो दिया—इस लोक का सुख, उस लोक की शान्ति। ओह!...शान्ति कहाँ?...उन पर झूठा अभियोग लगाकर नीच हृदय को नित्य उत्तेजित करती रही। अब उसका फल मिला।"

विजया के उक्त कथन में उसका सम्पूर्ण जीवन, चरित्र, मानसिक संस्थान का रूप, मनोदशा, आत्मग्लानि आदि अनेक बातें एक साथ व्यंजित हो उठी हैं।

इस कथन को सुनकर विलासिनी और अभागी विजया का जीता-जागता स्वरूप हमारे सामने आ जाता है।

इस अन्तर्द्रोह अथवा आत्म-प्रतारणा के कारण उसके हृदय में क्रांति होती है। वह अपने आपको निस्सहाय समझती है। शर्वनाग की प्रेरणा से उसका

हृदय एकदम बदल जाता है—"तुमने सच कहा। सबको कल्याण के शुभागमन के लिए कटिबद्ध होना चाहिए।"

मुद्गल विजया को पहचान नहीं पाता। इस पर वह हीनत्व भावना के साथ कहती है—"सच है, समय बदलने पर लोगों की आँखें भी बदल जाती हैं।"

उसके हृदय में क्रान्ति होती अवश्य है, परन्तु उसकी मनोवृत्ति सर्वथा नहीं बदलती है। उसकी वणिक् वृत्ति, क्रय-विक्रय की भावना अभी निर्मूल नहीं हुई है। वह सोचती है—"देवसेना ने राज्य देकर स्कन्दगुप्त को प्राप्त कर लिया है। मैं भी क्यों न वैसा ही करूँ। आजकल स्कन्दगुप्त को धन की आवश्यकता है। चलूँ उसे अपना धन दूँ, और उसे प्राप्त करूँ—साथ ही देश-सेवा का यश भी। एक पंथ दो काज हैं—देवसेना ने एक बार मूल्य देकर खरीदा था। विजया भी एक बार वही करेगी। देश-सेवा तो होगी ही, यदि मैं अपनी कामना भी पूरी कर सकती। मेरा रत्नगृह अभी बचा है, उसे सेना-संकलन करने के लिए सम्राट् को दूँगी और एक बार बनूँगी महादेवी। क्या नहीं होगा? अवश्य होगा! अदृष्ट ने इसीलिए उस रक्षित रत्नगृह को बचाया है। उससे एक सामाज्य ले सकती हूँ। तो आज वही करूँगी, इसमें दोनों होगा—स्वार्थ और परमार्थ।"

सुरक्षित रत्नगृह उसे नवीन प्रेरणा प्रदान करता है और उसके हृदय में नवीन आशा-किरण का संचार कर देता है। इसी भावना से प्रेरित होकर वह फिर प्रणय का क्रय-विक्रय करने चल देती है। स्कन्दगुप्त के पास जाकर वह एक बार फिर कहती है—"तुम्हारे लिए मेरे अन्तस्तल की आशा जीवित है।"

"........मेरे पास अभी दो रत्नगृह छिपे हैं, जिसमें सेना एकत्र करके तुम सहज ही उन हूणों को परास्त कर सकते हो।........"

"मैंने देशवासियों को सन्नद्ध करने का सङ्कल्प किया है और भटार्क का संसर्ग छोड़ दिया है। तुम्हारी सेवा के उपयुक्त बनने का उद्योग कर रही हूँ। मैं मालव और सौराष्ट्र को तुम्हारे लिए स्वतन्त्र करा दूँगी... केवल तुम मुझे स्वीकार कर लो।"

"...आओ हमारे साथ बचे हुए जीवन का आनन्द लो।"

"...रहने दो यह थोथा ज्ञान। प्रियतम ! यह भरा हुआ यौवन और हृदय विलास के उपकरणों के साथ प्रस्तुत है। उन्मुक्त आकाश के नील नीरद मण्डल में दो बिजलियों के समान क्रीड़ा करते-करते हम लोग तिरोहित हो जायँ ! धन्य हो जायँ।"—इत्यादि।

विजया की इन बातों का स्कन्दगुप्त पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह विजया को अत्यन्त कठोरतापूर्वक दूर हटा देता है। यह कहकर कि—"विजया ! पिशाची ! हट जा, नहीं जानती, मैंने आजीवन कौमार व्रत की प्रतिज्ञा की है।"

इसी समय सहसा वहाँ भटार्क भी आ जाता है। विजया की यह लीला देखकर उसे क्षोभ होता है और वह अत्यन्त कठोर शब्दों में उसकी भर्त्सना करता है—"हाँ ! तेरा भटार्क ! दुश्चरित्र, सुना था कि तुझे देश-सेवा करके पवित्र होने का अवसर मिला है, परन्तु हिंस्र पशु कभी एकादशी का व्रत करेगा—कभी पिशाची शान्ति पाठ पढ़ेगी ?"

इस अपमानजनक भर्त्सना द्वारा विजया व्यस्थित हो जाती है। "घोर अपमान, तो बस........"कहकर वह छुरी निकाल कर आत्म-हत्या कर लेती है। विजया को अपनी दुर्बलताओं—दम्भ, लालसा, चंचलता, अविवेक, ईर्ष्या, सन्देह, अभिमान आदि के कारण जीवन में केवल हार ही मिलती है।

विजया का जीवन—अतृप्त विलास वासनामय जीवन है। ऐसा जीवन सर्वथा दुःखमय, उद्देश्यविहीन तथा असमय में ही काल-कवलित हो जाने वाला हो तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है।

प्रश्न १४—जयमाला का चरित्र-चित्रण कीजिए।

उत्तर—मालव-नरेश बन्धुवर्मा की पटरानी जयमाला एक सच्ची क्षत्राणी है। वह अपने पति के समान शूर और साहसी है। उसके व्यक्तित्व में ज्वाला और पवित्रता भरी है। उसके गौरव, स्वावलम्बन, उत्साह आदि के भाव उसके एक ही कथन द्वारा स्पष्ट व्यक्त होते हैं—"हम महाक्षत्राणी हैं, चिरसंगिनी खड्गलता को हम लोगों से चिरस्नेह है।"

विजया की धन लोलुपता देखकर वह तुरन्त कहती है—"तुमको केवल अपने धन की रक्षा का इतना ध्यान है।"

मालव का दुर्ग आक्रमणकारियों द्वारा घेर लिया गया है। स्कन्दगुप्त की सहायता आने में विलम्ब हो रहा है। सब लोग इस संकटापन्न परिस्थिति के कारण चिन्तित और व्याकुल हैं। जयमाला के पतिदेव बन्धुवर्मा घबरा कर कहते हैं—"प्रिये ! अभी तक युवराज का कोई सन्देश नहीं मिला। सम्भवतः शक और हूणों की सम्मिलित वाहिनी से आज दुर्ग को रक्षा न कर सकूँगा।"

पति के इन शब्दों को सुनकर जयमाला न अधीर होती है और न व्याकुल। वह अत्यन्त दृढ़ता के साथ उत्तर देती है—"नाथ ! तब क्या मुझे स्कन्दगुप्त का अभिनय करना होगा ? क्या मालववेश को दूसरे की सहायता पर ही राज्य करने का साहस हुआ था ? जाओ प्रभु ! सेना लेकर सिंहविक्रम से शत्रु सेना पर टूट पड़ो। दुर्ग-रक्षा का भार मैं लेती हूँ।"

जयमाला उन स्त्रियों में है जो रण से भागे हुए पति को देखकर अपने आपको विधवा समझती हैं तथा युद्ध-स्थल से डरकर आते हुए पुत्र को देखकर चिल्लाने लगती हैं कि उनके दूध की लाज गई।

जयमाला के लिए युद्ध एक गान है, जीवन का एक आवश्यक अङ्ग एवं जीवन को समझने का एक सुगम साधन। उसकी बातें सुनकर विजया को कहते ही बना था कि—"रानि ! तुम लोग आग की चिनगारियाँ हो या स्त्री हो ?" देखिए और सुनिए जयमाला के इस युद्धरूपी गान को—"युद्ध क्या गान नहीं है ? रुद्र का शृंगीनाद, भैरवी का तांडव नृत्य और शस्त्रों का वाद्य मिलकर भैरव संगीत की सृष्टि होती है। जोवन के अन्तिम दृश्य को जानते हुए अपनी आँखों से देखना जीवन के रहस्य के चरम सौन्दर्य की नग्न और भयानक वास्तविकता का अनुभव केवल सच्चे वीर हृदय को होता है। उसे सुनने के लिए हृदय में साहस और बल एकत्र करो। अत्याचार के श्मशान में ही मंगल का, शिव का, सत्य-संगीत का समारम्भ होता है।"

शत्रुओं को पास आते देखकर वह छुरी निकालकर कहती है—"रक्षा करने वाली तो पास है, डर क्यों देवसेना !"

दुर्ग का द्वार तोड़कर विजयी शत्रु सेनापति अन्दर आता है। जयमाला डरती नहीं, बल्कि तलवार लेकर उसके साथ युद्ध करती है।

रक्त से लथपथ भीमवर्मा से वह उत्साहवर्धक ओजस्वी स्वर में कहती है—''हम लोगों की चिन्ता न करो, वीर ! स्त्रियों की, ब्राह्मणों की, पीड़ितों और अनाथों की रक्षा में प्राण विसर्जन करना, क्षत्रिय का धर्म है। एक प्रलय की ज्वाला अपनी तलवार से फैला दो। भैरव शृंगीनाद के समान प्रबल हुङ्कार से शत्रु-हृदय कँपा दो। वीर ! बढ़ो, गिरो तो मध्याह्न के भीषण सूर्य के समान। आगे, पीछे, सर्वत्र आलोक और उज्ज्वलता रहे।''

क्षत्राणी होने के नाते जयमाला वीरांगना है। स्त्री होने के नाते स्त्रियोचित कुछ दुर्बलताएँ वह अपने हृदय में छिपाये बैठी है। उसे अपने आप से प्रेम है। समष्टि में भी व्यष्टि रहती है। व्यक्तियों से ही जाति बनती है। विश्वप्रेम सर्वभूतहित-कामना परम धर्म है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि अपने पर प्रेम न हो। इस अपने ने क्या अन्याय किया है जो इसका बहिष्कार किया जाय।

बन्धुवर्मा मालव के राज्य को स्कन्दगुप्त को अर्पित करने का प्रस्ताव करता है। जयमाला इसका विरोध करती है—''परन्तु इसकी आवश्यकता ही क्या है ? उनका इतना बड़ा साम्राज्य है, तब भी क्या मालव ही के बिना काम न चलेगा ?''

''परन्तु हमारा मालव उन्हें प्रिय है।''

''आर्यपुत्र ! अपना पैतृक राज्य इस प्रकार दूसरों के पदतल में निस्संकोच अर्पित करते हुए हृदय काँपता नहीं ? क्यों, फिर उन्हीं की सेवा करते हुए दास के समान जीवन व्यतीत करना होगा ?''

परन्तु वह हठधर्मा अथवा जिद्दी नहीं है—''जब सभी लोगों की ऐसी इच्छा है, तब मुझे क्या।''

जयमाला के उक्त कथन में कुछ-कुछ उदासीनता का भाव है। परन्तु वह शीघ्र ही अपनी इस दुर्बलता पर विजय प्राप्त कर लेती है—''मालवेश्वर की जय हो ! प्रजा ने अपराध किया है, दण्ड दीजिए। पतिदेव आपकी दासी क्षमा माँगती है। मेरी आँखें खुल गईं। आज हमने जो राज्य पाया है, वह विश्व-

साम्राज्य से भी ऊँचा है । महान् ! मेरे स्वामी और ऐसे महान् ! धन्य हूँ मैं....।"

मानवता को स्वीकृति देना अपने को मानवता की ओर अग्रसर करना है। लघुत्व का महत्त्व में लय महत्त्व का निर्माण है, लघुत्व को महत्त्व के आसन पर बैठाना है ।

स्कन्दगुप्त से स्वयं जयमाला ही कहती है—"देव ! यह सिंहासन आपका है । मालवेश का इस पर कोई अधिकार नहीं । आर्यावर्त्त के सम्राट् के अतिरिक्त अब दूसरा कोई मालव के सिंहासन पर नहीं बैठ सकता ।" इसे राष्ट्रीयता की भावना कहें अथवा व्यष्टि का समष्टि में लय !

अपने पति के साथ सती हो वह भारत की क्षत्रिय-नारी की पूरी झाँकी दे, अपने अमिट उज्ज्वल चरित्र की अलौकिक आभा विकीर्ण कर जाती है ।

जयमाला यथार्थ लोक की मानवी है । नाटक के थोड़े से ही स्थलों पर प्रकट होकर वह हमारे हृत्पटल पर अपना स्थायी प्रभाव डालने में समर्थ होती है । बस, यही उसके चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है । भावना से कर्त्तव्य बड़ा है, इसकी वह साक्षात् मूर्ति है ।

प्रश्न १५—स्कन्दगुप्त नाटक के गौण पात्रों का परिचय दीजिए ।

उत्तर—स्कन्दगुप्त नाटक में कोई ऐसा पात्र नहीं है जिसका कथा-विकास में सहयोग न हो । परन्तु फिर भी नायक एवं नायिका की अपेक्षा कुछ पात्रों को गौण मानना ही पड़ता है ।

इनमें कमला, रामा, कुमारगुप्त, प्रपंचबुद्धि, देवकी तथा मुद्गल उल्लेखनीय हैं । इन सबका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है । विशेषकर इनके कहे हुए वाक्यों को उद्धृत करके इनके चरित्र-चित्रण का भार विज्ञ-पाठकों के ऊपर ही छोड़ा जाता है ।

कमला

कमला भटार्क की माँ और वीर-प्रसविनी माता है । उसका वात्सल्य-प्रेम कर्त्तव्य-बुद्धि पर स्थित है और देश-प्रेम एवं कर्त्तव्य-भावना के सम्मुख गौण ही बना रहता है । कमला को भटार्क के राजद्रोही एवं देश-द्रोही होने का बड़ा दुःख है । वह चाहती है कि उसका लाल देश-सेवक बने और यवनों से पदाक्रांत

भारतभूमि का उद्धार करे। परन्तु पुत्र सर्वथा विपरीत आचरण ही करता है। इससे उसके हृदय पर मर्मान्तक आघात पहुँचता है। किन्तु साधारण स्त्री की भाँति वह चुप नहीं हो जाती। वह भटार्क को सन्मार्ग पर लाने का भरसक प्रयास करती है। पुत्र की कदर्थना और भर्त्सना करती है। उसकी विवेकपूर्ण भर्त्सना भटार्क को सन्मार्ग पर लाने का सफल कार्य करती है। भटार्क की आँख खोलना कमला का ही काम है। वह तो निश्चय ही उन माताओं में है जो कायर पुत्र की माँ बनने के बजाय बन्ध्या रहना अधिक पसन्द करती हैं—"इस यन्त्रणा और प्रतारणा से भरे हुए संसार की पिशाच भूमि को छोड़कर अक्षय लोक को गई, और तू जीता रहा सुखी घरों में आग लगाने, हाहाकार मचाने और देश को अनाथ बनाकर उसकी दुर्दशा करने के लिए नरक के कीड़े, तू जीता रहा है।"

ऐसे पुत्र को पैदा होते ही उसने क्यों न मार डाला ? "...पामर ! तू सम्राटों का नियामक बन गया ! मैंने भूल की, सूतिका-गृह में ही तेरा गला घोंटकर क्यों न मार डाला। आत्महत्या के अतिरिक्त अब और कोई प्रायश्चित्त नहीं।"

और यह भावना क्यों न हो। कमला चाहती थी कि उसका पुत्र जननी-जन्मभूमि का लाड़ला लाल बने। "भटार्क ! तेरी माँ को एक ही आशा थी कि उसका पुत्र देश का सेवक होगा, म्लेच्छों से पददलित भारत भूमि का उद्धार करके कलंक धो डालेगा, मेरा सिर ऊँचा होगा ! परन्तु हाय !"

कमला का उद्देश्य महान्, चरित्र पवित्र है, कर्त्तव्य में दृढ़ता है, कार्य में लग्न तथा वाणी में ओज है। इन सबके पीछे झाँकता है एक माता का वात्सल्य से भरा हुआ हृदय जो सदैव ही कर्त्तव्य बुद्धि द्वारा नियन्त्रित रहता है। कमला भारतवर्ष की एक आदर्श क्षत्रिय माता है। उसके व्यक्तित्व में मातृत्व और वीरत्व का सुखद सम्मिश्रण है।

कमला के बारे में कहे गये गोविन्दगुप्त के ये शब्द स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य हैं—

"यह तो मैंने अपने कानों से सुना। धन्य हो देवी, तुम जैसी जननियाँ जब तक उत्पन्न होंगी, तब तक आर्यराष्ट्र का विनाश असम्भव है।"

रामा

शर्वनाग की पत्नी है। उसका आधिकारिक कथावस्तु से कोई सम्बन्ध नहीं है। उसके चरित्र में भारतीय नारी के जीवन की प्रेरक शक्ति ओत-प्रोत है। वह अपने पति को सन्मार्ग पर लाने की उत्कट अभिलाषा रखती है तथा तदनुरूप प्रयास करती है। उसका पति के ऊपर अधिकारपूर्ण प्रभाव है। अपने पति के आचरणों की वह कटु आलोचना करती है। शर्वनाग उसके प्रभाव को स्पष्टतया स्वीकार करता है।

रामा अपने पति को किस कठोरता के साथ डाँटती है—"मूर्ख ! महादेवी सम्राट् को देखना चाहती हैं, परन्तु उनके आने में बाधा है। गोबर-गणेश, तू कुछ कर सकता है ?"

देवकी

कुमारगुप्त की बड़ी रानी अर्थात् राजमाता है। वह राजमाता कहलाती है। स्कन्दगुप्त उसका पुत्र है वह सब तरह राजमाता एवं स्कन्दगुप्त जैसे धीर, वीर और प्रशस्त पुत्र की माता बनने योग्य है। उसकी वाणी में धैर्य और संयम है, हृदय में साहस है, मुख पर तेज है तथा आत्मा में सात्त्विक बल है।

देवकी के पति कुमारगुप्त वृद्ध हैं, साथ ही विषय-विह्वल। इस कारण उसकी प्रत्येक बात ध्यान से नहीं सुनी जाती। परन्तु फिर भी वह उपेक्षिता नहीं है।

देवकी उदार, धर्मपरायण, सत्यनिष्ठ और कोमल हृदय वाली स्त्री है। आततायी उसे सता नहीं सकते, विपत्ति पड़ने पर वह भगवान् को याद करती है तथा जघन्य अपराध करने वालों को भी क्षमा कर देती है।

देवकी की यह देवोपम उदारता देशी-विदेशी, छोटे-बड़े, बूढ़े-जवान, स्त्री-पुरुष—सबको प्रभावित करने वाली है। देवकी की सात्त्विक वृत्ति से प्रभावित होकर सिंहल राजकुमार धातुसेन गद्गद् हो जाता है। भारत की सती शिरोमणि की वह मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा करता है—"आर्य नारी सती ! तुम धन्य हो ! इसी गौरव से तुम्हारे देश का सिर ऊँचा रहेगा।"

और ठीक भी है—

'नीच बन जाता है इन्सान सजाएँ देकर ।
जीतना ठीक है दुश्मन को दुआएँ देकर ।।'

देवकी आजन्म दुखिया रही । पति की विलासप्रियता और सपत्नी की कूटनीति के कारण वह पति सुख से वंचित रही और बाद में पुत्र के वियोग में उसे प्राण त्यागने पड़े । पुत्र-वियोग में उसका प्राणांत उसके असीम वात्सल्य-युक्त कोमल हृदय का परिचायक है ।

पुरगुप्त

पुरगुप्त मगध का छोटा राजकुमार है । वह स्कन्दगुप्त का सौतेला भाई तथा अनन्तदेवी का पुत्र है । वह असल में अनन्तदेवी के हाथ का कठपुतला भर है । पुरगुप्त आरम्भ से ही एक सजग राजकुमार है । शर्वनाग को वह यह कहकर डाँटता है—"तुम साम्राज्य की शिष्टता सीखो ।........"

"जाओ, तुम महादेवी के द्वार पर । जैसा महाबलाधिकृत ने कहा है, वैसा करना ।"

महाराज कुमारगुप्त के निधन हो जाने पर उसमें अधिकार-भावना आ जाती है । उसे अपने पद की मर्यादा का स्मरण हो जाता है । देखिए, वह कैसे अधिकार भरे शब्दों में बोलता है—"चुप रहो ! तुम लोगों को बैठकर व्यवस्था नहीं देनी होगी । उत्तराधिकार का निर्णय स्वयं स्वर्गीय सम्राट् कर गए हैं ।"

पुरगुप्त सिवाय गर्व करने के और कर भी क्या सकता है । अन्त तक वह अनन्तदेवी के चंगुल में जकड़ा रहता है । वास्तव में उसका चरित्र एक क्षण को भी स्वतन्त्र रूप में नहीं उभरने पाता । समस्त विद्रोहियों के साथ उसे भी स्कन्दगुप्त के सम्मुख नतमस्तक होना पड़ता है—"देव ! अपराध हुआ ।" कह कर वह उसके पैर पकड़ लेता है ।

चक्रपालित

सीधा-सच्चा युवक सैनिक है—स्पष्टवादी तथा निर्भीक । उसका चरित्र स्कन्दगुप्त के इन शब्दों में निहित है—"हृदय की बातों को राजनीतिक भाषा में व्यक्त करना चक्र नहीं जानता ।"

प्रख्यातकीर्ति

लंक राजकुल का श्रमण है। उसकी महानता लंका के राजकुमार धातुसेन के इन शब्दों में समाई है—"महाबोध विहार के संघमहास्थविर ने निर्वाण लाभ किया है, उस पद के उपयुक्त भारत भर में केवल प्रख्यातकीर्ति हैं। तुमसे संघ की मलिनता बहुत-कुछ धुल जायगी।"

उक्त बात का उदार उत्तर देकर प्रख्यातकीर्ति अपने नाम को सार्थक कर अपनी उज्ज्वल कीर्ति को प्रख्यात कर देता है। उसका यह कथन कि "राजमित्र, मुझे क्षमा कीजिए 'मैं धर्म-लाभ करने के लिए भिक्षु हुआ हूँ, महास्थविर बनने के लिए नहीं" प्रख्यात कीर्ति को सचमुच बहुत ऊँचा उठा देता है।

खिंगल

हूणों का सेनापति है। उसका कथन स्पष्ट व्यक्त करता है कि हूण लोग कैसे निर्दय आततायी थे तथा उन्होंने भारतवासियों पर कैसे-कैसे अत्याचार किये थे—"इनके बालकों को तेल से भींगा हुआ कपड़ा डालकर जला दो और स्त्रियों को गरम लोहों से दागो!"

मुद्गल

मुद्गल एक कल्पित पात्र है। उसका विदूषक के रूप में उपयोग किया गया है। परम्परा के अनुसार वह एक पेटू ब्राह्मण है। यत्र-तत्र राजकीय समाचारों के आदान-प्रदान में उसका मुख्य उपयोग है। उसके चरित्र में किसी प्रकार के आदर्श को ढूँढ़ना बाल-प्रयास ही होगा। गम्भीर से गम्भीर वातावरण में मुद्गल हास्य की फुहार छोड़ता रहता है और सबका मन थोड़ी देर के लिए हरा हो जाता है।

प्रश्न १६—स्कंदगुप्त नाटक में ऐतिहासिक घटनाओं के साथ-साथ एक ऐसा भी मनुष्य है जो विषमता में समता लाने का उद्योग करता है।

उत्तर—धातुसेन (सिंहल का राजकुमार) हमारे सामने एक विनोदशील व्यक्ति के रूप में आता है।[1] परन्तु उसकी प्रत्येक बात में गम्भीरता छिपी रहती है और वह हितकर पक्ष की ओर संकेत करने का कोई भी अवसर हाथ

---

१. वह पर्यटक के रूप में भारत आया था।—(प्रथम अंक, तृतीय दृश्य)

से नहीं जाने देता है। कुमारगुप्त बालि और सुग्रीव का प्रसंग छेड़ता है। धातुसेन तुरन्त संकेत कर देता है कि नारी के मन्त्रित्व के कारण ही उसका वध हुआ। कुमारगुप्त भी अपनी पत्नी अनन्तदेवी के इशारों पर नाचता है। इसी कारण वह व्यंग्य करके यह कह देना चाहता है कि वह सही रास्ते आजाए—"सुना है सम्राट ! स्त्री की मन्त्रणा बड़ी अनुकूल और उपयोगी होती है, इसीलिए उन्हें राज्य के झंझटों से शीघ्र छुट्टी मिल गई। ......एक स्त्री को मन्त्री आप भी बना लें। बड़े-बड़े दाढ़ी-मूछों वाले मन्त्रियों के बदले उसकी एकान्त मंत्रणा कल्याणकारिणी होगी।" —(प्रथम अंक, दृश्य २)

कुमारगुप्त यदि उसके इस संकेत को ग्रहण कर पाता, तो मगध राज्य के समस्त कलह का अंत हो जाता। इसी प्रकार वह 'विषकन्या' का उल्लेख करके कुमारगुप्त को विलासप्रियता के प्रति सजग हो जाने का अप्रत्यक्ष परामर्श देता है।

मातृगुप्त परिवर्तन के नाम पर चौंकता है। धातुसेन परिवर्तन की व्याख्या करता है और जीवन के संगीत को सुनने का सत्परामर्श मातृगुप्त को देता है। परिवर्तन ही जीवन है। जीवन के प्रति निष्ठावान व्यक्ति को परिवर्तन क स्वागत करना चाहिए। उसका कथन है कि परिवर्तन रुका कि महापरिवर्तन—प्रलय हुआ। परिवर्तन सृष्टि है, जीवन है। स्थिर होना मृत्यु है।

हम यदि परिवर्तन को अनिवार्य मान लें और उसको विकास का माध्यम मान लें तो हमारे सब गिला-शिकवा खत्म हो जायँ। प्रत्येक दशा में स्थिति के प्रति संतोष प्रकट करना, जीवन में संतुलन का रहस्य है। धातुसेन इसी पर बल देता है।

अपनी स्थिति में जरा-सा भी फेर-पलट होते ही हम शिकवा-शिकायत करने लगते हैं, हाय-हाय करने लगते हैं। परिवर्तन के प्रति संतुलित एवं आशावादी दृष्टिकोण रखना—जीवन की बहुत बड़ी उपलब्धि है।

मातृगुप्त परिवर्तन के प्रति सशंक होता है—सामान्य व्यक्ति प्रायः इसी प्रकार की धारणाएँ रखता है। धातुसेन परिवर्तन पर आश्चर्य को अनावश्यक बताता है और इसी प्रकार जीवन की एक कुण्ठा को निर्मूल कर देने में प्रयत्नशील होता है।

मुद्‌गल के साथ वार्त्तालाप करते हुए भी वह बड़ा ही संतुलित दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। धातु के प्रश्न को लेकर वह एक जीवन-दर्शन ही उपस्थित कर देता है। वह सुवर्ण के विषय में कहता है कि "सोना अत्यन्त धन होना है, बहुत शीघ्र गरम होता है, और हवा लग जाने से शीतल हो जाता है। मूल्य भी अधिक लगता है। इतने पर भी सिर पर बोझ-सा लगता है। ...... उसकी रक्षा के लिए भी एक धातु की आवश्यकता होती है, वह है लोहा।"

—(द्वितीय अंक, दृश्य २)

द्रव्य की स्थिति ऐसी ही होती है। इसकी प्राप्ति कष्ट-साध्य और इसकी रक्षा कष्ट-साध्य और इसका वियोग दुःखदायी। इतने पर भी प्रभाव बहुत ही अस्थिर एवं क्षणिक। इसका नशा बहुत जल्दी चढ़ता है और इसकी रक्षा के लिए हम संघर्ष एवं विरोध को न्यौता देते हैं। 'लोहा' से तात्पर्य अस्त्र-शस्त्र से है।

'लोहा' भी शत्रु उत्पन्न करता है। एक शस्त्र दूसरे को काटता है—
'लोहा बड़ा कठोर होता है—कभी-कभी वह लोहे को भी काट डालता है।"

—(द्वितीय अंक, द्वितीय दृश्य)

और इस प्रकार धातुसेन अपने आपको मिट्टी बताता हुआ कहता है कि "मेरे शरीर की धातु मिट्टी है, जो किसी के लोभ की सामग्री नहीं, और वास्तव में उसी के लिए सब धातु अस्त्र बनकर चलते हैं, लड़ते हैं, जलते हैं, टूटते हैं और फिर मिट्टी होते हैं।" धातुसेन का यह कथन समस्त संचय, संग्रह और संघर्ष को समाप्त करके समन्वय की प्रतिष्ठा का हेतुक है।

ब्राह्मण बलि करना चाहते हैं। बौद्ध श्रमण उसका विरोध करते हैं। वे आपस में विवाद करते हैं। यह विरोधात्मक विवाद कटुता की सीमा तक पहुँच जाता है। ब्राह्मण यहाँ तक कह देता है कि "आज यहाँ बलि होगी—हमारे धर्माचरण में स्वयं विधाता भी बाधा नहीं डाल सकते।"—(चतुर्थ अंक, दृश्य ५)

बौद्ध श्रमण भी कम नहीं है। वह खून बहाने को प्रस्तुत है। वह अपने प्राणों की आहुति देने को प्रस्तुत है। "इन पशुओं के बदले हमारी बलि होगी। रक्त-पिपासु दुर्दान्त ब्राह्मणदेव ! तुम्हारी पिपासा हम अपने रुधिर से शान्त करेंगे।"

—(चतुर्थ अंक, दृश्य ५)

इसी समय धातुसेन आ जाता है । वह ब्राह्मणों के अद्वैत दर्शन और बौद्धों के मध्यमा-प्रतिपदा सिद्धान्त के मध्य समन्वय स्थापित करता है । वह कहता है कि यद्यपि गौतमबुद्ध ने प्रत्यक्षतः आत्मा-परमात्मा की चर्चा नहीं की, तथापि वह सिद्धान्तः अप्रत्यक्ष रूप से एकात्मभाव को स्वीकार करते थे, अन्यथा वह जीव-दया, करुणा, सर्वभूत हित कामना जैसे उदात्त सिद्धान्त का प्रतिपादन क्योंकर करते । अतः बुद्ध का दर्शन अनात्मवादी न होकर वस्तुतः आत्मवादी है । वेदान्त दर्शन में 'आत्मा' एक है और 'अहम् ब्रह्मास्मि' का प्रतिपादन है । व्यवहार में यह अहंकार को जन्म देता है । बुद्ध ने इस अहंकार-भावना को नष्ट करने के लिए ही 'आत्मवाद' का खण्डन किया है, अन्यथा वह 'विश्वात्मा' को तो स्वीकार करते ही हैं । जब तक यह भाव बद्धमूल न होगा कि विश्व के समस्त प्राणियों में एक ही आत्मा व्याप्त है, तब तक जीव मात्र के प्रति दया क्योंकर उत्पन्न हो सकेगी ? इस प्रकार 'अद्वैतवाद' वस्तुतः सैद्धान्तिक अधिक है और बुद्ध का 'मध्यमा-प्रतिपदा' सिद्धान्त व्यावहारिक अधिक है । अद्वैतवाद और मध्यमा-प्रतिपदा में स्तर मात्र का अन्तर है । प्रथम की अपेक्षा द्वितीय स्थूल है—वे वस्तुतः एक ही सिक्के की दो पीठें हैं । इस प्रकार वह बुद्ध के सिद्धान्त को अद्वैतवाद से भिन्न न मानकर, अद्वैतवाद में केवल एक सुधार मात्र बताता है और ब्राह्मणों एवं बौद्धों के बीच की खाई को बहुत कुछ कम कर देता है । यथा—"अहंकार मूलक आत्मवाद का खण्डन करके गौतम ने विश्वात्मवाद को नष्ट नहीं किया । यदि वैसा करते तो इतनी करुणा की क्या आवश्यकता थी ? उपनिषदों के नेति-नेति से ही गौतम का अनात्मवाद पूर्ण है ।......वह एक सुधारक था, उसके लिए रक्तपात क्यों ।"[1]

—(चतुर्थ अंक, दृश्य ५)

इसके बाद धातुसेन देश के ऊपर मँडराने वाले संकट की ओर सबका ध्यान आकर्षित करता है और यह भी कहता है कि जीव-मात्र के प्रति दया की शिक्षा बौद्धों ने वस्तुतः ब्राह्मणों से ही ग्रहण की है । ब्राह्मण उन ऋषियों की सन्तान है जो सायं-प्रातः अग्निशाला में भगवान् से प्राणीमात्र के कल्याण की कामना के हेतु प्रार्थना किया करते हैं—

---

१. **पंचम अंक, दृश्य ४ ।**

"सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात् ।।"

प्रख्यातकीर्ति बौद्धों को ललकारता है । उनका भी दंभ प्रकट हो जाता है । अन्ततः ब्राह्मण तलवार फेंक कर बलि से विरत हो जाते हैं और सबके साथ कंधे से कन्धा मिलाकर देश की स्वतन्त्रता की रक्षा को अपने जीवन का सर्वोपरि कर्त्तव्य समझने लगते हैं ।

हूण सेनापति प्रख्यातकीर्ति को मारने के लिए उद्यत है । उसी समय धातुसेन आकर उसकी रक्षा करता है, और समस्त कुचक्रियों को बन्दी बनाता है । उसका दृष्टिकोण यह है—"कुचक्रियो अपने फल भोगने के लिए प्रस्तुत हो जाओ ! भारत के भीतर की बची हुई समस्त हूण-सेना के रुधिर से यह उन्हीं की लगायी ज्वाला शान्त होगी ।" —(पंचम अंक, दृश्य ४)

अनन्तदेवी से धातुसेन कहता है, "हाँ महादेवी ! एक दिन मैंने समझाया था, तब मेरी अवहेलना की गयी, यह उसी का परिणाम है ।"

इस प्रकार वह राज्य-परिवार के समस्त षड्यन्त्र को समाप्त कर देता है । इस प्रकार स्पष्ट है कि पर्यटक धातुसेन हमको विषमता में समानता लाने में बराबर उद्योगशील दिखाई देता है ।

प्रश्न १७—'स्कन्दगुप्त' नाटक में हमको प्रसाद का जो दार्शनिक रूप दिखाई देता है, उसको स्पष्ट कीजिए ।

अथवा

'स्कन्दगुप्त' नाटक में व्यक्त प्रसाद के दार्शनिक विचारों की समीक्षा कीजिए ।

अथवा

'स्कन्दगुप्त' नाटक में पग-पग पर हमको प्रसाद के चिन्तनशील दार्शनिक के दर्शन होते हैं ।" इस कथन की सोदाहरण विवेचना कीजिए ।

उत्तर—स्मृति संकेत

(१) प्रसाद—एक चिन्तनशील व्यक्ति थे ।

(२) स्कन्दगुप्त नाटक में दर्शन के दोनों पक्ष अभिव्यक्त हैं—

(क) **सिद्धान्त पक्ष**—विश्वात्मवाद तथा अनात्मवाद के अभिन्नत्व का प्रतिपादन ।

(ख) **व्यवहार पक्ष**—

(i) विवेक

(ii) वैराग्य

(iii) सदाचार—करुणा, मनुष्यता का मापदण्ड, अहंकार का उन्मूलन साहसशीलता, शक्ति का सम्पादन ।

(iv) महती योजना का ज्ञान (विकास का महत्त्व) ।

(v) कर्म फल सिद्धान्त तथा भाग्यवादिता

(vi) विश्व-प्रेम ।

'प्रसाद' एक चिन्तनशील व्यक्ति थे

जयशंकर प्रसाद स्वभाव से एक चिन्तनशील एवं मननशील व्यक्ति थे। व्यति और घटना के पीछे और परे देखना उनके दार्शनिक का स्वभाव था। फलतः प्रत्येक नाटक में उनके आदर्श पात्र दार्शनिक-से दिखाई पड़ते हैं। उनके नाटकों में तथा अन्य कृतियों में भी दार्शनिकता की एक अविच्छिन्न धारा व्याप्त दिखाई देती है। स्कन्दगुप्त नाटक भी उक्त प्रवृत्ति का अपवाद नहीं है।

हमारे कर्मों की प्रक्रिया बहुत ही विचित्र है। जीवन और जगत् की अनेक घटनाएँ बहुत ही रहस्यपूर्ण दिखाई देती हैं। वे हमको अनेक प्रकार से प्रभावित करती रहती हैं। बुद्ध की प्रक्रिया तो हमारी समझ में आ जाती है और कुछ के विषय में हम 'नियति नटी का खेल' कहकर संतोष कर लेते हैं। वह नियतिवाद ही वस्तुतः प्रसाद की व्यावहारिक दार्शनिकता का रूप है। जीवन का रहस्य समझने की तीव्र इच्छा ही प्रसाद के 'दर्शन' की मूल प्रेरणा है। वह लिखते है—"मेरी समझ में मानव जीवन का यही उद्देश्य नहीं है। कोई और भी निगूढ़ रहस्य है, चाहे उसे मैं स्वयं न जान सका हूँ।"

—(स्कन्दगुप्त का कथन, अंक २, दृश्य १)

सिद्धान्त पक्ष

प्रसाद ने इस रहस्य को समझने का पूरी शक्ति के साथ प्रयत्न किया और

वह उसके मूल तक पहुँच भी गए। उनके विचार से व्यावहारिक दृष्टि से थोड़े-बहुत अन्तर होते हुए भी समस्त दार्शनिक सिद्धान्त एक ही अखण्ड सत्य का प्रतिपादन करते हैं। पशु-बलि के प्रश्न को लेकर ब्राह्मणों और बौद्धों में जो विवाद होता है, उसके मध्य धातुसेन सामंजस्य स्थापित करता हुआ दिखाई देता है। धातुसेन के रूप में वस्तुतः 'प्रसाद' ही हमारे सामने आते हैं। धातुसेन स्पष्ट कह देता है कि अद्वैत सिद्धान्त और मध्यमा प्रतिपदा सिद्धान्त में वस्तुतः नाममात्र का भेद है—वह भी स्तर-भेद के ही कारण। अद्वैत विश्वात्मा को स्वीकार करता है, परन्तु 'नेति-नेति' कहकर उसका निरूपण करता है। गौतम बुद्ध ने आत्मा-विश्वात्मा की चर्चा नहीं की, परन्तु विश्वात्मा की अखण्डता के फल—जीव-दया-करुणा का सबल प्रतिपादन किया। इसका अर्थ यह हुआ कि उन्होंने न तो विश्वात्मा को अस्वीकार किया और न विश्वात्मवाद का खण्डन ही किया। अद्वैत सिद्धान्त भी आत्मा की अखण्डता के फलस्वरूप प्राणिमात्र पर दया, सर्व भूतहित कामना का प्रतिपादन करता है। तब फिर परिणाम की दृष्टि से अद्वैत सिद्धान्त और बुद्ध के 'मध्यमा प्रतिपदा' में कोई भेद नहीं रह जाता है। बुद्ध-मत के सम्बन्ध में प्रसाद की यह मान्यता सर्वथा बौद्धिक एवं वैज्ञानिक है। बुद्ध मत को यदि 'बुद्धि' का मत मान लिया जाय तो हम सहज ही कह सकते हैं कि चिन्तन के क्षेत्र में जो अद्वैत सिद्धान्त है, व्यवहार के क्षेत्र में वही मध्यमा प्रतिपदा सिद्धान्त है।" इसी तथ्य को धातुसेन के मुख द्वारा प्रकट करा कर प्रसाद ने दर्शन के सम्बन्ध में अपनी मान्यता को स्पष्ट प्रकट कर दिया है—

"अहंकार मूलक आत्मवाद का खण्डन करके गौतम ने विश्वात्मवाद को नष्ट नहीं किया। यदि वैसा करते तो इतनी करुणा की क्या आवश्यकता थी ? उपनिषदों के नेति-नेति से ही गौतम का अनात्मवाद पूर्ण है। यह प्राचीन महर्षियों का कथित सिद्धान्त, मध्यमा-प्रतिपदा के नाम से संसार में प्रचारित हुआ; व्यक्तिरूप में आत्मा के सदृश कुछ नहीं है। वह एक सुधार था, उसके लिए रक्तपात क्यों ?"

उपनिषद् 'नेति-नेति' कहकर 'आत्मा' का निरूपण करते हैं। प्रसाद इसका

यह अर्थ लगाते हैं कि उपनिषद भी 'आत्मा', 'विश्वात्मा' के स्वरूप के बारे में स्पष्ट नहीं है। गौतम बुद्ध इसकी चर्चा ही नहीं करते हैं।

अद्वैतमत-ब्रह्मवाद 'सर्वभूत हितेरत' होने की भिक्षा देता है, बुद्धमत भी जीव-दया का प्रतिपादन करता है। तब आत्मा-परमात्मा की चर्चा करना, न करना समान है। गौतम बुद्ध ने वस्तुतः यही किया था। वह दुःख की निवृत्ति के उपायों की खोज में बराबर लगे रहे थे, आत्मा-परमात्मा के विवेचन को उन्होंने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक नहीं समझा था। उनके शिष्य आनन्द ने जब उनसे परमात्मा के विषय में प्रश्न किया था, तब उन्होंने यही उत्तर दिया था—"तीर के लगने पर, हमें उसके द्वारा उत्पन्न पीड़ा के अन्त करने का उपाय करना चाहिए, न कि यह विचार करना चाहिए कि यह तीर किस लकड़ी अथवा किस धातु का बना हुआ है, तथा इसका बनाने वाला कौन है।"

प्रसाद किसी सीमा तक 'ब्राह्मण' और ब्राह्मणवाद के विरोधी थे। अद्वैत-सिद्धान्त के 'ब्रह्मवाद' में उनको अहंकार की गन्ध आती थी और इसी कारण उन्होंने 'आतमवाद' को अहंकार मूलक' कह दिया है। ब्रह्मवाद 'अहं ब्रह्मास्मि' का प्रतिपादन करता है। वह व्यक्ति को ब्रह्म के रूप का स्मरण कराकर ब्रह्मवत् आचरण करने का उपदेश देता है, न कि उसको अभिमानी अथवा अहकारी बनाने का प्रयत्न करता है। अस्तु !

व्यवहार पक्ष

'दर्शन' के मार्ग के मुख्यतः चार सोपान माने गए हैं अथवा दर्शन के पथिक को ऊपर पहुँचाने के लिए, चार सीढ़ियों पर होकर जाना पड़ता है। यथा—

(क) विवेक, (ख) वैराग्य, (ग) सदाचार, तथा (घ) प्रेम—विश्व-प्रेम। प्रथम तीन साधन हैं, चौथा साध्य है। प्रसाद की विचारधारा के अन्तर्गत इस चतुर्मुखी 'दर्शन' का साक्षात्कार होता है। यथा—

(क) **विवेक**—'विवेक' का अर्थ है—भले-बुरे स्थायी-अस्थायी की पहचान। संसार के पदार्थों की नश्वरता एवं क्षण-भंगुरता मानव का ध्यान संसार की निस्सारता की ओर ले जाती है। ऐसी स्थिति में वह दृश्यमान

जगत् की असारता पर विचार करते हुए 'सार' और 'असार', 'तथ्य' और 'थोथा', 'कन' और 'तुस', 'नाज' और 'भूषा' का विवेचन करने को बाध्य होता है। इस मार्ग पर आगे बढ़ने के फलस्वरूप वह पदार्थों की सापेक्ष स्थिरता का दर्शन करता है। यहीं उसको वह बुद्धि प्राप्त होती है जो स्थायी एवं अस्थायी का अन्तर स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील होती है। यही 'विवेक' है। अद्वैतमत और बुद्ध द्वारा प्रतिपादित मध्यमा प्रतिपदा सिद्धांत का एकत्व प्रसाद के विवेकशील दृष्टिकोण का ही परिणाम है।

नाटककार पहले दुनिया का दुरंगापन दिखाता है—"......धनवानों के हाथ में माप ही एक है......वह माप है—उनका ऐश्वर्य।......"

"पुरुष को वशीभूत करने के लिए चाहिए धोखे की टट्टी।"

—(पृ० सं० ५०, २।१)

यही सांसारिकता हलके 'निर्वेद' का संचार करके 'विवेक' की प्रेरणा बनती है। यथा—

"अधिकार-सुख कितना मादक और सारहीन है।......उत्सवों में परिचारक और अस्त्रों में ढाल से भी अधिकार-लोलुप मनुष्य क्या अच्छे हैं?"

—(पृ० सं० ६, १।१)

"श्मशान को मूक-शिक्षक बताने का तात्पर्य ही यह है।"—(पृ० सं० ८६)

"संसार के समस्त अभावों को असन्तोष कहकर हृदय को धोखा देता रहा। परन्तु कैसी विडम्बना! लक्ष्मी के लाड़लों का भ्रू-भंग और क्षोभ की ज्वाला के अतिरिक्त मिला क्या? एक काल्पनिक प्रशंसनीय जीवन, जो दूसरों की दया में अपना अस्तित्व रखता है।" —(पृ० सं० २१, १।१)

"परिवर्तन ही सृष्टि है, जीवन है। स्थिर होना मृत्यु है।"

—(पृ० सं० २५, १।३)

वस्तुतः यही संसार की क्षण-भंगुरता का भेद है और 'विवेक' का हेतु है। तथा—"सयय बदलने पर लोगों की आँखें भी बदल जाती हैं।"

—(पृ० १२८, ५।१)

(ख) **वैराग्य**—विवेक का परिणाम होता है—अपेक्षाकृत स्थायी के प्रति

आकर्षण तथा अस्थायी के प्रति विकर्षण[1], जो विराग बनता है। आकर्षण-विकर्षण, राग-विराग के उन्नयन का यह क्रम जारी रहता है और इच्छाएँ क्रमशः समाप्त होती जाती हैं। इच्छाओं की समाप्ति को हिन्दुओं ने 'मुक्ति' कहा है और बौद्धों ने 'निर्वाण'।

वैराग्य के फलस्वरूप केवल ईश्वर-प्राप्ति की इच्छा अथवा विश्व-कामना ही शेष रह जाती है। अन्ततोगत्वा वह भी समाप्त हो जाती है। वैराग्य वस्तुतः उस अग्नि के समान है जो ईंधन को जलाने के पश्चात् स्वयं भी बुझ जाती है। सामान्यतः संसार के प्रति राग का अभाव ही वैराग्य है। संसार के पदार्थों, उनके द्वारा सम्भाव्य सुख-भोग आदि के प्रति विरक्ति (मोह का अभाव), उनके मिथ्यात्व में विश्वास। 'निर्वेद' की उत्पत्ति ही वैराग्य का लक्षण है, वैराग्य का अनुसारी परिणाम है। यहाँ सुनिए 'स्कन्दगुप्त' का यह कथन—

"विजय का क्षणिक उल्लास हृदय की भूख मिटा देगा? कभी नहीं। ....त्याग का ही दूसरा नाम महत्त्व है।..........."

"ऐसा जीवन तो विडम्बना है, जिसके लिए दिन-रात लड़ना पड़े।"

"इस साम्राज्य का बोझ किसके लिए? हृदय में अशान्ति, राज्य में अशान्ति, परिवार में अशान्ति।...... यदि मैं न होता तो यह संसार अपनी स्वाभाविक गति से, आनन्द से चला करता।........जिसे हमने सुख-शर्वरी की सन्ध्या तारा के समान पहले देखा, वही उल्कापिण्ड होकर दिगन्त-दाह करना चाहती है।"

द्वितीय अंक, दृश्य २ में धातुसेन के मुख से प्रसाद सुवर्ण और लोहा—समस्त सांसारिक वैभव—का निरर्थकता की चर्चा कराते हुए बड़े ही कौशल के साथ "खाक से पैदा हुए हैं खाक में मिल जाएँगे," वाले वैराग्य-सिद्धान्त का प्रतिपादन कराते हैं। यथा—"सोना अत्यन्त धन होता है। मूल्य भी बहुत लगता है। इतने पर भी सिर पर बोझ-सा रहता है।........उसकी रक्षा के लिए एक धातु की आवश्यकता होती है, वह है लोहा। लोहा बड़ा कठोर होता

---

१. **जड़ चेतन गुण-दोष-मय, विश्व कीन्ह करतार।**
सन्त-हंस पय-गुन गहहिं, परहरि वारि विकार।—तुलसी

है। कभी-कभी वह लोहे को भी काट डालता है।.......मैं तो मिट्टी हूँ।........जिसमें से सब निकलते हैं,........जो किसी के लोभ की सामग्री नहीं, और वास्तव में उसी के लिए सब धातु अस्त्र बन कर चलते हैं, लड़ते हैं, जलते हैं, टूटते हैं और फिर मिट्टी होते हैं। इसलिए मुझे मिट्टी समझो,—धूल समझो।"

(ग) **सदाचार**—विवेक और वैराग्य के परिणामस्वरूप व्यक्ति सदाचार की ओर प्रवृत्त हो जाता है। उसके जीवन के मान बदल जाते हैं। वह तत्काल हानि-लाभ पर अपनी दृष्टि सीमित न रख दूरगामी एवं स्थायी परिणाम पर विचार करता है। व्यक्तिवादी न रह, वह समष्टिवादी बन जाता है। भले-बुरे का निर्णय वह अपने अन्तःकरण द्वारा करता है—यह विवेक है। बुरे का सर्वथा त्याग कर देता है—यह वैराग्य है केवल 'भले' को अपनाता है, उसी से प्रेरणा प्राप्त करता हुआ अपने आचरण को ढालता है—यही 'सदाचरण' है। यथा—

अभागे मनुष्य की यह परिभाषा सर्वथा सार्थक एवं सजीव है—"जो संसार के सबसे पवित्र धर्म 'कृतज्ञता' को भूल जाता है, और भूल जाता है कि सबके ऊपर एक अटल अदृष्ट का नियामक सर्वशक्तिमान है।"

सदाचार के दो पक्ष होते हैं—(i) किसी को कष्ट न देना, (ii) दूसरों को सुख देना। दुःख का निवारण तथा सुख का प्रसार। बौद्ध-धर्म के व्यवहार-पक्ष का भी यही रूप है—सदाचार का ही दूसरा नाम धर्म है, कर्त्तव्य के विवेक-समुच्चय को ही 'धर्म' कहा जाता है—

"यही हत्या रोकना, अहिंसा गौतम का धर्म है। यज्ञ की बलियों को रोकना, करुणा और सहानुभूति की प्रेरणा से कल्याण का प्रचार करना।"

तथा—"अहंकारमूलक आत्मवाद का खण्डन करके गौतम ने विश्वात्मवाद को नष्ट नहीं किया। यदि वैसा करते तो इतनी करुणा की क्या आवश्यकता थी!"

सदाचार का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक समन्वित रूप यह है—

"........सहानुभूति को जाग्रत करो!........राम और कृष्ण के समान क्या तुम भी अवतार नहीं हो सकते? समझ लो, जो अपने कर्मों को ईश्वर का

कर्म समझकर करता है, वही ईश्वर का अवतार है। उठो स्कन्द ! आसुरी वृत्तियों का नाश करो, सोने वालों को जगाओ और रोने वालों को हँसाओ !"

स्कन्दगुप्त नाटक में विवेक-वैराग्य समन्वित सदाचार के दर्शन हमको अनेक स्थलों पर और अनेक रूपों में होते हैं। यथा—

सफलता का रहस्य : साहस है—अधिकार भीख माँगने से नहीं मिलता है और उन्नति का मार्ग कंटकित होता है। वह कायरों के लिए नहीं है। महत्त्वाकांक्षी को साहसी होना चाहिए। —(प्रथम अंक, दृश्य ५)

वीरता का रहस्य : त्याग और जीवन के प्रति आस्था है—वीरता आँधी अथवा उन्माद नहीं है। वह पर-पीड़नाय न होकर एक स्वावलम्बी गुण है। स्कन्दगुप्त कहता है—"प्राणों का मोह त्याग करना—वीरता का रहस्य है।"[१] इसी तथ्य का समर्थन चक्रपालित भिन्न शब्दों द्वारा करता है—"वीरता एक स्वावलम्बी गुण है। जीवन में वही तो विजयी होता है, जो दिन-रात 'युद्धस्व-विगतज्वर:' का शंखनाद सुना करता है।"[२]

भयंकर दृश्यों के पीछे कल्याण का दर्शन करने वाला व्यक्ति ही सच्चा वीर कहा जाता है। वही वीर है जो अमंगल से घबराए नहीं, बल्कि उसकी कालिमा के पीछे मंगल की प्रकाश-किरण लाने के लिये प्रयत्नशील हो।

"जीवन रहस्य के चरम सौन्दर्य की नग्न और भयानक वास्तविकता का अनुभव केवल सच्चे वीर हृदय को होता है। ध्वंसमयी महामाया प्रकृति का वह निरंतर संगीत है। उसे सुनने के लिए हृदय में साहस और बल एकत्र करो।"[३]

कष्ट-सहिष्णुता एवं क्षमाशीलता : विकास की कुंजी और मनुष्यता का मापदण्ड है—नाटक के अन्त में स्कन्दगुप्त के प्रति देवसेना के अन्तिम शब्द ये हैं—"कष्ट हृदय की कसौटी है। तपस्या अग्नि है।" नाटक के प्राय: सभी आदर्श पात्र त्याग और कष्ट का जीवन व्यतीत करते हुए दिखाई देते हैं।

---

१. अंक २, दृश्य १।
२. अंक २, दृश्य १।
३. अंक १, दृश्य ६।

शर्वनाग कहता है—"लाभ ही के लिए मनुष्य सब काम करता है, तो पशु बना रहना उसके लिए पर्याप्त था।"[१]

देवकी शर्वनाग को क्षमा करती हुई कहती है—"क्षमा पर मनुष्य का अधिकार है। वह पशु के पास नहीं मिलती।"[२]

क्षमा मनुष्यता का आभूषण तो है ही, अपितु क्षमा कर देना सबसे बड़ा दण्ड और प्रतिशोध है। इसी भाव को लेकर स्कन्दगुप्त शर्वनाग को क्षमा कर देता है और अन्ततः शर्वनाग सत्पथ पर आ भी जाता है।[३]

जीवन में सुख-शांति का जीवन व्यतीत करने के लिए प्रसाद ने कई स्थलों पर करुणा का संदेश दिया है। रामा के प्रति देवकी का कहना है कि "सब लोग भगवान् की स्निग्ध करुणा का ध्यान करें, और सहानुभूति के मार्ग का अवलम्बन करें, तो दुर्दिन का साहस नहीं कि हमारी ओर आँख उठाकर देख भी लें।"[४]

क्षमा

कर्म सिद्धान्त एवं भाग्य-फल का प्रतिपादन – सबको अपने भाग्य का फल भोगना पड़ता है। भाग्य का निर्माण हमारे कर्मों के द्वारा होता है। इस प्रकार अपने भाग्य के निर्माता अन्ततः हम स्वयं ही ठहरते हैं। हम यदि कर्म-फल सिद्धान्त के प्रति आश्वस्त हों, तो अपने दुःखों के प्रति अन्य किसी को दोषी न ठहराएँ और धैर्यपूर्वक अपने दुर्भाग्य का सामना करते रहें। कर्म-फल सिद्धान्त वस्तुतः सदाचार की आधारशिला है। प्रसाद ने इसका प्रतिपादन बड़े ही बौद्धिक ढङ्ग पर किया है।

देवसेना विजया को सावधान करती हुई कहती है कि "अपनी असावधानी का दोष दूसरे पर न फेंक।"[५]

विजया की भाँति अन्य लोगों को अपने दुःखों के लिए दोषी ठहराने वाले व्यक्तियों को ही लक्ष्य करते हुए कवि ने कहा है—

---

१. अंक २, दृश्य ३।
२. अंक २, दृश्य ७।
३. स्कन्दगुप्त का कथन (अंक २, दृश्य ७)।
४. अंक २, दृश्य ४।
५. अंक ३, दृश्य १।

'क्या हँसी आती है मुझ को हजरते इन्सान पर ।
फैले बद तो खुद करें लानत करें शैतान पर ।।

भटार्क भी यही बात कहता है कि "पाप-पंक में लिप्त मनुष्य को छुट्टी नहीं । कुकर्म उसे जकड़ कर अपने नागपाश में बाँध लेता है ।"[1]

मनुष्य अपने कर्त्तव्य का पालन करता रहे । भाग्यचक्र अपना काम करता है। वह कर्मानुसार क्षण-क्षण बदलता रहता है। उसको बदलते क्या देर लगती है।[2]

कर्म-फल सिद्धान्त के अनुरूप कमला की यह प्रेरणा कितनी मनोहारिणी है— 'कौन कहता है तुम अकेले हो ? ...... तुम्हारे प्रचण्ड और विश्वासपूर्ण पदाघात से विंध्य के समान कोई शैल उठ खड़ा होगा ।..........राम और कृष्ण के समान क्या तुम भी अवतार नहीं हो सकते ?"[3]

कर्म वस्तुतः सबसे बड़ा शिक्षक है । "अपने कुकर्मों का फल चखने' में कड़वा परन्तु परिणाम में मधुर ।"[4] कर्म और उसके फल की महिमा अपार है, वह हमको चाहे जिस परिस्थिति में डाल देता है । हमारा कर्त्तव्य है कि हम प्रत्येक स्थिति-परिस्थिति को सहर्ष स्वीकार करें । आर्य पर्णदत्त के साथ भीख माँगकर भी देवसेना अपने जीवन के प्रति आश्वस्त बनी रहती है ।

अहंकार का त्याग एवं सेवा-भाव : सदाचरण के मूल मन्त्र हैं— सदाचारी होने के लिए व्यक्ति को अहंकार कर्त्तापन के अभिमान का त्याग करना चाहिए । भटार्क षड्यन्त्र करके पुरगुप्त को राज्य सिंहासन पर बैठाना चाहता है । इस कृत्य के लिए उसकी भर्त्सना करती हुई उसकी माता कमला कहती है कि "अपनी तुच्छ बुद्धि को सत्य मानकर, उसके दर्प में भूलकर मनुष्य कितना बड़ा अपराध कर सकता है ।"[5]

यह समस्त विश्व-प्रपंच पर नियन्या की योजना के अनुसार परिचालित है । हम केवल उस योजना के अन्तर्गत और उसी के अनुसार कार्य कर सकते हैं । इसी को गीतकार के निमित्त मात्र होना कहा है । व्यक्ति यदि कर्त्तापन का अभिमान छोड़कर निस्पृह भाव से अपना कर्म करता रहे, तो विजय,

---

१. अंक ३ दृश्य १ । और भी देखें नायक का कथन (अंक ४ दृश्य १)
२. नायक (चक्रपालित) का कथन (अंक ४ दृश्य ६)
३. अंक ४, दृश्य ७ ।
४. भटार्क का कथन (अंक ५ दृश्य १) ।
५. अंक ४, दृश्य २ ।

ऐश्वर्य एवं ध्रुव नीति की प्राप्ति सुनिश्चित है। स्कन्दगुप्त का आचरण इसी कोटि का है। वह विजया से कहता है कि "मैं कुछ नहीं हूँ, उसका अस्त्र हूँ परमात्मा का अमोघ अस्त्र हूँ।......मुझे उसके संकेत पर केवल अत्याचारियों के प्रति प्रेरित होना है।......पवित्र प्राकृतिक नियम अपनी रक्षा करने के लिए स्वयं सन्नद्ध हैं।"[1]

हमारा कर्त्तव्य दूसरों को सुख पहुँचाना होना चाहिए। हम यदि किसी को सुख न पहुँचा सकें, तो कम से कम अपने सम्पर्क में आने वालों के कष्टों को कम तो कर ही सकते हैं—उनके दुःख-रूपी विषधर के देश के प्रभाव को किसी सीमा तक कम कर ही सकते हैं। विजया के प्रति शर्वनाग का यह कथन कितना व्यावहारिक और साथ ही अनुकरणीय है—"यदि हम राजसिंहासन न प्रस्तुत कर सकें, तो हमें अधीर न होना चाहिए। हम देश की प्रत्येक गली को झाड़ू देकर ही इतना स्वच्छ कर दें कि उस पर चलने वाले राजमार्ग का सुख पावें।"[2]

(घ) प्रेम—'भलाई' के प्रति लगाव ही सदाचार की प्रेरणा है। भले के प्रति आकर्षण अथवा 'भले' और 'भलाई' पर ही दृष्टि जाना, उसको खोज लेना सदाचार का परिणाम या फल है। प्रत्येक प्राणी में कोई-न-कोई भलाई होती है। अतः सदाचारी का लगाव प्रत्येक प्राणी के प्रति होता है। यही 'प्रेम' है। प्रेम-पात्र का हितचिन्तन प्रेम का अनुसारी परिणाम है। अतः विश्व-कामना प्राणी-मात्र के प्रति सद्भावना सदाचार का सर्वोपरि फल है। विश्व हित-कामना, विश्व-बन्धुत्व अथवा जीव-प्रेम—एक ही उदात्त-वृत्ति की विभिन्न संज्ञाएँ हैं। प्रसाद का दर्शन इनसे ओत-प्रोत है। यथा—

जिस संसार में ऐसे पतित मनुष्य हैं जो "श्मशान के कुत्तों से भी गए-बीते हैं"—उसी संसार में विश्व-प्रेमी की निर्मल दृष्टि यह चेतना उत्पन्न करती है कि "......संसार में ही नक्षत्र से उज्ज्वल किन्तु कोमल स्वर्गीय संगीत की प्रतिभा तथा स्थायी कीर्ति-सौरभ वाले प्राणी देखे जाते। उन्हीं से स्वर्ग का अनुमान कर लिया जा सकता है।" —(पृ० सं० ८३, ३।१)

---

१. **अंक ५, दृश्य २।**
२. **अंक ४, दृश्य १।**

उदारता कामना की पहली सीढ़ी है ।

मनुष्य विकासशील प्राणी है । अत. उसमें त्रुटियों का होना स्वाभाविक है । हमें चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति को हम उसके विकास-स्तर के अनुरूप ही देखने का प्रयत्न करें । इस प्रकार व्यक्ति की त्रुटियों के लिए हमें एक ऐसा कारण उत्तरदायी मालूम पड़ेगा जिस पर बेचारे मानव का कोई अधिकार नहीं है । तब तो फिर घृणा एवं विद्वेष के लिए स्थान ही न रह जाएगा । 'विकास-वाद' का यह सिद्धान्त, थियोसोफीकल शिक्षाओं की विशेषता है । बौद्ध-दर्शन की करुणा एवं विश्वमैत्री को इसी का व्यावहारिक रूप समझना चाहिए ।[1] यथा—

"......मनुष्य अपूर्ण है । इसलिए सत्य का विकास जो उसके द्वारा होता है, अपूर्ण होता है । यही विकास का रहस्य है ।" —(पृ० सं० ११६, ४।५)

संसार के रहस्य को जानने के लिए व्याकुल स्कन्दगुप्त,[2] कर्त्तव्य-परायणता द्वारा उक्त रहस्य को समझने में समर्थ होता है । 'विकास' की प्रक्रिया समझ जाना ही वस्तुत: विवेक की चरम परिणति है । यथा—

"परन्तु इस संसार का कोई उद्देश्य है । इसी पृथ्वी को स्वर्ग होना है, इसी पर देवताओं का निवास होगा—विश्वनियन्ता का ऐसा ही उद्देश्य मुझे विदित होता है । फिर उसकी इच्छा क्यों न पूर्ण करूँ......मैं कुछ नहीं हूँ, उसका अस्त्र है—परमात्मा का अमोघ अस्त्र है ।" —(पृ० सं० १३५, ५।२)

"विश्व के प्रत्येक परमाणु में एक ही जीवन व्याप्त है ।" यह सत्य है । विवेक द्वारा इसकी उपलब्धि होती है । 'प्रेम' इसकी अनुभूति का चरम फल है ।

जब प्रत्येक प्राणी के भीतर एक ही जीवन व्याप्त है, तब सब समान हैं । यह 'विवेक' है । जीवन के प्रति लगाव तथा भेद उत्पन्न करने वाले बाह्य रूपों के प्रति उदासीनता (अथवा विरक्ति)—यही 'वैराग्य' है । सदाचरण द्वारा इस 'वैराग्य' की साधना की जाती है अथवा सदाचरण उक्त वैराग्य के अभ्यास का

---

१. विजया का कथन (द्वितीय अंक का प्रारम्भ) ।
२. पृ० सं० ४६, २।२ ।

परिणाम होता है। 'प्रेम' का व्यवहार—इस 'सदाचरण' का चरम फल है। 'प्रसाद' के 'दर्शन' का यही रूप है और इसी कारण वह बौद्ध-दर्शन के इतने निकट हैं। वह विश्व के कण-कण में जीवन का संगीत सुनते हैं।

"विश्व के प्रत्येक कम्प में एक ताल है।"

"प्रत्येक परमाणु के मिलन में एक सम है, प्रत्येक हरी-भरी पत्ती के हिलने में एक लय है। मनुष्य ने अपना स्वर विकृत कर रखा है, इसी से तो उसका स्वर विश्व वीणा में शीघ्र नहीं मिलता। पांडित्य[1] के मारे जब देखो, जहाँ देखो, बेताल, बेसुरा बोलेगा। पक्षियों को देखो, उनकी चहचह, कलकल, छलछल में, काकली में रागिनी है।" —(पृ० सं० ५०-५१, २।१)

प्रेम की महिमा अपार है। वह समस्त क्लेशों और विभीषिकाओं को शांत करने में समर्थ है। रामा के प्रति देवकी का यह कथन मनन करने योग्य है—"एक पिशाच नहीं, नरक के असंख्य दुर्दान्त प्रेत और क्रूर पिशाचों का त्रास और उनकी ज्वाला दयामय की कृपादृष्टि के एक बिन्दु से शान्त होती है।"[2]

विजया कहती है कि "श्मशान के कुत्तों से भी बढ़कर मनुष्यों की पतित दशा है।" उत्तर में देवसेना जो कुछ कहती है, वह कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। हमारा दृष्टि-भेद ही नरक और स्वर्ग की सृष्टि करता है। हम अपनी दृष्टि को निर्मल बनाएँ, हमको सब कुछ निर्मल दिखाई देने लगेगा। हम विष्टा पर बैठने वाली मक्खी के स्वभाव को छोड़कर मधु-संचय करने वाली मधुमक्खी की भाँति विकसित पुष्पों को देखें, हमारे सामने संसार बदल जाएगा। हमारी आँखों के सामने स्वर्ग नाच उठेगा। यह महीतल ही स्वर्ग बन जाएगा। यथा—

"परन्तु संसार में ही नक्षत्र से उज्ज्वल—किन्तु कोमल स्वर्गीय संगीत की प्रतिमा तथा स्थायी कीर्ति सौरभ वाले प्राणी देखे जाते हैं। उन्हीं से स्वर्ग का अनुमान कर लिया जा सकता है।"[3]

---

१. विश्लेषणात्मक बुद्धि, विश्लेषणपरक ज्ञान, 'अहंकारमूलक' बातें जो 'व्यक्ति' के पृथकत्व की प्रेरणा हैं।

२. अंक २, दृश्य ४।

३. अंक २, दृश्य १।

सारांश यह है कि विश्व-प्रेम प्रसाद के जीवन-दर्शन का मूल मन्त्र है। करुणा, दया, क्षमा, कृतज्ञता, सेवा आदि का प्रतिपादन करके इन्होंने इसी के विभिन्न पक्षों का उद्‌घाटन किया है। नाटक का नायक स्कन्दगुप्त जो कुछ करता है उसके मूल में एक ही प्रेरणा दिखाई देती है—"इस पृथ्वी को स्वर्ग बनाना।"[1]

प्रश्न १८—'अन्तर्द्वन्द्व' प्रसाद के नाटकों के चरित्र-चित्रण की विशेषता है। क्या 'स्कन्दगुप्त' नाटक के अन्तर्गत भी हमें उसके दर्शन होते हैं ?

उत्तर—'प्रसाद' के नाटक संघर्ष या द्वन्द्व-प्रधान हैं। यह संघर्ष दोनों ही प्रकार का है—घटना-व्यापार-सम्बन्धी तथा पात्रों के हृदय-मानसिक स्थिति सम्बन्धी। यह विशेषता बंगला-नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय के प्रभाव के कारण है।

२०वीं शताब्दी की द्वितीय और तृतीय दशाब्दी तक हिन्दी नाटक के क्षेत्र में कई प्रणालियाँ प्रचलित हो चुकी थीं। इनमें मुख्य थीं—भारतेन्दु प्रणली, द्विजेन्द्रलाल राय की प्रणाली, मिश्रबन्धु तथा भट्टजी की प्रणाली। इन्हीं दिनों प्रसाद ने नाटक लिखना आरम्भ किया था।

द्विजेन्द्रलाल राय की अपनी एक विशेषता है—अन्तर्द्वन्द्व की योजना। उनकी भाषा रोमानी अधिक है। वह मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय को अधिक प्रभावित करती है, जब कि प्रसाद की शैली हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क के अधिक निकट है। अन्तर का कारण—दोनों के व्यक्तित्व का अन्तर है। राय एक भावुक व्यक्ति थे—अतः उनके अन्तर्द्वन्द्व में आवेग, व्याकुल स्पन्दन परिलक्षित होते हैं, प्रसाद एक चिन्तनशील एवं मननशील व्यक्ति थे—अतः उनकी शैली विश्लेषणात्मक, विचार-प्रधान एवं मननपूर्ण है। श्री केशरीकुमार ने 'प्रसाद' और द्विजेन्द्रलाल राय की तुलना करते हुए लिखा है कि "द्विजेन्द्रलाल राय भावुक हैं, प्रसाद मनोवैज्ञानिक और भावुक भी। द्विजेन्दलाल राय के

---

१. **"हमने अन्तर की प्रेरणा से शस्त्र द्वारा जो निष्ठुरता की थी, वह इसी पृथ्वी को स्वर्ग बनाने के लिए।"**

—(स्कन्दगुप्त का कथन, अंक ५, दृश्य ६)

नाटकों में केवल अन्तर्द्वन्द्वों की प्रधानता है किन्तु प्रसाद के नाटक न केवल अन्तर्द्वन्द्व को लेकर मृत्युलोक में चतुर्मुख की मानसी सृष्टि की तरह चमत्कार-पूर्ण किन्तु निस्सार और निरवलम्बन जगत् की अवतारणा करते हैं, न केवल वाह्य द्वन्द्व दिखाकर मानवता के सामने पाशविक आदर्श रखते हैं वरन् वे इन दोनों अङ्कों में समुचित सम्मिश्रण स्थापित करने के कारण मानवता के उच्चतम आदर्श के पूर्ण व्यंजक हैं। अतएव मानवता की वे एक बड़ी पूँजी हैं। प्रसाद ने न तो यूनान की निराशामयी दुःखान्तता अपनायी है और न संस्कृत-नाटकों की केवल कौतूहलपूर्ण सुखान्तता तक ही अपने को परिसीमित किया है। एक निस्सङ्ग जीवनद्रष्टा की भाँति उन्होंने सुख-दुख से भरे जीवन को अपने करुण-मधुर नाटक में उतारा है। इसलिए प्रसाद के नाटक न तो सुखान्त हैं, न दुःखान्त वरन् प्रसादान्त हैं।"

"........प्रसाद ने इतिहास की सत्यता पर अपनी कल्पना का रोमानी रंग चढ़ाकर इतिहास के रूखे सत्यों को काव्यमय बना दिया है, किन्तु उस कल्पना से ऐतिहासिक सत्य खर्वित नहीं होने दिया। यह प्रसाद की अपनी विशेषता है।"[1]

प्रसाद के पात्रों का अन्तर्द्वंद्व वाह्यद्वन्द्व को विकसित करता है एवं उसका प्रतिफल भी है। कारण स्पष्ट है। प्रसाद पलायनवादी साहित्यकार न थे। उनके नाटकों में भूत के आदर्शों के साथ वर्तमान की समस्याएँ भी हैं और साथ में है भविष्य का सन्देश।

डॉ० नगेन्द्र ने प्रसाद के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए लिखा है— "प्रसाद अपने मूल-रूप में कवि थे, जीवन में आनन्द उन्हें इष्ट था, इसलिए वे शिव के उपासक थे। बस, शिव की उपासना उनके मन का विश्लेषण करने के लिए पर्याप्त है। वे गहरे जीवन-द्रष्टा थे। आधुनिक जीवन की विभीषिकाओं को उन्होंने देखा और सहा था, उनकी आत्मा जैसे आलोड़ित हो उठी थी। इस आलोड़न को दबाते हुए आग्रह के साथ आनन्द की उपासना करना ही उनके आदर्श की व्याख्या करना है, और यही उनके साहित्य की मूल चेतना है।"

---

१. डॉ० शम्भुनाथ पाण्डेय कृत 'चन्द्रगुप्त' से उद्धृत।

"ऐसा व्यक्ति स्वभावत: संसार की स्थूल वास्तविकता को महत्त्व नहीं देगा। वह उसको छोड़कर कल्पना की अलका में आनन्द की खोज करेगा। दूसरे शब्दों में, प्रसाद जैसा कलाकार रोमाण्टिक (स्वच्छन्दतावादी) होगा। वर्तमान से विमुख होगा—जैसे कि रोमाण्टिक कलाकार के लिए आवश्यक है। वह कल्पना की ओर जायगा या अतीत की ओर।"[1] यही कारण है कि वह मूल-रूप में कवि हैं, उनके नाटकों में काव्य की प्रतिभा सर्वत्र बिखरी पड़ी है तथा अन्तर्द्वन्द्व उनके पात्रों के जीवन का महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। जो जीवन की विभीषिका से विलोड़ित होगा, वही आदर्शोन्मुख होगा। अत: अन्तर्द्वन्द्व, मानसिक संघर्ष आदर्शवादिता का एक लक्षण ठहरता है। जिसने स्थूल जीवन को ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया है, जीवन की विभीषिकाओं के साथ जिसने समझौता कर लिया है, उसके मन में आलोड़न अथवा संकल्प-विकल्प के लिए अवसर क्यों कर आयेगा।"

'स्कन्दगुप्त' नाटक का घटनाक्रम संघर्षपूर्ण है। अत: उसके आदर्श पात्रों का चरित्र भी अन्तर्द्वन्द्व-युक्त है। यथा—

स्कन्दगुप्त—स्कन्दगुप्त नाटक का धीरोदात्त नायक है। नाटककार ने उसके महान् व्यक्तित्व में अनासक्तिमय प्रत्यक्ष कर्मवाद की मंजुल झाँकी प्रस्तुत की है। निष्काम भाव से जीवन के कठोर कर्म-क्षेत्र में वह अवतीर्ण होता है। अन्त में वह अपने अतुलनीय पराक्रम से प्राप्त साम्राज्य को अपने भाई पुरगुप्त को दे देता है। डॉ० जगन्नाथप्रसाद ने उसके चरित्र के सम्बन्ध में यह सर्वमान्य निष्कर्ष प्रस्तुत किया है—"नाटककार ने उसमें पाश्चात्य व्यक्ति-वैचित्र्य और भारतीय साधारणीकरण का सुन्दर समन्वय किया है।"

स्कन्दगुप्त के चरित्र में आरम्भ से ही विरागपूर्ण भावना का दर्शन होता है। मालव में राज्याभिषेक के अवसर पर वह गोविन्दगुप्त से यही कहता है कि "इस समय मैं एक सैनिक बन सकूँ····सम्राट् नहीं।"

ऐसा त्यागी व्यक्ति आदर्शवाद का सजीव उदाहरण है। सांसारिकता ऐसे व्यक्ति को एक विचित्र उलझन में डाल दे, यह स्वाभाविक है। वैराग्य-भावना

---

१. डॉ० शम्भुनाथ पाण्डेय कृत 'चन्द्रगुप्त' से उद्धृत।

और कर्त्तव्य-बुद्धि के बीच संघर्ष उसके व्यक्तित्व का अंग होना ही चाहिए। अधिकार सुख का मादक और सारहीन लगना, सम्राट् होकर भी साधारण सैनिक जीवन की स्पृहा, विपत्तियों के वात्याचक्र के मध्य भी कर्त्तव्य के प्रति निष्ठा—ऐसे व्यक्तित्व के लक्षण होने ही चाहिये। निम्नलिखित कथन उसके आदर्शपरक मनमानस की द्वन्द्वमय स्थिति के परिचायक हैं—

"अधिकार सुख कितना मादक और सारहीन है! अपने को नियामक और कर्त्ता समझने की बलवती स्पृहा उनसे बेगार कराती है।"

—(पृ० सं० ९, १।१)

"महत्त्वाकांक्षा क्या देगी? केवल सांसारिक सुख तथा उनसे सम्बन्धित झगड़े! ये वस्तुत: क्षणिक एवं निस्सार हैं। तब क्यों न इनको त्याग कर शान्तिपूर्ण एकाकी जीवन व्यतीत किया जाए"—आदि संकल्प-विकल्प आदर्शवादी मानव के मन में उठते ही हैं। विजय-प्राप्ति को ही वह निस्सार समझता है। महाभारतकार ने विजित और विजेता—दोनों का रुदन दिखाया है, क्योंकि वे भी आदर्शवादी हैं, सांसारिक जय-पराजय को व्यर्थ समझने वाले महानुभाव हैं। स्कन्दगुप्त भी विजय और विजेता के अतिरिक्त कुछ अन्य किन्तु अधिक उच्च स्तर की वस्तु की आकांक्षा करता है। वह है—आत्मा की तृप्ति। इसी कारण वह चक्रपालित के सम्मुख अपने मन की इस उलझन को प्रस्तुत करता है—"विजय का क्षणिक उल्लास हृदय की भूख मिटा देगा? कभी नहीं। ....त्याग का ही नाम महत्त्व है।" —(पृ० सं० ४८, २।१)

उसके निम्नलिखित कथन द्वारा भी कि—'संसार धोखा है, दुनिया दुरंगी है"—यही तथ्य प्रतिध्वनित होता है—"इस साम्राज्य का बोझ किसके लिए? ....जिसको हमने सुख शर्वरी की सन्ध्या तारा के समान पहले देखा, वही अब उल्कापिण्ड होकर दिगन्तदाह करना चाहती है।" —(पृ० सं० ८६, ३।२)

मातृगुप्त—मातृगुप्त सच्चा राष्ट्रकवि है। काव्य-साधना उसके जीवन का आधार है। यथेष्ट लाभ न होने पर अपने मित्र धातुसेन की प्रेरणा एवं मुद्गल के सहयोग से वह राजनीति में प्रवेश करता है। लेखनी और तलवार, दोनों के द्वारा राष्ट्र की सेवा करके काश्मीर का शासन नियुक्त होता है।

काव्य उसके भूखे हृदय का आहार है—भूखे पेट का नहीं । उसके लिए वह दरिद्रता का कठोर व्यंग्यात्मक अट्टहास सुनता है । सांसारिक वैभवों को वह नगण्य समझता है । इनके अतिरिक्त कोई अन्य ही वस्तु उसकी आत्मा को तृप्ति प्रदान कर सकती है । यथा—

"कविता करना अनन्त पुण्यों का फल है । इस दुराशा और अनन्त उत्कण्ठा से कवि-जीवन व्यतीत करने की इच्छा हुई । संसार के समस्त अभावों को असन्तोष कहकर हृदय को धोखा देता रहा । परन्तु कैसी विडम्बना !"

"........संचित हृदय-कोष के अमूल्य रत्नों की उदारता और दारिद्रय का व्यंग्यात्मक कठोर अट्टहास, दोनों की विषमता की कौन-सी व्यवस्था होगी । मनोरथ को, भारत के प्रकाण्ड और बौद्ध पण्डित को परास्त करने में, मैं भी सद की प्रशंसा का भाजन बना । परन्तु हुआ क्या ?" —(पृ० सं० १२, १३)

मातृगुप्त—काश्मीर की प्रसिद्ध वार-विलासिनी मालिनी से प्रेम करता है । आलम्बन के बाजारू होने पर भी उसका प्रणय नहीं है । यही उसके अन्तर्द्वन्द्व का कारण है जिसे हम मानसिक क्लेश भी कह सकते हैं । उसके काश्मीर छोड़कर चले जाने पर मालिनी तो उसको भूल जाती है—"सोने के लिए नन्दन का अम्लान कुसुम बेच डालती है ।" परन्तु मातृगुप्त का मानस-सम्बन्ध स्थायी रहता है । तभी तो वह विदा होते समय कहता है—

"मैं इतना दृढ़ नहीं हूँ मालिनी !....कि तुम्हें इस अपराध के कारण भूल जाऊँ । पर वह स्मृति दूसरे प्रकार की होगी । उसमें ज्वाला न होगी । धुँआ उठेगा और तुम्हारी मूर्ति धुँधली होकर सामने आवेगी ।"

भटार्क—भटार्क मगध का नवीन महाबलाधिकृत है । वह स्वाभिमानी, दृढ़-प्रतिज्ञ एवं साहसी है । उसके चरित्र में सत् एवं असत्, दोनों ही प्रकार की वृत्तियों की प्रतिष्ठा है—दोनों में द्वन्द होता रहता है । आरम्भ में वह असत् वृत्तियों के प्रवाह में बहता रहता है । किन्तु घटनाओं के घात-प्रतिघात के फलस्वरूप एवं सत्संग के कारण वह अन्त में सन्मार्ग पर आ जाता है । भटार्क का चरित्र यथास्थान द्वन्द्व से परिपूर्ण है । इसी कारण रोचक है । कुमारगुप्त की कौशलपूर्ण मृत्यु, देवकी की हत्या का षड्यन्त्र, मालव में स्कन्द के विरुद्ध षड्यन्त्र की योजना, प्रपंच बुद्धि द्वारा देवसेना की हत्या का प्रयास,

इन सभी रोमांचकारी घटनाओं में भटार्क का हाथ रहता है। वह पृथ्वीसेन के विरोध को अपना अपमान मानकर बदला लेने के लिए कटिबद्ध हो जाता है। वह अनन्तदेवी से कहता है —"महादेवी ! कल सम्राट् के समक्ष जो विद्रूप और व्यंग्यवाण मुझ पर बरसाये गए हैं, वे अन्तस्तल में गड़े हुए हैं। उनके निकालने का प्रयत्न करूँगा, वे ही भावी विप्लव में सहायक होंगे।"

स्कन्दगुप्त उसको बंदी बनाकर छोड़ देता है। बस, उसका हृदय बदल जाता है। प्रपंच बुद्धि द्वारा देवसेना की बलि का प्रस्ताव सुनकर वह आकुल हो उठता है। स्कन्द के दुर्वह उपकार से वह लद जाता है। उसके मन का अन्तर्द्वन्द्व सर्वथा स्वाभाविक है। यथा—"मेरी वीरता पर दुर्वह उपकार का बोझ लाद दिया।........मैं कृतघ्नता से कलंकित होऊँगा और स्कन्दगुप्त से मैं किस मुँह से....नहीं-नहीं........।"

अनन्तदेवी के प्रति उसके मन की उथल-पुथल स्वाभाविक है। अनन्तदेवी की कामुक चेष्टाएँ अपना प्रभाव डालती हैं। उधर भटार्क की सच्चरित्रता प्रतिरोध करती है। यथा—

"एक दुर्भेद्य नारी-हृदय में विश्व-प्रहेलिका का रहस्य-वीज है। आह ! कितनी साहसशीला स्त्री है....देखूँ, गुप्त-साम्राज्य के भाग्य की कुंजी यह किधर घुमाती है।" —(पृ० ३०, १।४)

विजया—विजया में ऐश्वर्यवानों की सहज-मानसिक प्रवृत्तियाँ—विलास-भावना' मिथ्याभिमान, ईर्ष्या, सन्देह—मानो पुंजोभूत हैं। विलास-कामना उसके चरित्र की सर्वोपरि दुर्बलता है। वह स्कन्दगुप्त पर आसक्त होती है। परन्तु स्कन्दगुप्त का वैराग्यपूर्ण वार्त्तालाप सुनकर उसके मन में सन्देह उत्पन्न हो जाता है। यथा—"युवराज तो उदासीन हैं........दुर्बलता इन्हें राज्य से हटा रही है।"

अपनी विलास-प्रियता के कारण काफी ठोकरें खाने के बाद वह अपना हृदय-मन्थन करती है। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचती है—"स्वार्थपूर्ण मनुष्यों की प्रतारणा में पड़कर खो दिया—इस लोक का सुख और उस लोक की शान्ति।"

आदर्श पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व आदर्श को ठेस लगते देखकर होता है—अतः वह टिकाऊ भी है और प्रभावशाली भी। विजया का एक पतित पात्र है। उसके मन का द्वन्द्व वस्तुतः सौदेबाजी है, न उसमें प्रभाव है और न स्थायित्व। इसीलिए वह उसको निराशा का और अन्त में आत्म-हत्या का हेतु बनता है।

घटनाओं के घात-प्रतिघात द्वारा जिस प्रकार नाटक की कथावस्तु रोचक बन गई है, उसी प्रकार अन्तर्द्वन्द्व के कारण प्रसाद के पात्र अधिक वास्तविक, स्वाभाविक एवं विकासशील बन गए हैं। अन्तर्द्वन्द्व उनके चिन्तनशील स्वभाव का आवश्यक परिणाम है—उसके कारण पात्र अधिक सजीव बन गए हैं।

प्रश्न १९—'स्कन्दगुप्त' नाटक के 'भाषा-शैली' तत्त्व की विश्लेषणात्मक विवेचना कीजिए।

उत्तर—प्रसाद के नाटकों की भाषा, ('स्कन्दगुप्त' भी उनमें से एक है) व्याकरण-सम्मत एवं साहित्यिक है। उनकी भाषा के ऊपर क्लिष्टत्व का आरोप लगाया जाता है। हमारे विचार से यह आरोप आंशिक रूप से भले ही सत्य हो—क्योंकि भाषा का साहित्यिक होना और क्लिष्ट होना, दो भिन्न वस्तुएँ हैं।

आरम्भ में प्रसाद की भाषा बहुत ही सरल थी—परन्तु अध्ययन और अवस्था के साथ ज्यों-ज्यों उनकी चिन्तनशीलता में वृद्धि होती गई, त्यों-त्यों उनकी भाषा भावों के अनुरूप अधिकाधिक गम्भीर एवं गहन होती गई।

स्कन्दगुप्त नाटक की कथावस्तु ऐतिहासिक एवं भारत के प्राचीन सांस्कृतिक युग से सम्बद्ध है, अतः उसकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रचुरता सर्वथा स्वाभाविक ही है।

प्रसाद ने चरित्र-चित्रण करते समय प्रायः अन्तर्द्वन्द्व का सहारा लिया है। मनोभावों के द्वन्द्व को चित्रित करते समय लेखक भावमय हो ही जाता है। तल्लीनता की इस अवस्था में प्रसाद की भाषा संस्कृत-बहुल एवं समासयुक्त हो गई है। यथा—

(i) 'एक दुर्भेद्य नारी-हृदय में विश्व-प्रहेलिका का रहस्य-बीज है।'

—(पृ० सं० ३०, १।५)

× × ×

(ii) 'युद्ध क्या गान नहीं है ? रुद्र का शृङ्गनाद, भैरवी का ताण्डव नृत्य और शस्त्रों का वाद्य मिलकर, भैरव-संगीत की सृष्टि होती है।.................. ध्वंसमयी महामाया प्रकृति का वह निरन्तर संगीत है।'

—(पृ० सं० ४३, १।७)

× × ×

(iii) 'परन्तु महादेवी पर हाथ लगाया तो मैं पिशाचिनी-सी प्रलय की काली आँधी बनकर कुचक्रियों के जोवन की काली राख अपने शरीर में लपेट कर ताण्डव करूँगी।' —(पृ० सं० ६१, २।३)

(iv) 'कूलों में उफन कर बहने वाली नदी, तुमुल तरंग, प्रचण्ड पवन और भयानक वर्षा।' —(पृ० सं० ९४, ३।४)

× × ×

(v) 'हिमालय से निकली हुई सप्तसिन्धु तथा गंगा-यमुना की घाटियाँ किसी आर्य सद्गृहस्थ के स्वच्छ और पवित्र आँगन-सी, भूखी जाति के निर्वासित प्राणियी को अन्नदान देकर सन्तुष्ट करेंगे।'

—(पृ० सं० ११४, ४।३)

तथा—

(vi) 'सङ्गीत-सभा की अन्तिम लहरदार और आश्रयहीन तान धूपदान की एक क्षीण गन्ध-रेखा, कुचले हुए फूलों का म्लान सौरभ और उत्सव के पीछे का अवसाद—इन सबों की प्रतिकृति मेरा क्षुद्र नारी-जीवन !'

—(पृ० १३१, ४।२)

'स्कन्दगुप्त' नाटक केवल जन-साधारण के मनोरंजनार्थ नहीं, अपितु अध्ययन की दृष्टि से लिखा गया है। इसमें संघर्ष के चित्रों के अतिरिक्त भावात्मक एवं विश्लेषणात्मक स्थल भी हैं।

'स्कन्दगुप्त' में यथास्थान दार्शनिक विचारों की छाप है। नियतिवाद, आध्यात्मिक विवेचन आदि की चर्चा यथास्थान हुई है। यही कारण है कि नाटक की शैली में गूढ़ता एवं गम्भीरता परिलक्षित होती है।

जैसा हम अन्यत्र लिख चुके हैं—प्रसाद जी पहिले कवि हैं, पीछे नाटककार अथवा और कुछ। यही कारण है कि गम्भीर विवेचन कवि-हृदय-सुलभ

भावुकता में पर्यवेष्टित दिखाई देता है तथा कलात्मक चमत्कार की छटा छिटकी हुई मिलती है। भाषा में उनका कवि-हृदय झाँकता हुआ दिखाई देता है। अपनी बात को काव्योचित रोचकता प्रदान करते समय प्रसाद ने सुन्दर उक्तियों एवं लाक्षणिक प्रयोगों का व्यवहार किया है। यथा—

(क) कवि-हृदय

"अमृत के सरोवर में स्वर्ण-कमल खिल रहा था, भ्रमर वंशी बजा रहा था, सौरभ और पराग की चहल-पहल थी। सवेरे सूर्य की किरणें उसे चूमने को लौटती थीं, सन्ध्या में शीतल चाँदनी उसे अपनी चादर से ढक लेती थी। उस मधुर सौन्दर्य, उस अतीन्द्रिय जगत् की साकार कल्पना की ओर मैंने हाथ बढ़ाया था, वहीं वह स्वप्न टूट गया।" —(पृ० सं० २३, १।३)

प्रकृति का यह वर्णन सर्वथा संश्लिष्ट एवं सजीव है। प्रकृति का मानवीकरण भी देख लीजिए—

"उस हिमालय के ऊपर प्रभात-सूर्य की सुनहरी प्रभा से आलोकित बर्फ का—पीले पुखराज का-सा एक महल था। उसी से नवनीत की पुतली विश्व को झाँक कर देखती थी।···सुनहली किरणों को जलन हुई। तप्त होकर महल को गला दिया।················कल्पना की भाषा के पंख गिर जाते हैं, उसे मौन नीड़ में निवास करने दो।" —(पृ० सं० १४, १।३)

यहाँ पर 'मौन नीड़' में विशेषण-विपर्यय है।

कवि-हृदय-प्रसूत गद्य की भाषा सचमुच बड़ी ही रोचक, प्रवाहमय एवं सजीव है—"हृदय को छीन लेने वाली स्त्री के प्रति हृतसर्वस्व रमणी पहाड़ी नदियों से भयानक ज्वालामुखी के विस्फोट से वीभत्स और प्रलय की अनल-शिखा से भी लहरदार होती है। —(पृ० सं० १०६, ४।१)

(ख) वर्ण्य-विषय की मूर्तिमत्ता

"जो चूहे के शब्द से भी शंकित होते हैं, जो अपनी साँस से चौंक उठते हैं; उनके लिए उन्नति का कंटकित मार्ग नहीं है।" —(पृ० सं० २७, १।४)

× × ×

"गुप्त साम्राज्य के हीरों के से उज्ज्वल-हृदय, वीर युवकों का युद्ध रक्त, सब मेरी प्रतिहिंसा राक्षसी के लिए बलि हों।" —(पृ० सं० ३६, १।५)

× × ×

तथा—

"मेरी कल्पना के सुन्दर स्वप्नों का प्रभात हो रहा है। नाचती हुई नीहार-कणिकाओं पर तीखी किरणों के भाले !....आलस्य-सिन्धु में शेषपर्यङ्क-शायी सुषुप्तिनाथ जायेंगे, सिन्धु में हलचल होगी, रत्नाकर से रत्न राजियाँ आर्यावर्त्त की वेला-भूमि पर निछावर होंगी।" —(पृ० सं० ११४, ३।४)

प्राचीन उपमानों के नवीग प्रयोग के फलस्वरूप भाषा बहुत ही हृदय-स्पर्शिनी बन गई है। यथा—

"तुम्हारे अपराध ही तुम्हारे मर्मस्थल पर सैकड़ों बिच्छुओं के डंक की चोट करेंगे।" —(पृ० सं० ७८, २।७)

—"शान्ति रजनी में मैं ही धूम-केतु हूँ।"

"....संसार का मूल शिक्षक 'श्मशान' क्या डरने की वस्तु है ?"

तथा—

"सिंह की विहार-स्थली में श्रृगाल-वृन्द सड़ी लोथ नोंच रहे हैं।"

—(पृ० सं० १२४, ४।७)

"सिंहासन के सिंह सोने के हैं....आदित्य में गर्मी नहीं है।....समस्त भारत हूणों के चरणां में लोट रहा है।"

मुहावरों और कहावतों का प्रयोग प्रायः भाषा को सजीव एवं चुलबुली बनाने के लिए किया जाता है। यही कारण है कि उर्दू लिखने वालों की शैली मुहावरों एवं कहावतों से भरी रहती है, क्योंकि चुलबुलाहट एवं लचक उर्दू की जान हैं।

'स्कन्दगुप्त' में प्रसाद ने अनेक मुहावरों का प्रयोग किया है। विशेषतया यह है कि उनमें उर्दू के ढंग का न हलकापन है और न चुलबुलापन परन्तु फिर भी उनकी प्रभावशीलता अक्षुण्ण है। यथा—

(१) सिंह की पूँछ उखाड़ सकता हूँ। —(पृ० ३२)

(२) देवता कूच कर जाते हैं। —(पृ० ३२)

(३) प्रत्येक भित्ति के, किवाड़ों के कान होते हैं। —(पृ० ५४)

(४) भूखे भेड़िये की भाँति उसका रक्तपान कर लूँगा। —(पृ० ५५)

(५) नशा उखड़ा जा रहा है। —(पृ० ६०)

(६) लोहे को अपना आभूषण नहीं बनाया। —(पृ० ६८)

(७) रोड़े न बिछावें। —(पृ० ८६)

(८) क्यों घाव पर नमक छिड़कती है! —(पृ० ९४)

(९) आज इस नदी की धारा को लाल करके बहा देने की मेरी प्रतिज्ञा है। —(पृ० ९९)

(१०) मैं आज ही पासा पलट सकती हूँ। —(पृ० १०५)

(११) ठीकरा इसी सिर पर फूटने को था। —(पृ० १२३)

इसी प्रकार कहावतों के भी बड़े ही सार्थक एवं अभिनव प्रयोग हुए हैं। यथा—

(१) क्या मेरी खड्गलता आग के फूल नहीं बरसाती! —(पृ० ७१)

(२) जब कोई न मिला तब फटे ढोल की तरह मेरे गले पड़ी। —(पृ० ९६)

(३) समय वदलने पर लोगों की आँखें भी बदल जाती हैं।—(पृ० १२८)

(४) आवश्यकता ही संसार के व्यवहारों को दलाल है। —(पृ० १२८)

अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण के समय इनकी शैली में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का सजीव रूप दिखाई देता है।[1]

बीच-बीच में तीखे व्यंग्य के तीर भी मिल जाते हैं। यथा—

"तुम्हारी लङ्का में अब राक्षस नहीं रहते? क्यों धातुसेन!"

—(पृ० सं० १५)

"व्यंग्य की चोट बड़ी गहरी होती है परन्तु 'व्यंग्य की विषज्वाला रक्त-धारा से भी नहीं बुझती।" —(पृ० सं० ६४)

---

१. देखें पृ० सं० ९१ (५।१) पर विजया एवं भटार्क के कथन।

नाटक की नीरसता एवं शुष्कता के निवारण के लिए नाटककार ने यथा-स्थान हास्य के छींटे दिए हैं। इनके द्वारा पाठक की हृदय-कलिका खिल जाती है, गम्भीर विवेचन में थोड़ी देर के लिए विश्राम मिल जाता है और वह ऊबने नहीं पाता। अन्य नाटकों की भाँति इस नाटक में भी विदूषक का प्रयोग इसी विचार से किया गया है।

नाटक में हास्य की योजना तीन प्रकार से की गई है। यथा—

(क) वातावरण-विशेष का परिचय देने के लिए;

(ख) पात्र-विशेष की विनोदप्रियता सूचित करने के लिए अर्थात् विदूषक आदि की योजना; तथा

(ग) गम्भीर अथवा भयावने दृश्य से ऊबे हुए या विक्षुब्ध प्रेक्षक एवं पाठक के मन को हलका करके उसे पुनः सामान्य स्थिति में लाने के लिए।

(क) वातावरण-परिचय हास्य-योजना

कुमारगुप्त—(हँसते हुए) "तुम्हारी लंका में अब राक्षस नहीं रहते ? क्यों धातुसेन !"

धातुसेन—"राक्षस यदि कोई था तो विभीषण और बन्दरों में भी सुग्रीव हो गया था।....

और सबसे बड़ी बात तो यह थी कि उनकी तारा का मंत्रित्व। सुना है सम्राट् ! स्त्री की मन्त्रणा बड़ी ही अनुकूल और उपयोगी होती है, इसलिए उन्हें राज्य के झंझटों से शीघ्र छुट्टी मिल गई। परम भट्टारक की दुहाई ! "एक स्त्री को मन्त्री आप भी बना लें, बड़े-बड़े दाढ़ी-मूँछ वाले मन्त्रियों के बदले उसकी एकान्त-मन्त्रणा कल्याणकारिणी होगी।" —(१।२)

यह वातावरण की योजना हेतुक हास्य है। संकेत यह है कि जब गुप्त साम्राज्य पर आपत्ति के बादल मँडरा रहे हैं, तब भी गुप्त-सम्राट् उनकी ओर से सर्वथा निश्चित होकर विनोदादिक निरर्थक बातों में व्यस्त हैं—इतने अधिक कि महामात्य पृथ्वीसेन को भी राजनीति-विषयक आवश्यक परामर्श के लिए बहुत देर तक रुकना पड़ता है।

इस कथोपकथन में पाठक या प्रेक्षक को हँसना अभीष्ट नहीं है, बल्कि एक वातावरण-विशेष का परिचय देना उद्देश्य है। सम्राट् कुमारगुप्त के

वाक्य जहाँ विनोद की सामग्री हैं, वहाँ धातुसेन को उक्तियों में व्यंग्य-ध्वनि निहित है, जो आगे के वार्त्तालाप में और भी अधिक सजीव एवं स्पष्ट हो जाती है—

धातुसेन—वह चाणक्य कुछ भाँग पीता था। उसने लिखा है कि राजपुत्र भेड़िये हैं, इनसे पिता को सदैव सावधान रहना चाहिए।

कुमारगुप्त—यह राष्ट्रनीति है।

धातुसेन—भूल गया। उसके बदले उस ब्राह्मण को लिखना था कि राजा लोग ब्याह ही न करें, क्यों भेड़िये की सन्तान उत्पन्न हों।

(ख) पात्र-प्रकृति-परिचायक योजना

हास्य की दृष्टि से नाटक के पात्रों को स्थूलतः दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—(i) हँसोड़ प्रकृति के पात्र, जिनकी वेष-भूषा, चाल-ढाल, कार्य व्यवहार, भाव-भंगिमा आदि सबके द्वारा उसकी हँसोड़ प्रकृति का पता लगता है। विदूषक इस कोटि का पात्र होता है।

(ii) अन्य पात्र जो विदूषक आदि को देख तथा अन्य माध्यमों से हास्य की योजना करते हैं।

स्कन्दगुप्त नाटक में मुद्गल विदूषक है और उसकी योजना का यही उद्देश्य है कि वह सबका मानसिक शैथिल्य दूर करे।

प्राचीन भारतीय नाटकों की परम्परा के अनुसार स्कन्दगुप्त नाटक का विदूषक पेटू या खाऊ है। वह अनेक दृश्यों में अपने पेटूपन की चर्चा करता हुआ प्रवेश करता है। —(देखें, पृ० सं० १८, ३७, ४१)

यह स्वीकार करना पड़ता है कि उसकी युक्तियों में हँसाने की सामर्थ्य नहीं है। वे बहुत ही स्थूल हो गयी हैं। एक उदाहरण देखिए—

देवसेना—आज कौन-सी तिथि है? एकादशी तो नहीं है?

मुद्गल—हाँ, यजमान के घर एकादशी और मेरे पारण की द्वादशी, क्योंकि ठीक मध्याह्न में एकादशी के ऊपर द्वादशी चढ़ बैठती है—उसका गला दबा देती है, पेट पिचकने लगता है।

विदूषक मुद्गल के अतिरिक्त अन्य पात्रों द्वारा भी हास्य की सृष्टि करने एवं विनोद का वातावरण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। उद्देश्य अपने

चित्त को हलका करना तथा वातावरण की गम्भीरता दूर करना है। पात्रों के इस प्रकार के वार्त्तालाप का पुनः दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(i) वे वार्त्तालाप, जो मंच पर विदूषक को देखकर पात्र विशेष के हृदय में जाग्रत होते हैं, तथा (ii) वे वार्त्तालाप, जो विदूषक के अतिरिक्त अन्य पात्रों के बीच होते हैं। 'स्कन्दगुप्त' में दोनों के उदाहरण मौजूद हैं—

(i) वृक्ष की छाया में गठरी रखकर ऊँघते हुए विदूषक मुद्गल को देखकर मातृगुप्त कहता है—'यह मुद्गल (विदूषक) भी आ पहुँचा। चलें इसे कुछ तंग करें, थोड़ा मनोविनोद ही सही।' (कपड़े से मुँह छिपाकर, गठरी खींचकर चलता है।) —(१।६)

यह विदूषक को देखकर जाग्रत होने वाली विनोद-प्रियता है।

(ii) अन्यत्र वर्णित धातुसेन एवं कुमारगुप्त का वार्त्तालाप द्वितीय प्रकार के वार्त्तालाप के अन्तर्गत आएगा।

(ग) विक्षुब्ध चित्त को सामान्य स्थिति में लाने के लिए हास्य-योजना

इस प्रकार की योजना द्वारा गम्भीर दृश्यों के पश्चात् पाठक के चित्त को भरा-हरा करके सामान्य स्थिति में लाने का प्रयत्न किया गया है। प्रथम अङ्क के पाँचवें दृश्य में भयंकर घटनाएँ और महामात्य, महाप्रतिहार तथा महादण्ड-नायक, तीन-तीन व्यक्तियों की आत्महत्याएँ दिखाने के पश्चात् छठे दृश्य का आरम्भ मुद्गल की वार्त्ता द्वारा होता है।

इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण है द्वितीय अङ्क का दूसरा दृश्य, जिसमें प्रपंच-बुद्धि' भटार्क और शर्वनाग के कुचक्र के अनन्तर मुद्गल और धातुसेन का विनोदपूर्ण वार्त्तालाप होता है। तथा—

तृतीय अङ्क के चतुर्थ दृश्य में देवसेना की आन्तरिक व्यथा से व्यथित दर्शकों एवं पाठकों का चित्त कुछ हलका हो जाय।

हास्य के अवसर, स्थान एवं उसकी व्यंजना देखकर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि 'स्कन्दगुप्त' की हास्य-योजना विशेष सफल एवं प्रभावशाली नहीं है, वह द्वितीय कोटि की है। हँसी की बातें तो की जाती हैं परन्तु वे शुष्क हैं, उनमें हँसी की कोई बात न होने के कारण हँसी नहीं आ पाती। प्रेक्षक यह तो

सोचता है कि बात तो हँसी की है परन्तु हँस नहीं पाता। हाँ, इतना अवश्य है कि उनके द्वारा प्रेक्षक एवं पाठक का मन अवश्य हलका हो जाता है और वह आगामी घटना-क्रम के लिए तैयार हो जाता है। प्रसाद जैसा गम्भीर विचारक एवं दार्शनिक प्रकृति का व्यक्ति यदि हँसने-हँसाने में विशेष निपुण न हो तो यह स्वाभाविक ही है।

प्रसाद जी की भाषा-शैली बाह्यार्थ-निरूपक कम, आभ्यंतर-निरूपक अधिक है। वह देश, काल और पात्र के सर्वथा अनुरूप है। लक्षणा, रूपकों, मुहावरों एवं लोकोक्तियों के प्रयोग द्वारा वह सजीव हो उठी है।

प्रश्न २०—स्कंदगुप्त के 'कथोपकथन' नाटकीयता में साधक सिद्ध हुए हैं अथवा बाधक ?

उत्तर—'कथोपकथन' नाटक के जीवनाधार होते हैं। कथावस्तु को आगे बढ़ाने में तथा पात्रों के चरित्र का उद्‌घाटन करने में—सभी प्रकार से वे सहायक सिद्ध होते हैं। उपयोग के आधार पर कथोपकथन सामान्यतः पाँच प्रकार के होते हैं—(१) कथावस्तु-प्रकाशक, (२) चरित्र प्रकाशक, (३) तुरत-बुद्धि-प्रकाशक, (४) मत-निर्धारण करने वाले, तथा (५) मानसिक स्थिति प्रकट करने वाले। सफल कथोपकथन की विशेषताएँ इस प्रकार मानी जाती हैं—

(i) वे देश, काल व पात्र की परिस्थिति, भाव एवं रुचि के अनुकूल हों।

(ii) वे विदग्ध, मार्मिक, सजीव एवं सामाजिक का हृदय स्पर्श करने वाले हों।

(iii) वे संक्षिप्त, सारगर्भित एवं व्यंग्यात्मक हों; तथा

(iv) वे नाटकीय उत्सुकता जाग्रत करने में समर्थ हों।

अब हम नीचे 'स्कन्दगुप्त' नाटक के कथोपकथनों की समीक्षा करेंगे—

१—कथावस्तु-प्रकाशक कथोपकथन—ऐसे कथोपकथनों का उद्देश्य नाटक की कथा और उसकी सामान्य गति-विधि का परिचय प्रदान करना होता है। ये जितने ही संक्षिप्त हों, उतने ही अच्छे समझे जाते हैं—क्योंकि ऐसे स्थलों पर प्रेक्षक विवरणात्मक परिचय नहीं चाहता, केवल संकेत भर चाहता है। इस प्रकार के कथोपकथन स्कन्दगुप्त नाटक में अनेक हैं। यथा—

दूत—इतनी ही नहीं, शक-राष्ट्रमण्डल चंचल हो रहा है। नवागत म्लेच्छ-वाहिनी से सौराष्ट्र भी पदाक्रान्त हो चुका है, इसी कारण पश्चिमी मालव भी अब सुरक्षित न रहा।

पर्णदत्त—वलभी का क्या समाचार है ?

दूत—वलभी का पतन अभी रुका है। किन्तु बर्बर हूणों से उसका बचना कठिन है। मालव की रक्षा के लिए महाराज बन्धुवर्मा ने सहायता माँगी है। दशपुर की समस्त सेना सीमा पर जा चुकी है। —(पृ० १२-१३, १।१)

उक्त कथोपकथन तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों को स्पष्ट कर देता है तथा घटनाक्रम जानने के लिए प्रेक्षक के मन में उत्सुकता जाग्रत करता है। निम्नलिखित कथोपकथन गुप्त साम्राज्य की तत्कालीन स्थिति का परिचय देता है, अयोध्या की घटनाओं की सूचना देता है तथा पर्णदत्त एवं स्कन्दगुप्त के स्वभावों से अवगत कराता है—

पर्णदत्त—अपने अधिकारों के प्रति आपकी उदासीनता और अयोध्या में नित्य नये परिवर्तन।

× × ×

अनेक समरों के विजेता, महायानी, गुप्त-साम्राज्य के महाबलाधिकृत अब इस लोक में नहीं हैं। इधर प्रौढ़ सम्राट् के विलास की मात्रा बढ़ गयी है।

स्कन्दगुप्त—चिन्ता क्या आर्य ! अभी तो आप हैं, तब भी मैं ही सब विचारों का भार वहन करूँ, अधिकार का उपयोग करू ? वह भी किस लिए ?

२—**चरित्र-प्रकाशक कथोपकथन**—कथोपकथनों द्वारा पात्रों के चरित्र का उद्घाटन होता है। कभी स्वयं के कथन द्वारा, कभी अन्य पात्र के साथ वार्त्तालाप द्वारा और अभी अनुपस्थित पात्र के बारे में अन्य पात्रों की बातचीत द्वारा।

स्कन्दगुप्त द्वारा दूत के प्रति कहे गए कथन द्वारा उसके चरित्र का उद्घाटन हो जाता है—

'दूत ! केवल सन्धि-नियम ही से हम लोग बाध्य नहीं हैं किन्तु शरणागत की रक्षा भी क्षत्रिय का धर्म है।........जाओ, निर्भय निद्रा का सुख लो ! स्कन्दगुप्त के जीते जी मालव का कुछ न बिगड़ सकेगा।'

दूत—धन्य युवराज ! आर्य साम्राज्य के भावी शासक के उपयुक्त ही यह बात है।

इस वार्त्तालाप द्वारा दूत की वाक्चातुरी, पर्णदत्त की गम्भीरता और स्कन्दगुप्त की क्षत्रियोचित शरणागत-वत्सलता का स्पष्ट परिचय मिल जाता है।

कथोपकथन की स्वाभाविकता के लिए यह आवश्यक है कि पात्र-विशेष के वर्ग, संस्कार आदि को ध्यान में रखा जाय। प्रसाद जी ने चरित्र-प्रकाशक कथोपकथन में उक्त दृष्टिकोण को सदैव सामने रखा है। इसी कारण उनके कथोपकथन सार्थक एवं सफल हैं।

नाटक के प्रथम अङ्क के सातवें दृश्य में जयमाला विजया को विदेशियों के आक्रमण का भय दिखाने के हेतु कुछ व्यंग्य के साथ कहती है—

जयमाला—रक्षा का एक निश्चित उपाय तुम्हारी अपार धनराशि में से एक क्षुद्र अंश, वही इन धन-लोलुप शृगालों को दे दिया जाता तो निश्चय ही यह विपत्ति न आती।

विजया—किन्तु इस प्रकार अर्थ देकर विजय खरीदना तो देश की वीरता के प्रतिकूल है।

इस स्थिति में विजया के अतिरिक्त यदि और कोई होता तो तुरन्त ही 'हाँ' कह देता। परन्तु वह ठहरी श्रेष्ठि-कन्या, जिसके लिए धन ही सर्वस्व है। "हम सह जाउ पै तुहिका ना भुनाव" की घुट्टी पिये हुए वणिक-कन्या जयमाला को ऐसा उत्तर देती है कि वह निरुत्तर हो जाती है। किसी अन्य युवती की भाँति यदि विजया भी संकट से बचने से लिए आवेश में आकर धन देने को प्रस्तुत हो जाती तो कथोपकथन इतना स्वाभाविक एवं सजीव न होता।

नाटक का कोई स्थल ले लिया जाय, चरित्र-प्रकाशक कथोपकथन झाँकता हुआ मिल जायगा।

३—**तुरतबुद्धि-प्रकाशक कथोपकथन**—इनके द्वारा पात्र के वाक्चातुर्य एवं सूझ-बूझ का परिचय प्राप्त होता है। ऐसे उत्तरों को सुनकर प्रेक्षक का हृदय चमत्कृत हो जाता है—साथ ही उसकी उत्सुकता भी बढ़ जाती है। यथा—

मुद्गल—गीता सुनने के बाद क्या हुआ ?

मातृगुप्त—महाभारत !

मुद्गल—तव भइया, इस गठरी के लिए महाभारत का एक लघु संस्करण हो जाना आवश्यक है। गठरी से हाथ लगाया कि डण्डा लगा।

मातृगुप्त—मुद्गल ! डण्डा मत तानो, मैं वैसा मूर्ख नहीं कि सूच्यग्रभाग के लिए दूध और मधु से बना हुआ एक बूँद रक्त भी गिराऊँ। —(पृ० सं० ३८)

तुरत बुद्धि का निम्न उदाहरण बहुत ही प्रभावशाली है। देखिए—

विजया के सामने देवसेना गीत गा रही है। उद्देश्य अपनी प्रेम-पीड़ा को बहलाना है। इतने में ही उसका बड़ा भाई बन्धुवर्मा वहाँ आ जाता है। उसके कथन का उत्तर देवसेना की तुरतबुद्धि का परिचायक है। यथा—

वन्धुवर्मा—देवसेना, तुझे गाने का विचित्र रोग है।

देवसेना—रोग तो एक न एक सभी को लगा है। परन्तु यह रोग अच्छा है। इससे कितने रोग अच्छे किए जा सकते हैं। —(पृ० सं० ५२)

४—**मत-निर्धारण करने वाले कथोपकथन**—चिन्तनशील व्यक्ति अनेक विषयों पर अपना मत प्रकट करता है। अतः प्रसाद के नाटकीय पात्र यथावसर अनेक विषयों के सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करते रहते हैं। यथा—

धातुसेन—····प्रकृति क्रियाशील है। समय पुरुष और स्त्री की गेंद लेकर दोनों हाथों से खेलता है। पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग की समष्टि अभिव्यक्त की कुंजी है। पुरुष उछाल दिया जाता है, उत्प्रेक्षण होता है। स्त्री आकर्षण करती है। यही जड़-प्रकृति का चेतन रहस्य है। —(पृ० सं० २५)

५—**मानसिक स्थिति प्रकट करने वाले कथोपकथन**—इस प्रकार के कथोपकथन प्रायः स्वगत-कथन होते हैं। अन्तर्द्वन्द्व-प्रधान नाटकों में इनकी प्रचुरता सर्वथा स्वाभाविक ही है। स्कन्द की वैराग्य-भावना प्रकट करने वाले समस्त कथोपकथन इसी कोटि के अन्तर्गत आयेंगे। यथा—

मातृगुप्त का यह कथन—"कविता करना अनन्त पुण्यों का फल है। इस दुराशा और अनन्त उत्कण्ठा में कवि-जोवन व्यतीत करने की इच्छा हुई।.... मनोरथ को, भारत के प्रकाण्ड और बौद्ध पण्डित को परास्त करने में, मैं सबकी प्रशंसा का भाजन बना। परन्तु हुआ क्या ?" —(पृ० सं० २१)

तथा —भटार्क का यह स्वगत-कथन—

"अपने कुकर्मों का फल चखने में कड़वा परन्तु परिणाम में मधुर होता है। ....मेरी उच्च आकांक्षा, वीरता का दम्भ—पाखण्ड की सीमा तक पहुँच गया।" —(पृ० सं० १२९)

इसके द्वारा भटार्क के चरित्र पर भी प्रकाश पड़ता है। उसका पश्चात्ताप भी प्रकट होता है तथा उसकी वृत्तियों के उदात्त रूप का भी उद्घाटन होता है।

इन स्वगत-कथनों में कई तो २०-२५ पंक्तियों तक चले जाते हैं और व्याख्या से प्रतीत होने लगते हैं। ये कथोपकथन भले ही अपने उद्देश्य की पूर्ति करते हों परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से नाटक की रोचकता एवं अभिनेयता में बाधक हैं। इनके कारण प्रेक्षक ऊबने लगता है।

तृतीय अङ्क के द्वितीय दृश्य के आरम्भ में स्कन्दगुप्त का स्वगत-कथन यद्यपि स्कन्दगुप्त की चरित्र-सम्बन्धी विशेषताओं पर प्रकाश डालता है, तत्कालीन स्थिति एवं उसके सम्बन्ध में स्कन्दगुप्त के दृष्टिकोण की व्याख्या करता है, विजया के सम्बन्ध में उसके वे विचार प्रकट करता है, जिनकी कोई सूचना मंच पर नहीं मिली है, भावी गति-विधि को ओर संकेत करता है, फिर भी वह आवश्यकता से अधिक लम्बा एवं व्याख्यान जैसा है।

६—**छोटे एवं सजीव कथोपकथन**—स्कन्दगुप्त में कई स्थलों पर बड़े ही स्वाभाविक एवं सजीव कथोपकथन हैं। वे छोटे-छोटे हैं, उनमें वास्तविक वार्त्तालाप का आनन्द आता है। वे पात्र, देश-काल एवं रुचि के अनुकूल हैं। यथा—

भटार्क—कौन !

शर्वनाग—नायक शर्वनाग।

× × ×

भटार्क—तुमको मेरे साथ चलना होगा ।

शर्व०—मैं प्रस्तुत हूँ, कहाँ चलूँ ?

भटार्क—महादेवी के द्वार पर ।

शर्व०—वहाँ मेरा क्या कर्त्तव्य होगा ?

भटार्क—कोई भीतर न जाने पावे और न भीतर से बाहर आने पावे ।

शर्व०—इसका तात्पर्य ?

भटार्क—तुमको महाबलाधिकृत की आज्ञा पालन करनी चाहिए ।

शर्व०—तब भी, क्या स्वयं महादेवी पर नियन्त्रण रखना होगा ?

भटार्क—हाँ ।

शर्व०—ऐसा ?

भटार्क—ऐसा ही । —(पृ० सं० ३१-३२, ११५)

उक्त कथनोपकथन बहुत ही संक्षिप्त, सारगर्भित एवं सजीव है ।

रामा और शर्वनाग का निम्नलिखित वार्त्तालाप बहुत ही मार्मिक, विदग्ध एवं प्रेक्षक के हृदय को स्पर्श करने वाला है—

शर्व०—तुमको रानी बना दूँगा ।

रामा—क्या ?

शर्व०—तुम्हें सोने से लाद दूँगा ।

रामा—किस तरह ?

× × ×

रामा—(डरती हुई)—क्या करोगे ? तुम पिशाच की दुष्कामना से भी भयानक दिखाई देते हो ! तुम क्या करोगे ? बोलो ।

(पृ० सं० ६०, २३)

इस प्रकार के छोटे-छोटे, वाग्वैदग्ध्यपूर्ण एवं हृदयस्पर्शी कथनोपकथन नाटक में भरे पड़े हैं ।[1]

'स्कन्दगुप्त' नाटक में पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों के ढंग के कुछ पद्यात्मक कथोपकथन भी हैं । यह पद्यात्मकता नाटक के प्रति विशेष आकर्षण जाग्रत करती है ।

---

१. देखें, पृ० सं०—१७, २७, ३५,४१, ५२, ७८, ७६, १०३, १३२, १४१ ।

स्त्रियाँ—हे नाथ !

हमारे निर्बलों के बल कहाँ हो ?
हमारे दीन के सम्बल कहाँ हो ?

पुरुष— नहीं हो नाम ही बस नाम है क्या ?
सुना केवल यहाँ हो या वहाँ हो !

स्त्रियाँ— पुकारा जब किसी ने तब सुना था
भला विश्वास यह हमको कहाँ हो !
(स्त्रियों को पकड़कर हूण खींचते हैं ।)

मातृगुप्त—हे प्रभु !

हमें विश्वास दो अपना बना लो ।
सदा स्वच्छन्द हों—चाहे जहाँ हो ।

—(पृ० सं० ४०, १।४)

सारांश यह है कि 'स्कन्दगुप्त' नाटक के कथोपकथन प्रसाद के अन्य नाटकों की अपेक्षा अधिक सजीव, प्रभावशाली एवं संक्षिप्त हैं । चतुर्थ एवं पंचम अङ्कों के अन्त के कथोपकथन तथा कुछ स्वगत-कथन अवश्य ही कुछ विस्तृत हो गए हैं । ये लम्बे-लम्बे कथोपकथन वस्तुतः सोद्देश्य हैं । इनके द्वारा पात्र की चारित्रिक विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है तथा कथावस्तु से सम्बन्धित अनेक तथ्य सामने आते हैं ।

अतः इस नाटक के कथोपकथन घटनाक्रम-विकास, चरित्र-चित्रण, वातावरण-सृष्टि तथा नाटकीय उत्सुकता-जागरण, सभी दृष्टियों से सफल हैं ।

प्रश्न २१—'स्कन्दगुप्त' नाटक के आधार पर प्रसाद की चरित्र-चित्रण-कला पर विचार व्यक्त कीजिए ।

उत्तर—शुभाशुभ व्यवहार अथवा धर्माचरण के आधार पर मानव को सामान्यतः तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है । यथा—

(क) सत्त्व-प्रधान, जिनमें सद्‌वृत्तियों की प्रधानता रहती है । इनका आचरण सदैव श्रेष्ठ अथवा सत् रहता है । ये लोग अनेकानेक कष्ट एवं विपत्तियाँ आने पर भी अपने मार्ग पर अडिग बने रहते हैं । इनको हम 'आदर्शवादी' अथवा 'देवोपम' पात्र कहते हैं ।

(ख) वे लोग, जिनमें असत् वृत्तियों का प्रधान्य रहता है। इस वर्ग के व्यक्तियों का अधर्म-पक्ष इतना प्रबल हो जाता है कि उनकी सद्वृत्तियाँ प्रायः दब जाती हैं और वे पापी समझे जाने लगते हैं। इन्हें हम दुराचारी, दुरात्मा या 'खल' कहते हैं। तमोगुण-प्रधान होने के कारण इन्हें 'दानव' भी कह दिया जाता है। तथा—

(ग) सामान्य व्यक्ति—जिनमें गुण-अवगुण, सदसद्‌वृत्तियाँ समान रूप से रहती हैं। ये कभी शुभ और कभी अशुभ व्यवहार करते देखे जाते हैं। अवसर और स्थिति के अनुसार इनके जीवन के शुभ और अशुभ, सत् एवं असत् पक्ष उभरते रहते हैं। इस वर्ग के व्यक्ति कभी विकासोन्मुख और कभी पतनोन्मुख दिखाई देते हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि समाज में सर्वाधिक संख्या इसी अन्तिम वर्ग के व्यक्तियों की—सामान्य व्यक्तियों की, परिस्थितियों के दास व्यक्तियों की ही है।

जीवन का सर्वाङ्गीण एवं सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत करने वाले कलाकार तीनों ही प्रकार के व्यक्तियों का वर्णन करते हैं। सत् और असत् देव और दानव पात्रों के संघर्ष द्वारा असत् के ऊपर सत् की, अधर्म के ऊपर धर्म की विजय दिखाई जाती है। धर्म-विजय का ही दूसरा नाम 'आदर्श की प्रतिष्ठा' है। इस आदर्शवाद का स्वरूप सामान्यतः यह रहता है कि आरम्भ में 'दानवपक्ष' प्रबल दिखाई देता है और 'देवपक्ष' पर कष्ट पड़ते हैं। धीरे-धीरे देवपक्ष प्रबल होता है और दानवपक्ष दुर्बल पड़ने लगता है। दानव पराजित होने लगते हैं, कुछ नष्ट हो जाते हैं, कुछ पश्चात्ताप करते हैं अथवा अपने कर्मों का फल भोगते हैं तथा कुछ की वृत्तियों का परिष्कार ही हो जाता है और वे अपने अधर्माचरण का परित्याग करके देवपक्ष में सम्मिलित हो जाते हैं।

सांसारिक संघर्ष, बाह्य द्वन्द्व का यह रूप आदर्शवादी साहित्य की आधार-शिला होता है। भारतवर्ष के साहित्यकारों ने इसी मार्ग का अवलम्बन किया है। वाल्मीकि रामायण, महाभारत, रामचरितमानस प्रभृति ग्रन्थ इसी कोटि के हैं। नाटकों के अन्तर्गत इस द्वन्द्व का सजीव एवं साकार रूप दिखाया जा सकता है। 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' का यही तात्पर्य है।

'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे के अनुसार हमारे मन के भीतर भी सदसद् वृत्तियों का संघर्ष होता रहता है। कभी तो हमारा देवपक्ष प्रबल पड़ जाता है, कभी दानवपक्ष। शान्ति के क्षणों में हमारी वृत्ति सामान्यतः सत्त्व-प्रधान, धर्म-प्रदान होती है किन्तु आवेश के समय हमारा दानवपक्ष प्रबल पड़ जाता है और हम चाहे जो कुछ कर बैठते हैं। इन दो विरोधी स्थितियों में एक ही व्यक्ति के व्यवहारों में इतना विरोध एवं अन्तर होता है कि वे दो विभिन्न कोटि के व्यक्तियों के व्यवहार प्रतीत होते हैं। यह आन्तरिक द्वन्द्व मानव मात्र के अन्दर होता है और निरन्तर होता रहता है—इसे 'अन्तर्द्वन्द्व' कहते हैं। यह अन्तर्द्वन्द्व बाह्यद्वन्द्व की अपेक्षा कहीं अधिक स्वभाविक, सजीव एव सत्य होता है। अतः इस मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व का विशद् चित्रण एबं सूक्ष्म विश्लेषण कलाकृतियों की सफलता का बहुत ही महत्त्वपूर्ण रहस्य है। इसलिए नाटकों में अन्तर्द्वन्द्व का जितना ही सजीव चित्रण होता है, वे उतने ही अधिक सफल समझे जाते हैं।

जयशंकर प्रसाद ने अपने नाटकों में जीवन का, बाह्य जोवन और आंतरिक जीवन का, सर्वाङ्गीण चित्र प्रस्तुत किया है। उनमें जीवन के घात-प्रतिघात भी हैं तथा मन के संकल्प-विकल्प भी। बाह्यद्वन्द्व के फलस्वरूप नाटकों की कथावस्तु अत्यधिक रोचक बन गई है, और अन्तर्द्वन्द्व के फलस्वरूप पात्रों के चरित्र बहुत ही सजीव एवं स्वाभाविक हो उठे हैं। प्रसाद के नाटकीय पात्रों में पाठक अपनी प्रतिच्छाया अथवा अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व देखकर चमत्कृत हो उठता है।

जीवन की भाँति नाटक में भी पुरुष और नारी—दोनों ही वर्गों के पात्र रहते हैं। धर्माचरण के आधार पर नारी-पात्रों के भी तीन वर्ग रहते हैं। पुरुष और नारी में कुछ स्वभावगत और वर्गगत विशेषताएँ रहती हैं। देव-वर्ग का पुरुष स्वभावतः कर्मठ, कर्त्तव्यपरायण एवं शारीरिक शक्ति-सम्पन्न होता है—इस वर्ग की नारी में स्वभावतः कोमलता, त्याग, सेवा, क्षमाशीलता आदि कोमल वृत्तियों का प्रधान्य रहता है।

दानव वर्ग के पुरुषों में कठोरता, अभिमान, दम्भ, उद्दण्डता, स्वेच्छाचारिता

आदि असद् वृत्तियाँ दिखाई देती हैं और नारियों में ईर्ष्या, कामुकता, निर्ममता, छल, कपट आदि दुर्वृत्तियों के दर्शन होते हैं।

'स्कन्दगुप्त' नाटक में पुरुष और नारी—दोनों ही वर्ग के पात्र हैं। इनमें वर्गगत विशेषताएँ विद्यमान हैं। इसमें तीनों ही वर्गों के पात्र मौजूद हैं। देव, दानव और मानव—तीनों ही वर्गों के पात्र हैं। यथा—स्कन्दगुप्त, देवसेना, पर्णदत्त और बन्धुवर्मा 'देव' वर्ग के पात्र हैं; भटार्क, प्रपंचबुद्धि, अनन्तदेवी और विजया 'दानव' वर्ग के पात्र हैं, तथा शर्वनाग एवं जयमाला 'मानव' वर्ग के प्रतिनिधि सामान्य पात्र हैं।

आरम्भ में 'दानव' पात्रों की शक्ति बढ़ती हुई दिखाई देती है, वे समस्त समाज को अभिभूत करते हुए-से दिखाई देते हैं, परन्तु धीरे-धीरे 'देव' पात्र प्रबल पड़ते हैं और दानव पात्रों को नीचा देखना पड़ता है। मानव वर्ग के पात्रों, पुरुष और नारी—दोनों ही के चरित्र का बिकास भी इसी प्रकार होता है। वे पहले असत् की ओर, फिर सत् की ओर उन्मुख दिखाई देते हैं। इस नाटक के पात्रों की एक बहुत बड़ी एवं महत्त्वपूर्ण विशेषता है—देवपात्र सर्वथा दोषरहित नहीं है तथा दानव अथवा खल-पात्र सर्वथा गुणविहीन नहीं है। फलस्वरूप वे हमें अपने अधिक निकट और यथार्थ दिखाई देते हैं। वे काल्पनिक प्रतीत न होकर हमको यथार्थ जगत् के निवासी ही मालूम पड़ते हैं। सदसद्-वृत्तियों के विकास के अनुरूप मानव ही देव और दानव की पदवी धारण करता है। परन्तु यदि वह मानवोचित गुण-अवगुण का सर्वथा परित्याग कर दे तो मानव कहलाने का अधिकारी ही न रह जाय। इसलिए 'स्कन्दगुप्त' के पात्र आद्योपान्त रहते 'मानव' ही हैं।

'स्कन्दगुप्त' के पुरुष और नारी पात्रों में अपनी वर्गगत विशेषताएँ भी दिखाई गई हैं। प्रथम परिचय में ही नाटककार पाठक या प्रेक्षक को पात्र की स्वभावगत एवं वर्गगत विशेषताएँ बता देता है। इस कारण उसके कार्यकलाप का विश्लेषण एवं मूल्यांकन करने में विशेष सुविधा रहती है। नाटक के चरित्र-चित्रण का यह एक बड़ा गुण समझना चाहिए।

सफल नाटककार की भाँति प्रसाद जी नाटक का विकास नायक के चरित्र और आदर्श के अनुरूप करते हैं। वह नायक के चरित्रादर्श की ओर प्रथम

दृश्य में ही संकेत कर देते हैं, ताकि नाटक की आत्मा से प्रेक्षक परिचित हो जाए। 'स्कन्दगुप्त' नाटक में भी ऐसा ही किया गया है। नाटक के नायक स्कन्दगुप्त की वैराग्य-भावना, सांसारिकता के प्रति उदासीनता का परिचय प्रथम दृश्य में ही दे दिया गया है। यथा—

"अधिकार सुख कितना मादक और सराहनीय है !......उत्सवों में परिचारक और अस्त्रों में ढाल से भी अधिकार-लोलुप मनुष्य क्या अच्छे हैं !"

साथ ही उसकी दायित्व के प्रति सजगता एवं कर्त्तव्यपरायणता भी नहीं पहले दृश्य में ही प्रकट हो जाती है—"हम तो साम्राज्य के एक सैनिक हैं।" उसके चरित्र की ये दोनों विशेषताएँ उसकी भावी गति-विधि के ऊपर बराबर नियन्त्रण रखती हैं।

'स्कन्दगुप्त' द्वन्द्व-प्रधान नाटक है। उसमें वाह्य और आन्तरिक—दोनों ही प्रकार के द्वन्द्व का विशद चित्रण किया गया है। संघर्ष करने वाले, एवं विपत्तियों को परास्त करने वाले पात्र भाग्य-निर्माता, कर्मवीर महापुरुषों के रूप में दिखाए गए हैं। इनके प्रति प्रेक्षक का आकर्षण, उसकी संवेदना एवं श्रद्धा सर्वथा स्वाभाविक रूप में विकसित होती है।

लोक-विश्रुत व्यक्ति ही हमारी श्रद्धा के पात्र बनते हैं—वीर-पूजा अथवा आदर्शवादिता का यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण आधार हैं। अतीत के प्रति गौरव इसी कारण राष्ट्रीय भावना का एक बहुत बड़ा अंग समझा जाता है। प्रसाद ने अन्य नाटकों की भाँति 'स्कन्दगुप्त' में भी भारतीय इतिहास के सुवर्णयुग की घटना को चित्रित किया है। गुप्त-काल भारतवर्ष के इतिहास का वह उन्नत युग है जिसके ऊपर संसार का कोई भी सभ्य देश गर्व कर सकता है। अपने राष्ट्र-नायकों का गौरव बढ़ाने के विचार से प्रसाद ने उनका गुण-गान विपक्षी, विदेशी वीर अथवा विदेशो यात्री द्वारा कराया है। स्कन्दगुप्त में सिंहल का राजकुमार धातुसेन (कुमारदास) अनेक बार सम्राट् समुद्रगुप्त और युवराज स्कन्दगुप्त की प्रशंसा करता है। भारतीय आदर्श पात्रों की प्रतिष्टा-ज्ञापन की यह शैली सर्वथा श्लाघ्य एवं चमत्कारपूर्ण।

व्यक्ति के स्वभाव का निर्माण—संस्कार, परिस्थिति, शिक्षा-दीक्षा, वातावरण, पारिवारिक जीवन, परम्परागत प्रभाव आदि तत्त्वों द्वारा होता है। व्यक्ति

के अनुसार इन तत्त्वों का न्यूनाधिक प्रभाव रहता है। चरित्र-चित्रण करते समय प्रसाद ने व्यक्ति के स्वभाव की विशिष्टता का निर्माण बड़ी कुशलतापूर्वक किया है। उदाहरण के लिए हम स्कन्दगुप्त को ही लेते हैं। अधिकारों के प्रति उदासीनता एवं कर्त्तव्यपरायणता, उसके दो विशेष गुण हैं। कर्त्तव्य परायणता उसके संस्कार में है—क्योंकि वह राजपुत्र क्षत्रिय वीर है अधिकार के प्रति उदासीनता उसके पारिवारिक जीवन के प्रभाव के कारण है। परिवार की अव्यवस्था एवं सम्राट् के पक्षपात के कारण महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त घर छोड़ते हैं, और युवराज की माता देवकी पुत्र कल्याण-कामना के लिए चक्रपाणि भगवान की पूजा में भी तिरस्कृत होती हैं। ऐसी स्थिति में स्कन्दगुप्त के हृदय पर आघात होना तथा उसका उत्साह ठण्डा पड़ जाना सर्वथा स्वाभाविक ही है। यही उपेक्षा, अव्यवस्था और पक्षपातपूर्ण वातावरण—तीनों ही स्कन्दगुप्त में सैनिक-वृत्ति का विकास उस असामान्य रूप में करते हैं, जिसमें वह हमें नाटक में दिखाई देता है।

पात्र के स्वभाव की रक्षा करते हुए नाटककार ने परिस्थितियों के प्रभाव, उनके घात-प्रतिघात का भी ध्यान रखा। हाँ, एक बात ध्यान में रखने की है। किसी पात्र के चरित्र में यदि भारी परिवर्तन हो तो नाटककार को उसके लिए सम्यक् कारण प्रस्तुत करने चाहिए। मातृगुप्त के चरित्र में परिवर्तन के लिए नाटककार ने कोई सम्यक् कारण नहीं प्रस्तुत किया है। जो व्यक्ति कविता को अपने भूखे हृदय का आहार बता रहा हो (पृ० १२), वही राजनीति के पचड़ों में आखिर क्यों पड़ जाता है?

यहाँ एक बात समझ लेनी चाहिए। पाठक, इसका तात्पर्य यह न समझ लें कि पात्र की स्वभावगत विशेषता का सकारण विवेचन करना नाटककार का कर्त्तव्य है। नहीं, कदापि नहीं। भटार्क और अनन्तदेवी महत्त्वाकांक्षी क्यों हैं, सम्राट् कुमारगुप्त विलासी क्यों हो गया आदि बातें बताना नाटककार के दायित्व की परिधि के बाहर है।

चरित्र-चित्रण करते समय प्रसाद जी ने एक दो स्थलों पर कतिपय वाक्य इस प्रकार लिख दिए हैं कि पाठक की धारणा को हलका-सा आघात पहुँचता

है अथवा वह कुछ संदेह में पड़ जाता है । जयमाला के विषय में पाठक की धारणा बहुत ही उच्च है, वह अपने पति को शत्रु पर सिंहविक्रम के समान टूट पड़ने को कहती है । देवसेना की धीरता एवं दृढ़ता की सराहना करती हुई विजया उसके विषय में कहती है—"रानी ! तुम लोग आग की चिनगारियाँ हो या स्त्री हो । देवी ! ज्वालामुखी की सुन्दर लट के समान तुम लोग ।"[1] परन्तु युद्ध की स्थिति पूछते समय वह एकाएक यह पूछ बैठती है— 'उनका क्या समाचार है ?"—(पृ० ४३) । यहाँ यदि वह पति का समाचार न पूछकर युद्ध का समाचार पूछती तो कहीं अधिक अच्छा रहता । युद्ध में पति को आग्रह-पूर्वक भेजने वाली जयमाला पति के कुशल-समाचार के लिए इतनी व्यग्र हो उठेगी, इसकी पाठक को तनिक भी आशा न थी । अस्तु—

नायक-पक्ष के व्यक्तियों की संकट से रक्षा इतनी सुनिश्चित एवं शीघ्र की गयी है कि प्रत्येक दर्शक रङ्गमंच पर पात्र की संकटापन्न स्थिति में रुचि न लेकर मंच में प्रवेश करने के द्वारों की ओर देखने लगता है । वह रक्षक नायक की प्रतीक्षा-सी करता हुआ जान पड़ता है—वह अभी तक आया क्यों नहीं ? इस प्रकार के चरित्र-चित्रण से वास्तविकता में व्याघात पहुँचा है तथा अभिनय की रोचकता कम हो गई है । अनन्तदेवी, भटार्क और प्रपंचबुद्धि के कुचक्र से महादेवी देवकी की रक्षा इसी प्रकार होती है । महादेवी की रक्षा में रामा के प्राण जाने को ही हैं कि स्कन्दगुप्त प्रकट हो जाता है और कुचक्रियों को बन्दी बना लेता है । स्कन्दगुप्त के आगमन की पूर्वसूचना प्रेक्षक को प्राप्त हो जाती है और वह मानो धातुसेन और मुद्गल की भाँति स्कन्दगुप्त के आगमन की प्रतीक्षा ही कर रहा होता है—"कुछ चिन्ता नहीं, युवराज आ गये ।"[2]

—(पृ० ५८)

नाटक के विकास की दृष्टि से नायक-पक्ष को संकट में डालना भी आवश्यक है और उसका उद्धार भी अनिवार्य है परन्तु कामों के लिए ही नीति का विधान प्रेक्षक की उत्सुकता को शिथिल कर देता है । परिणाम यह होता है कि उक्त योजना के प्रति आकर्षण स्वतः कम हो जाता है ।

---

१. पृ० सं० ४३ ।   २. पृ० सं० ४४ ।

एक-दो स्थलों पर प्रसाद ने पात्रों से उनकी मूल-प्रकृति के विरुद्ध कार्य कराये हैं जो प्रेक्षक की नजर में खटकने लगते हैं। उदाहरणार्थ—नाटक में विदूषक मुद्गल को महादेवी देवकी का सेवक बताया गया है, उनका सन्देश लेकर वह अवन्ती जाता है। वहाँ पर्णदत्त उसे गोविन्दगुप्त को खोज निकालने का कार्य-भार सौंप देता है। विदूषक के द्वारा ऐसा गूढ़ कार्य किया जाना कुछ खटकने वाला ही है। वह अपने इस कार्य को सरलतापूर्वक कर भी लेता है। यथा—"जय हो महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त की जय हो!" —(पृ० ४१)

इसी प्रकार युवराज स्कन्दगुप्त कविवर मातृगुप्त को 'मूलस्थान की परिस्थिति सँभालने के लिए' भेजते हैं—(पृ० ३७)। यहाँ तक तो ठीक है, क्योंकि विश्वविद्यालय की ऊँची शिक्षा प्राप्त मातृगुप्त इस उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य के योग्य सिद्ध हो सकता है। किन्तु आगे चलकर यही मातृगुप्त गुप्तचर का कार्य करने लगता है। इस स्थल पर प्रेक्षक या पाठक को नाटक का 'पात्र-नियोजन' अस्वाभाविक प्रतीत होने लगता है। भावुक कवि के लिए गुप्तचर का कार्य कभी उपयुक्त नहीं कहा जा सकता।

मातृगुप्त जैसे विद्वान् एवं कवि को गुप्तचर का कार्य सौंप कर प्रसाद जी सम्भवत: यह कहना चाहते हों कि जब देश के ऊपर संकट हो तब प्रत्येक व्यक्ति को देश के प्रत्येक कार्य के लिए प्रस्तुत होना चाहिए। भावुक व्यक्तियों को भी कल्पनालोक भूलकर यथार्थ भूमि पर व्यवहार-जगत् में आ जाना चाहिए। आदर्श की दृष्टि से चाहे जो समझ लिया जाय परन्तु व्यवहार की दृष्टि से इस प्रकार का नियोजन अस्वाभाविक ही कहा जायेगा। किसी व्यक्ति के जन्मजात संस्कारों में परिवर्तन कर देना सरल कार्य नहीं है। फिर प्रकृत कवि ने समाज के बन्धन कब स्वीकार किए हैं?

प्रश्न २२—स्कन्दगुप्त के चरित्र-चित्रण पर प्रकाश डालिए। 'स्कन्दगुप्त' नाटक के नामकरण की सार्थकता बताइये।

अथवा

'स्कन्दगुप्त' नाटक का नायक कौन है और क्यों ?

उत्तर—नाटक की कथा-शृङ्खला को अग्रसर करता हुआ अन्त तक ले जाने वाला स्कन्दगुप्त ही है। समस्त कथासूत्र उसी व्यक्तित्व के चारों ओर घूमता है। अत: वही नाटक का नायक है।

"अधिकार फलस्वाम्यम् अधिकारी च तत् प्रभुः" के अनुसार भी वही नाटक का नायक है, क्योंकि अधिकार की प्राप्ति उसी को होती है—वह विक्रमादित्य की पदवी धारण करता है।

स्कन्दगुप्त आन्तरिक एवं बाह्य समस्त कलह पर विजय प्राप्त करता है। आन्तरिक क्लेश का निवारण करता है, बाह्य आक्रमणकारियों एवं आततायियों का दमन करता है और इस प्रकार परिवार एवं समाज में सुख, शान्ति एवं व्यवस्था की प्रतिष्ठा करता है। अतः जन-आराध्य होने के कारण वही नाटक का नायक है।

साहित्यशास्त्रियों के मतानुसार किसी ग्रन्थ का नामकरण इन तीनों आधारों में से किसी एक के अनुसार किया जाता है—

(१) नायक अथवा नायिका के नाम पर, (२) किसी घटना-विशेष के नाम पर, अथवा (३) किसी स्थान-विशेष के नाम पर।

स्पष्ट है कि प्रस्तुत नाटक का नामकरण 'नायक' के नाम पर किया गया है। 'स्कन्दगुप्त' शास्त्रोक्त नायकोचित समस्त गुणों से युक्त है। अतः वही नाटक का नायक है और नाटक का नामकरण सर्वथा सार्थक है।

साहित्य-शास्त्र के अनुसार नाटक से नायक में ये गुण होने चाहिये—वह राज्यकुल में उत्पन्न, कुलीन व रूढ़-वंश राजकुमार, युवक, विनीत, मधुरभाषी, त्यागी, दक्ष, शुचि और वाग्मी हो, वह स्थिर एवं दृढ़प्रतिज्ञ, बुद्धिमान, प्रज्ञावान, कलावान्, स्मृति-सम्पन्न, उत्साही, शास्त्र-चक्षु, आत्म-सम्मानी, शूरवीर, दृढ़, तेजस्वी, धार्मिक सभी कुछ हो। सारांश यह कि वह देवोपम राजपुरुष हो, वह समस्त सद्गुण एवं उदात्त वृत्तियों से युक्त हो।[1] अथवा नायक सत्यवादिता, असंवादि आदि जिनके विषय में अन्य मत न हो सके—उनसे युक्त, धीर, गम्भीर, उदात्त, प्रतापी, कीर्ति, का अभिलाषी, महा उत्साह वाला, वेदों का

---

१. दशरूपककार द्वारा दिये गए धीरोदात्त नायक के लक्षण प्रायः सर्वमान्य हैं। पाठकों की जानकारी के लिए उन्हें यहाँ उद्धृत किया जाता है—

"महासत्त्वोपि गम्भीरः क्षमावान् च विकत्थनः।
स्थिरो निगूढ़ाहंकारो धीरोदात्तो दृढ़व्रतः॥"

अर्थात्—"धीरोदात्त नायक शोक, क्रोधादि से अभिभूत अन्तःकरण वाला, गम्भीर, क्षमावान्, अनात्म-श्लाघी, धैर्यवान्, दृढ़व्रत और विनय आदि सद्गुणों से युक्त होता है।"

रक्षक आदि होना चाहिए। स्कन्दगुप्त आधिकारिक कथावस्तु का नायक है, क्योंकि वह दिव्यादिव्य पुरुषोचित अभिगम्य गुणों से युक्त राज-पुरुष है। स्कन्द-गुप्त के गुणों का विवेचन करने से पूर्व हम एक बात स्पष्ट कर देना चाहते हैं। जहाँ कई पात्रों का चरित्र लगभग समान रूप से महत्त्वपूर्ण एवं व्यापक होता है, वहाँ नायक का निर्णय करना कुछ उलझन भी पैदा कर देता है। परन्तु प्रस्तुत नाटक में तो कोई ऐसी स्थिति है ही नहीं। स्कन्दगुप्त के समान उज्ज्वल एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व अन्य किसी पात्र का है ही नहीं। स्कन्दगुप्त सहज ही सबका नायक है—वह विक्रमादित्य जो ठहरा! नाटक के प्रायः सभी पात्र उसके सम्मुख छोटे दिखाई देते हैं।

स्कन्दगुप्त के सम्पर्क में आने वाला प्रत्येक व्यक्ति उसकी प्रशंसा करता है। यथा—

बलाधिकृत पर्णदत्त उसे 'गुप्तकुलभूषण'—(पृ० ६) कहता है, मालव-दूत 'आर्य-साम्राज्य का भावी शासक'—(पृ० १३) कहकर उसको सम्बोधित करता है। महाराजकुमार गोविन्दगुप्त ने स्कन्दगुप्त को "आर्य-साम्राज्य का एकमात्र भरोसा"—(पृ० ४६) बताया और मालवपति बन्धुवर्मा ने उसे 'उदार, वीर-हृदय देवोपम सौन्दर्य, इस आर्यावर्त्त का एकमात्र आशास्थल'—(पृ० ५२) कहा है। मातृगुप्त उसका स्मरण इन शब्दों में करता है—"प्रवीर उदार-हृदय स्कन्दगुप्त कहाँ है?"—(पृ० १४१)। इतना ही नहीं, उसका परम विरोधी भटार्क भी उसका स्मरण 'महत्' के रूप में करता है—"सुना है कि कहीं यहीं स्कन्दगुप्त भी हैं, चलूँ उस महत् का दर्शन कर लूँ।" —(पृ० १२६)

समस्त प्रपंच की जड़ उसकी विमाता अनन्तदेवी भी उससे क्षमा-दान माँगती है—(पृ० १४५)। परम कुचक्री शर्वनाग भी उसके चरणों में आत्मबलि देकर अपनी जीवन सफल करने की कामना करता है। —(पृ० ७८)

सारांश यह है कि स्कन्दगुप्त प्रस्तुत नाटक का निर्विवाद रूप से नायक है। उसका नायकत्व संदेह के परे है तथा नाटक का नामकरण उसके नाम पर किया जाना सर्वथा समीचीन एवं स्वाभाविक है।

युवराज स्कन्दगुप्त एक भावुक किन्तु 'कर्त्तव्य के प्रति सजग युवक' के रूप में हमारे सम्मुख आता है। यथा—"अधिकार-सुख कितना मादक और सारहीन

है। अपने को नियामक और कर्त्ता समझने की बलवती स्पृहा उससे बेगार कराती है।........(ठहर कर) उँह! जो कुछ हो, हम तो साम्राज्य के एक सैनिक हैं।"

—(पृ० सं० ६)

इस वक्तव्य द्वारा स्कन्दगुप्त के चरित्र की दो प्रमुख विशेषताएँ हमारे सम्मुख प्रकट होती हैं—(i) युवराज होने पर भी उसे अपने पद के प्रति मोह नहीं है[1], उसके द्वारा प्राप्त सम्मान, सुख, अधिकार आदि की चाह नहीं है, तथा (ii) उसे अपने दायित्व एवं कर्त्तव्य का पूरा ध्यान है तथा उनके प्रति उसकी पूरी निष्ठा है।

पर्णदत्त जैसे शुभचिन्तक उसको 'गुप्तकुल का भावी शासक', 'गुप्तकुल-भूषण' आदि कहकर बराबर प्रेरणा प्रदान करते रहते हैं। कारण स्पष्ट है। आन्तरिक कलह एवं बाह्य विपत्तियों से आक्रान्त गुप्त-साम्राज्य का एकमात्र रक्षक स्कन्दगुप्त ही दिखाई देता है। वह भी यदि अपने कर्त्तव्य के प्रति उदासीन हो जाय तो फिर भगवान् ही रक्षक हैं। उसकी उदासीनता कहीं गुप्त-साम्राज्य के लिए संकट का कारण न बन जाय।

जो भी हो, स्कन्दगुप्त की भावुकता एवं दार्शनिक प्रवृत्ति के दर्शन हमको आद्योपान्त होते हैं परन्तु विशेषता यह है कि ये उसके कर्त्तव्य-मार्ग में बाधक नहीं बनने पाती हैं। उल्टे साधक ही बनती हैं, क्योंकि निर्लिप्त भाव से कर्त्तव्य का निर्वाह करता हुआ वह 'योग: कर्मसु कौशलम्' का सजीव उदाहरण प्रस्तुत करता है।

स्कन्दगुप्त की दर्शनपरक कर्त्तव्यनिष्ठा, उसके व्यक्तित्व एवं चरित्र का अविच्छिन्न अङ्ग है। यथा—

"विजया का क्षणिक उल्लास हृदय की भूख मिटा देगा? कभी नहीं।"

"......त्याग का ही दूसरा नाम महत्त्व है। प्राणों का मोह त्याग करना वीरता का रहस्य है।"

—(पृ० ८)

"इस साम्राज्य का बोझ किस लिए? ...मेरा तो निज का कोई स्वार्थ नहीं, हृदय के एक-एक कोने को छान डाला, कहीं कामना की वन्या नहीं।

---

१. उसकी वैराग्य अथवा त्याग-भावना की पुष्टि पर्णदत्त के इस कथन द्वारा होती है—"अपने अधिकारों के प्रति आपकी उदासीनता और अयोध्या में नित्य नये परिवर्तन!"

—(पृ० सं० १०)

·········केवल गुप्त-सम्राट् के वंशधर होने की दयनीय दशा ने मुझे इस रहस्य-पूर्ण क्रिया-कलाप में संलग्न रखा है।"—(पृ० ८६)। "चेतना कहलाती है—तू राजा है, और उत्तर में जैसे कोई कहता है—तू खिलौना है—उसी खिलवाड़ी वटपत्रशायी बालक के हाथों का खिलौना है।" —(पृ० १२३)

उसका त्याग वास्तव में स्पृहणीय है—"लो, आज इस रणभूमि में पुरगुप्त को युवराज बनाता हूँ। देखना, मेरे बाद जन्मभूमि की दुर्दशा न हो!"

—(पृ० १४५)

गुणों का विभाजन तीन वर्गों में किया जा सकता है। यथा—(क) शारीरिक-सौन्दर्य, (ख) शक्ति, और (ग) शील। स्कन्दगुप्त ने व्यक्तित्व में तीनों ही प्रकार के गुणों का निवास दिखाई देता है। यथा—

(क) शारीरिक सौन्दर्य

स्कन्दगुप्त अनुपम सौन्दर्यवान आकर्षक युवक है।

"उदार, वीर-हृदय, देवोपम सौन्दर्य····इस युवराज का विशाल मस्तक कैसी वक्र लिपियों से अङ्कित है!····आँखों में एक जीवन पूर्ण ज्योति है।"

—(पृ० २।५३)

यह सौन्दर्य द्रष्टा को अपनी ओर आकर्षित कर ही लेता है—"····मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि अब से इस वीर परोपकारी के लिए मेरा सर्वस्व अर्पित है।" —(पृ० ५३)

(ख) शक्ति

स्कन्दगुप्त बड़ा ही दृढ़ एवं धीर-वीर है। यथा—"····सिन्धु के प्रदेश का म्लेच्छ राज्य ध्वंस हो गया। प्रवीर सम्राट् स्कन्दगुप्त ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की है।"—(पृ० ९५)। वह एक कुशल नायक है, "गौ, ब्राह्मण, देवताओं को ओर कोई भी आततायी आँख उठाकर नहीं देखता। लौहित्य से सिन्धु तक, हिमालय की कन्दराओं में भी स्वच्छन्दतापूर्वक सामगान होने लगा।"—(पृ० ९६)। अटूट आत्मविश्वास वस्तुतः स्कन्दगुप्त की वीरता का रहस्य है—

"सुख के लोभ से, मनुष्य के भय से, मैं उत्कोच देकर क्रीत साम्राज्य नहीं चाहता।" —(पृ० १३५)

दूत के प्रति उसका निम्नलिखित कथन उसकी वीर-मूर्ति को साकार कर देता है—

"अकेला स्कन्दगुप्त मालव की रक्षा करने के लिए सन्नद्ध है। जाओ, निर्भय निद्रा का सुख लो! स्कन्द के जीते-जी मालव का कुछ न बिगड़ेगा।"

—(पृ० १३)

(ग) शील

उदात्त वृत्तियों के समुच्चय का नाम 'शील' है। निःस्वार्थ-भावना अथच त्याग-भावना इसका अनुसारी परिणाम है। हृदय की उदारता, परमार्थ-भावना क्षमाशीलता आदि उदात्त वृत्तियाँ शील का अङ्ग हैं। इन उदात्त वृतियों का प्रस्फुटन स्कन्दगुप्त के चरित्र में स्पष्ट है, जो सर्वथा उसके उच्च कुल के अनुरूप है। प्रथम दृश्य में ही, प्रथम परिचय में ही—वह हमको एक परम विनीत एवं शालीन युवक के रूप में प्रभावित करता है। पर्णदत्त जब अधिकार के प्रति उसकी उदासीनता की ओर संकेत करता है, तब वह उससे (मगध के महानायक से) बड़ी ही आदरसूचक वाणी में निवेदन करता है कि "चिन्ता क्या, आर्य! अभी तो आप हैं। तब भी मैं ही सब विचारों का भार वहन करूँ, अधिकार का उपयोग करूँ?"

—(पृ० १६)

अपने पितृव्य गोविन्दगुप्त को दीर्घकाल के पश्चात् देखकर वह आनन्द से भर उठता है। पुनर्मिलन से जो आदरपूर्ण अनुराग का स्फुरण स्कन्द के हृदय में उनके प्रति होता है, वह उसके शील का मनोहर उदाहरण है। स्कन्दगुप्त राजसभा में गोविन्दगुप्त के प्रवेश करते ही खड़ा होकर कहता है—"तात! कहाँ थे? इस बालक पर अकारण क्रोध करके कहाँ छिपे थे?" स्कन्दगुप्त की इस उक्ति के प्रत्येक शब्द से उसकी करुणोत्पादक विनम्रता टपक रही है।

उसकी क्षमाशीलता, त्याग भावना एवं हृदय की विशालता की पहचान तो हमको पग-पग पर प्राप्त होती है। वह बड़े-से-बड़े अपराध के लिए क्षमा प्रदान करने की सामर्थ्य रखता है। बन्धुवर्मा का यह कथन कि "नहीं भीम! युवराज स्कन्द ऐसे क्षुद्र हृदय के नहीं, उन्होंने पुरगुप्त को इस जघन्य अपराध पर भी मगध का शासक बना दिया है। वह तो सिंहासन भी नहीं लेना चाहते"—(पृ० ६७)। वह तो भारतवर्ष में समस्त विपत्तियों की जड़ आततायी हूण को भी क्षमा प्रदान कर देता है, क्योंकि शीलवान एवं कुलीन की

दृष्टि में क्षमा-दान से बढ़कर कोई दण्ड-विधान नहीं है—"………इस हूण को छोड़ दो और कह दो कि सिन्धु के इस पार के पवित्र देश में कभी आने का साहस न करे।"
—(पृ० १४५)

अपने विरुद्ध भयंकरतम कुचक्र रचने वाले एवं दुरभिसन्धि करने वाले शर्वनाग को भी वह क्षमा कर देता है—"परन्तु मैं उन्हें मुक्त करता हूँ क्षमा करता हूँ। तुम्हारे अपराध ही तुम्हारे मर्मस्थल पर सैकड़ों बिच्छुओं के डंक की चोट करेंगे।………रामा सती! तेरे पुण्य से आज तेरा पति मृत्यु से बचा।"
—(पृ० ७८)

करुणा का प्रमाण क्षमा और विश्वमैत्री है। इसके ही प्रभाव से वन्य एवं हिंस्र पशु वश में किये जा सकते हैं। क्षमादान से बढ़कर कोई सुधार का साधन नहीं, विपक्षी को अपना बनाने का कोई उपाय नहीं। इसका उदाहरण स्कन्द के जीवन के अतिरिक्त और कहाँ मिलता! स्कन्दगुप्त द्वारा क्षमा प्राप्त शर्वनाग तत्काल एक भिन्न व्यक्ति के रूप में दिखाई देता है, मानो उसका कायापलट हो गया हो, उसको नवीन जीवन मिल गया हो—"सम्राट! देवता! आपकी जय हो!………मैं मनुष्य से पशु हो गया था। अब आपकी दया से मैं मनुष्य हुआ। आशीर्वाद दो, जगद्धात्री कि मैं देव-चरणों में आत्मबलि देकर जीवन सफल करूँ।"
(पृ० १८)

संसार के प्राणियों के विकास में सहायता देना आदर्श मानव का महत्त्व-पूर्ण लक्षण है। स्कन्दगुप्त इस लक्षण से परिपूर्ण है। सम्भवतः उसका जीवन दर्शन यह है—

'नीच बन जाता है इन्सान सजाएँ देकर।
जीतना ठीक है दुश्मन को दुआएँ देकर॥'

स्कन्दगुप्त जैसा उदार वीर शरणागत-वत्सल हो, यह सर्वथा स्वाभाविक ही है। शरण आये हुए विभीषण के प्रति भगवान् राम ने ये शब्द कहे थे—

'शरणागत कहँ जे तजै, निज अनहित अनुमानि।
ते नर पापी पापमय, तिन्हहिं बिलोकत हानि॥'

दूत के प्रति स्कन्दगुप्त के वचन भी इतने ही मर्मस्पर्शी एवं आत्मविश्वास-परक हैं। यथा—

'दूत ! केवल सन्धि-नियम ही से हम लोग वाध्य नहीं हैं किन्तु शरणागत रक्षा भी क्षत्रिय का धर्म है ।.........जाओ, निर्भय निद्रा का सुख लो ।'

—(पृ० १३)

नारी के प्रति उसकी आदर-भावना शर्वनाग को क्षमा करते समय हम देख ही चुके हैं । नारियों के सतीत्व की रक्षा—राजा का सर्वोपरि धर्म है । स्कन्दगुप्त जैसा सुसंस्कृत एवं विनयी शासक जीवन देकर भी देश की माताओं की सेवा में तत्पर रहना चाहता है । नारी का युद्ध-क्षेत्र में जाना पुरुष के नपुंसकत्व का, उसकी सामर्थ्यहीनता का उद्घोष है, पुरुषत्व का अपमान है । यथा—" ....स्कन्द के रहते स्त्रियों को शस्त्र नहीं चलाना पड़ेगा ।"

—(पृ० ४६)

उसका देश-प्रेम भी वहुत ही उच्चकोटि का है । देश में विदेशियों का आ जाना, मानो शेर की माँद में सियार का पहुँच जाना है—"सिंहों की विहारस्थली में शृगाल-वृन्द सड़ी लोथ नोंच रहे हैं ।" —(पृ० १२४)

वह जननी-जन्मभूमि को "स्वर्गादपि गरीयसी" मानता है । उसके नाम पर प्राणों की वलि देने में जीवन की सार्थकता देखता है । "शस्त्र-बल से शरीर देकर भी यदि हो सका तो जन्मभूमि का उद्धार कर लूँगा ।"

—(पृ० १३५)

भटार्क के प्रति उसका निम्नलिखित कथन उसको देश के नाम पर मर-मिटने वाले बड़े-से-बड़े शहीदों की पंक्ति में बैठा देता है । जब देश पर संकट के बादल घिर रहे हों, उस समय प्रत्येक युवक का जो कर्त्तव्य होना चाहिए, वह स्कन्द के इस वक्तव्य में है—"तुम वीर हो, इस समय देश को वीरों की आवश्यकता है ।....... रणभूमि में प्राण देकर जननी-जन्मभूमि का उपकार करो । भटार्क ! यदि कोई साथी न मिला तो साम्राज्य के लिए नहीं—जन्म-भूमि के उद्धार के लिए मैं अकेला युद्ध करूँगा.......आत्म-हत्या के लिए जो अस्त्र तुमने ग्रहण किया है, उसे शत्रु के लिए सुरक्षित रखो ।" —(पृ० १३७)

स्कन्दगुप्त के जीवन का प्रेमपक्ष बहुत ही निराशामय एवं कारुणिक है । वह विजया एवं देवसेना की ओर आकृष्ट हुआ और दोनों ही उस पर आसक्त थीं, परन्तु विधि का विधान, वह एक को भी प्राप्त न कर सका और उसे आजन्म कौमार व्रत का प्रण धारण करना पड़ा । —(पृ० १३४)

वह विजया के रूप-यौवन पर आसक्त है। विजया भी उसको चाहती है, किन्तु अधीरतावश वह स्कन्दगुप्त को समझने में गलती कर जाती है। विलास प्रिय विजया स्कन्द की ओर से मन हटा, भटार्क के प्रति प्रणय-निवेदन करती है। उसकी इस लीला से स्कन्दगुप्त के हृदय को कठिन आघात लगता है। "यह क्या किया विजया!" कहकर वह निराश हो जाता है। विजया के प्रेम का तथा तज्जन्य निराशा की चर्चा करता हुआ वह कहता है—"........जिसे हमने सुख-शर्वनरी की संध्या तारा के समान पहले देखा, वही उल्कापिंड होकर दिगन्त-दाह करना चाहती है। विजया तूने किया क्या!" —(पृ० ८६)

विजया के प्रति स्कन्दगुप्त के आकर्षण का परिचय प्राप्त करते ही देवसेना का मन वदल जाता है। नारी स्वभावत: प्रेमी पर एकाधिकार चाहती है। अन्य स्त्री की चर्चा मात्र दूध में खटाई का काम कर देती है। हुआ भी वही। देवसेना स्कन्दगुप्त के प्रणय-निवेदन को निर्ममतापूर्वक ठुकरा देती है। यथा—

स्कन्द—साम्राज्य तो नहीं है, मैं बचा हूँ वह अपना ममत्व तुम्हें अर्पित करके उऋण होऊँगा और एकान्तवास करूँगा।

देवसेना—परन्तु क्षमा हो सम्राट्! उस समय आप विजया स्वप्न देखते थे! अब प्रतिदान लेकर मैं उस महत्त्व को कलंकित न करूँगी।

स्कन्द—देवसेना! एकान्त में किसी कानन के कोने में, तुम्हें देखता हुआ जीवन व्यतीत करूँगा। साम्राज्य की इच्छा नहीं, एक बार कह दो!

देवसेना—तब तो और भी नहीं। —(पृ० १२३)

× × ×

देवसेना बड़ी स्वाभिमानी प्रेमिका है। वह स्कन्दगुप्त को हृदय से चाहती है—परन्तु अपने प्रेम की निर्मलता पर स्वार्थ-भावना की परछाईं तक नहीं पड़ने देना चाहती है। बस, यहीं पर स्कन्दगुप्त जननी की समाधि को साक्षी बनाकर आजन्म कौमार-जीवन व्यतीत करने की प्रतिज्ञा कर लेता है।

—(पृ० १३४)

इसके कुछ ही क्षणों पश्चात् विजया आकर अपना प्रणय-निवेदन करती है। एक सच्चे एवं अभिमानी प्रेमी की भाँति वह विजया को दुत्कार देता है। विजया के प्रेम में बसी हुई वासना की गन्ध स्कन्दगुप्त जैसे निर्मल-हृदय व्यक्ति

को क्योंकर सह्य हो सकती है—"चुप रहो विजया ! यह मेरी आराधना की—तपस्या की भूमि है, इसे प्रवंचना से कलुषित न करो। तुम से यदि स्वर्ग भी मिले तो मैं उससे दूर रहना चाहता हूँ।" —(पृ० १३४)

दासी बनकर उसके साथ रहने वाली देवसेना भी उसको छोड़कर चल देती है। वह कलेजे पर पत्थर रखकर देवसेना को विदा करता है। स्कन्दगुप्त और देवसेना के प्रेम-प्रवाह में पाठक की व्यथा अपना योग प्रदान करती है और करुणा की नदी बह निकलती है। यथा—

'परन्तु इस नन्दन-वन की श्री, इस अमरावती की शची स्वर्ग की लक्ष्मी तुम चली जाओ ऐसा मैं किस मुँह से कहूँ ? ......और किस वज्र कठोर हृदय से तुम्हें रोकूँ ?'

"देवसेना ! देवसेना ! तुम जाओ। हतभाग्य स्कन्दगुप्त, अकेला स्कन्द ! ओह !"

देवसेना—कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या अग्नि है।.......सम्राट् ! मेरे इस जीवन के देवता ! और उस जीवन में प्राप्य ! क्षमा ! —(पृ० १४७)

उक्त स्थल पर कर्त्तव्यपरायण स्कन्दगुप्त का भावुक हृदय फूट निकला है। कुछ लोग इसको स्कन्दगुप्त के चरित्र की दुर्बलता कहेंगे। हमारा निवेदन है कि दुर्बलता और कोमलता दो भिन्न वस्तुएँ हैं। मानव केवल बौद्धिक चेतना एवं विश्लेषण-बुद्धि का संस्थापन ही तो नहीं है, वह मनोवेगों का स्थल भी है। मनोवेग-रहित मानव जीवित प्राणी नहीं, बल्कि जड़ या मृत कहा जायगा। स्कन्दगुप्त का उक्त कथन एक सच्चे प्रेमी का उद्‌गार है जो अपने प्रिय से वियोग नहीं चाहता किन्तु कर्त्तव्य-बुद्धि द्वारा संयत भी बना रहता है। देवसेना के चरित्र की दृढ़ता भी वास्तव में श्लाघ्य है। अगले जन्म की प्रतीक्षा में इस जन्म के अङ्गारों को फूल समझते रहना, साधारण तपस्या का फल नहीं है।

"कल्पना के लोक में विचरने वाले भग्न-हृदय युवक स्कन्दगुप्त का जीवन कितना कष्टमय, कितना करुण, कितना, अशांत और कितना दयनीय है।" स्कन्दगुप्त के चरित्र में केवल दो अवसरों पर दुर्बलता के दर्शन होते हैं। भटार्क कुभा का बाँध तोड़कर स्कन्दगुप्त को अपार संकट में डाल देता है। वह अपने

आपको निस्सहाय अनुभव करता है—(पृ० १२५)। देश को संकटों एवं विपत्तियों से घिरा देखकर उसे घोर आत्मग्लानि होती है। रामानुज भरत की भाँति वह स्वयं अपने आपको "सब अनरथ कर हेतू' कहने लगता है—"विश्व भर की शान्ति-रजनी में मैं ही धूम्रकेतु हूँ।" —(पृ० ८६)

विजया प्रेम से निराश होकर भी वह कुछ देर के लिए विवशता का अनुभव करने लगता है—'कोई भी मेरे अन्तःकरण का आलिंगन करके न तो रो सकता है और न हँस सकता है।..."

दुर्बलता के ये क्षण मनुजोचित हैं। संयत बुद्धि द्वारा उन पर विजय प्राप्त करना आदर्श मानव, नायक स्कन्दगुप्त के सर्वथा अनुरूप है।

स्कन्दगुप्त के जीवन का उद्देश्य—सचमुच 'पृथ्वी को स्वर्ग बनाना' है। —(पृ० १३५) अपने इस प्रयास में वह कभी मृदु और कभी कठोर दिखाई देता है। मृदुता और कठोरता का यह सामंजस्य ही स्कन्दगुप्त के जीवन का कर्म-सौन्दर्य है, जिसकी ओर हृदय आकर्षित हो ही जाता है। उसका विरोधी भटार्क उसके अभाव में यह ग्लानिमिश्रित पश्चात्ताप करता है—"ऐसा वीर, ऐसा उपयुक्त और परोपकारी सम्राट्! परन्तु गया—मेरी भूल से सब गया!" —(पृ० १२८)

स्कन्दगुप्त के व्यक्तित्व का स्वरूप यह है—"उदार, वीर-हृदय, देवोपम सौन्दर्य, इस आर्यावर्त्त का एकमात्र आशा-स्थल।" —(पृ० ५२)

"ऐसा वीर, ऐसा उपयुक्त और परोपकारी सम्राट्!" —(पृ० ११८)

व्यक्तित्व एवं कर्त्तव्य दोनों ही दृष्टियों से विचार करने पर स्कन्दगुप्त ही इस नाटक का नायक है। आदि से अन्त तक, वह प्रेक्षक की प्रशंसा, श्रद्धा और सहानुभूति का पात्र बना रहता है। कर्मयोगियों जैसी उसकी संश्लेषणपरक चेतना प्रेक्षकों एवं पाठकों को अभिभूति किये रहती है।

प्रश्न २३—"धातुसेन के व्यक्तित्व के पीछे प्रसाद का हृदय झाँकता हुआ दिखाई देता है।" इस कथन की विवेचना कीजिए।

उत्तर—प्रसाद भावुक कवि, गम्भीर विचारक एवं उत्कट देश-भक्ति से परिपूरित व्यक्ति थे। धातुसेन के चरित्र में हमको ये समस्त विशेषताएँ दिखाई देती हैं। कहीं-कहीं तो ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसाद ने अपने विचार धातुसेन के ही मुख से कहला दिए हैं।

सिंहल का राजकुमार कुमारदास (धातुसेन) भारतवर्ष और उसकी प्राचीन गौरव-गाथा के प्रति आकर्षित होता है। वह भारतवर्ष को स्वप्नों का देश 'भव्य-भारत' कहते हुए छोड़ता है। उसका अग्रलिखित कथन भारत-भक्त प्रसाद के अनुरूप ही है, "भारत समग्र विश्व का है और सम्पूर्ण वसुन्धरा इसके प्रेम-पाश में आबद्ध है। अनादि-काल से ज्ञान की, मानवता की ज्योति यह विकीर्ण कर रहा है। वसुन्धरा का हृदय भारत, किस मूर्ख को प्यारा नहीं है !"[१]

—(पृ० ११५)

प्रसाद के मतानुसार आपसी फूट के ही कारण भारत की यह दुर्दशा हुई है। घर के भेदी विभीषण ने ही लङ्का ढहवाई है—धातुसेन भी तो यही कहता है, "राक्षस यदि कोई था तो विभीषण और वन्दरों में भी एक सुग्रीव हो गया था। (जो अपने भाई के हत्यारे के साथ मिल गया था)। दक्षिणापथ आज भी उनकी करनी का फल भोग रहा है।"

—(पृ० १५)

धातुसेन बाह्य रूप से विनोदशील तथा अन्दर से गम्भीर विचारक है। वह बहुत ही वाक्पटु है। उसकी हास्यमिश्रित व्यंग्योक्तियाँ सम्राट् कुमारगुप्त को निरुत्तर कर देती हैं।

—(देखें, पृ० १५, १६ तथा १८)

एक उदाहरण देखिए—"चाणक्य कुछ भाँग पीता था। उसने लिखा है कि राजपुत्र भेड़िये हैं, इनसे पिता को सदैव सावधान रहना चाहिए।"

—(पृ० १८)

धातुसेना बड़ा ही सूक्ष्म विचारक एवं दूरदर्शी युवक है। वह नाटक का वह पात्र है जो भारतवर्ष की परिस्थितियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन करके सर्वप्रथम यह घोषणा करता है कि भारतवर्ष पर भयंकर विपत्ति आने वाली है तथा एकमात्र स्कन्दगुप्त ही उसका उद्धार कर सकता है—"गौतम के पद-रज से पवित्र भूमि को खूब देखा और देखा दर्प से उद्धत गुप्त-साम्राज्य के तीसरे पहर का सूर्य। आर्य-अभ्युत्थान का यह स्मरणीय युग है। मित्र, परिवर्तन उपस्थिति है।" तथा—"विषय-विह्वल वृद्ध सम्राट् तरुणी की आकांक्षाओं के साधन बन रहे हैं। काले मेघ क्षितिज में एकत्र हैं, शीघ्र ही

---

१. **मिलाइए, पृ० १४३ के भारत गान के साथ।**

अन्धकार होगा। परन्तु आशा का केन्द्र ध्रुव तारा एक युवराज स्कन्द है। निर्मल शून्य आकाश में शीघ्र ही अनेक वर्ण के मेघ रङ्ग भरेंगे।"

—(पृ० २५)

इतना ही नहीं, उसके मुख से प्रसाद ने अपने समय में होने वाली धर्म की दुर्गति का भी वर्णन करा दिया है, भारतीय संस्कृति के वर्णाश्रम धर्म के वास्तविक रूप, उसके मूलभूत अर्थ भी स्पष्ट करा दिए हैं और साथ ही धार्मिक रूढ़ियों, ढोंग-ढकोसलों आदि के प्रति तपनी अरुचि भी प्रकट करा दी है। यथा—"............लोभ ने तुम्हारे धर्म का व्यवसाय चला दिया। ....धर्म-वृक्ष के चारों ओर स्वर्ण के काँटेदार जाल फैलाये गये हैं। ....ब्राह्मण क्यों महान् हैं? इसलिए कि वे त्याग और क्षमा की मूर्ति हैं। ....उनका धर्म समयानुकूल प्रत्येक परिवर्तन को स्वीकार करता है, क्योंकि मानवबुद्धि ज्ञान का, जो वेदों द्वारा हमें मिला है—प्रसार करेगी, उससे विकास के साथ बढ़ेगी और यही धर्म की श्रेष्ठता है।" —(पृ० ११८-११९)

अतीत के प्रति आस्था, वर्तमान के प्रति क्षोभ एवं भविष्य के सुधार का उपाय तीनों ही धातुसेन के उपर्युक्त कथन में अभिव्यक्त हैं। प्रसाद की सर्वाङ्ग देशभक्ति का यही स्वरूप है।

जब देश पर संकट हो तो कवि को भी कल्पनालोक का त्याग करके यथार्थ जगत् में आ जाना चाहिए और देश के नाम पर मर-मिटने के लिए प्रस्तुत हो जाना चाहिए। मातृगुप्त प्रसाद का ऐसा ही कवि है। वह देशवासियों को संगठित करता है। —(पृ० ११८)

तथा—

स्वयं भी युद्ध में भाग लेकर, गुप्तचर का कार्य करके अपने वीरत्व एवं पुरुषार्थ का परिचय देता है। 'आपत्तिकाले मर्यादा नास्ति' के अनुसार देश पर संकट उपस्थित होने के समय 'अहिंसा' आदि आदर्शों की चर्चा छोड़ देनी चाहिए। यथा—"लड़कर ले लेना ही एक प्रधान स्वत्त्व है।" —(पृ० १३)

तथा—

"कुचक्रियो! अपने फल भोगने के लिए प्रस्तुत हो जाओ! भारत के भीतर बची हुई समस्त हूणसेना के रुधिर से उन्हीं की लगाई यह ज्वाला शान्त होगी।" —(पृ० १४२)

प्रसाद की दार्शनिकता एवं विचारशीलता धातुसेन के व्यक्तित्व में मुखर हो उठी है, उसके विचारों में भावुकता एवं गम्भीरता, विश्लेषण एवं संश्लेषण का अद्भुत सम्मिश्रण है। यथा—

"परिवर्तन ही सृष्टि है, जीवन है।……समय पुरुष और स्त्री की गेंद लेकर दोनों हाथों से खेलता है। पुल्लिग और स्त्रीलिंग को समष्टि अभिव्यक्ति की कुंजी है। पुरुष उछाल दिया जाता है, उत्प्रेक्षण होता है। स्त्री आकर्षण करती है। यही जड़-प्रकृति का चेतन रहस्य है।" —(पृ० ३५)

"लोहा बड़ा कठोर होता है। कभी-कभी वह लोहे को भी[1] काट डालता है।……मेरी समझ में तो शरीर की धातु मिट्टी है जो किसी के लोभ की सामिग्री नहीं।" —(पृ० ५८)

धर्म के नाम पर होने वाले वितंडावाद के सम्बन्ध में उसके शब्द मानो प्रसाद के विश्लेषणात्मक चिन्तन को ही वाणी दे रहे हैं—'अहंकारमूल आत्मवाद का खण्डन करके गौतम ने विश्वात्मवाद को नष्ट नहीं किया। यदि वैसा करते तो इतनी करुणा की क्या आवश्यकता थी। उपनिषदों के नेति-नेति से ही गौतम का अनात्यवाद पूर्ण है। यह प्राचीन महर्षियों का कथित सिद्धान्त, मध्यमा-प्रतिपदा के नाम ने संसार में प्रचारित हुआ। व्यक्ति रूप में आत्मा के सदृश्य कुछ नहीं। एक सुधार था उसके लिए रक्तपात क्यों?" —(पृ० १२८)

भारत के प्रति धातुसेन की कार्यपरता सर्वथा निस्स्वार्थ है वह भारत की संस्कृति, ज्ञान-गरिमा, विश्वबन्धुत्व-भावना आदि का उपासक है। भारतवर्ष के प्राकृतिक दृश्यों ने उसका मन बाँध लिया है उसका, निस्स्वार्थ आत्मसमर्पण उसकी सात्त्विक क्षीणता का परिचायक है। वह गुणवान भी है और गुणग्राहक भी, कद्रादान भी है और कद्र के काबिल भी। आततायी हूणों के षड्यन्त्रों को विफल वनाकर उनका उन्मूल करने में धातुसेन का मुख्य हाथ रहा है।

प्रश्न १४—"प्रसाद अपने नाटकों में नारी पात्रों की योजना विशेष मनोयोग एवं सावधानी के साथ करते हैं।"

स्कन्दगुप्त नाटक को ध्यान में रखकर उक्त कथन की सत्यता का प्रतिपादन कीजिए।

---

१. मिलाइए, प्रसाद के नारी-सम्बन्धी विचारों से।

उत्तर—स्कन्दगुप्त नाटक में कई नारी पात्रों की योजना की गई है। प्रत्येक नारी पात्र कथानक के विकास में महत्त्वपूर्ण योग प्रदान करती है। नाटक के मुख्य नारी पात्र इस प्रकार हैं—

देवकी—मगध सम्राट् कुमारगुप्त की बड़ी रानी है। युवराज स्कन्दगुप्त इसी का पुत्र है।

अनन्तदेवी—मगध सम्राट् कुमारगुप्त की छोटी रानी है। इसके पुत्र का नाम पुरगुप्त है।

जयमाला—मालव के सम्राट् बन्धुवर्मा की पत्नी है।

देवसेना—मालव सम्राट् बन्धुवर्मा की बहिन एवं नाटक के नायक स्कन्दगुप्त की प्रेयसी है।

विजया—मालव के एक श्रेष्ठि (धनुकुबेर) की पुत्री है।

कमला—मगध के नए महाबलाधिकृत की माता है।

रामा—अन्तर्वेद के विषयपति शर्वनाग की पत्नी है।

मालिनी—मातृगुप्त (कवि कालिदास) की प्रणयिनी है।

अनन्तदेवी के अतिरिक्त समस्त नारी पात्र आदर्श पात्र हैं। विजया श्रेष्ठि-कन्या है। वह युद्धादि के प्रति सशंक रहती है और भीरु स्वभाव की दिखाई देती है। परन्तु इसमें शीघ्र ही आवश्यक सुधार हो जाता है, और वह भी आदर्श पात्रों की श्रेणी में आ जाती है।

अपने नाटकों में नारी पात्रों की योजना प्रसाद इस प्रकार करते हैं कि प्रायः समस्त पुरुष पात्र नारी पात्रों के इशारे पर चलते हुए दिखाई देते हैं—अथवा यह कहिए कि नाटक के कथानक का संचालन सूत्र प्रायः नारी पात्रों के हाथों में रहता है। स्कन्दगुप्त नाटक भी इस प्रवृत्ति का अपवाद नहीं है, यद्यपि इस नाटक का संचालन सूत्र शत-प्रतिशत नारी पात्रों के हाथों में नहीं रहता है। परन्तु यह सत्य है कि नाटक की नारियाँ पुरुष पात्रों को प्रायः प्रभावित करती हुई दिखाई देती हैं। इतना ही नहीं, प्रसाद ने उदात्त गुणों का समावेश नारी पात्रों के व्यक्तित्व में किया है और उदात्त विचारों का कथन एवं

अपने जीवन-दर्शन-सम्बन्धी अधिकांश सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी नारी-पात्रों के द्वारा ही कराया है।

नारी पात्रों के चरित्र-चित्रण में प्रसाद ने नारियों के प्रति विशेष सहानुभूति दिखाई है। अनन्तदेवी यद्यपि खल नायिका के रूप में हमारे सामने रहती है, तथापि उसके द्वारा पश्चात्ताप कराकर नाटककार ने उसके चरित्र को गर्हित नहीं होने दिया है। विजया के व्यक्तित्व में भी चारित्रिक दुर्बलता है। परन्तु वह भी ग्लानि की अग्नि में जलकर स्वयं जीवन का अन्त कर लेती है।

अब हम एक-एक करके नारी पात्रों के चरित्र-चित्रण के प्रति प्रसाद के मनोयोग एवं उसके प्रति उनकी सतर्कता पर विचार करते हैं। यथा—

देवकी—मगध सम्राट् की बड़ी रानी और स्कन्दगुप्त की माता है। वह पतिव्रता एवं धर्मभीरु भारतीय नारी है। वह भगवान में विश्वास रखती है और सबकी मंगल कामना करती है। उसकी सपत्नी षड्यन्त्र करके उसको बन्दिनी बना देती है, तब भी उसके मन में किसी के प्रति न द्वेष की भावना है और न प्रतिहिंसा की अग्नि ही जलती है। बड़ी से बड़ी विपत्ति में भी वह ईश्वर पर भरोसा रखती है। वह संयुक्त परिवार प्रणाली के प्रति आस्था रखती है और जानती है कि यदि परिजन सद्भावनापूर्वक रहें, तो समस्त संसार भी बालबाँका नहीं कर सकता है।

शर्वनाग उसका वध करना चाहता है। और उसी को देवकी स्कन्दगुप्त से क्षमा करा देती है—"वत्स ! इसे किसी विषय का शासक बनाकर भेजो, जिसमें दुखिया रामा को किसी प्रकार का कष्ट न हो।"

इस क्षमा-दान के फलस्वरूप शर्वनाग सही रास्ते पर आ जाता है। वह स्वयं कहता है—"मैं मनुष्य से पशु हो गया था। अब तुम्हारी दया से मैं मनुष्य हुआ।"[१]

शर्वनाग को आशीर्वाद देती हुई देवकी का यह कथन उसी के अनुरूप है—"क्षमा पर मनुष्य का अधिकार है, वह पशु के पास नहीं मिलती। प्रतिहिंसा पाशव धर्म है।"[२]

---

१. द्वितीय अंक, दृश्य ७।

२. वही।

देवकी के कहने से ही स्कन्दगुप्त भटार्क, विजया और कमला को भी क्षमा कर देता है। "आज तुम्हारे शुभ महाभिषेक में एक बूँद भी रक्त न गिरे। ....तुम्हारा शासन-दण्ड क्षमा के संकेत पर चला करे।"[१]

कुमारदास के साथ हम भी देवकी के प्रति यह कहकर नतमस्तक होते हैं कि, "आर्यनारी सती! तुम धन्य हो। इसी गौरव से तुम्हारे देश का सिर ऊँचा रहेगा।"[२]

पुत्र-वियोग की खबर पाकर यह ममतामयी माता परलोकवासिनी बनती है।

अनन्तदेवी—अनन्तदेवी मगध सम्राट् कुमारगुप्त की छोटी रानी है। वह सापत्न ज्वाला से जलती है। वह अपने पुत्र पुरगुप्त को राज-सिंहासन पर बैठाना चाहती है। इसके लिए वह महाबलाधिकृत भटार्क और बौद्ध कापालिक प्रपंच बुद्धि के साथ मिलकर षड्यन्त्र रचती है। इसका षड्यन्त्र सफल नहीं हो पाता है। वह बन्दिनी होती है और अन्त में वह स्कन्दगुप्त से क्षमा की प्रार्थना करती है। उसको क्षमा करते हुए स्कन्दगुप्त यह शब्द कहता है "कुमारगुप्त के अग्नितेज को तुमने अपने कुत्सित कर्मों की राख से ढक दिया।" इतना कहकर वह पुरगुप्त को ही युवराज पद का टीका कर देता है। अनन्तदेवी अपने पति कुमारगुप्त और अपने पुत्र पुरगुप्त पर तो मानो शासन ही करती है। उन्हें तो वह चाहे जब डाँट देती है।

प्रख्यात कीर्ति को वह इस प्रकार डाँटती है—"भिक्षु! समझ कर बोलो, नहीं तो मुंडित मस्तक भूमि पर लोटने लगेगा।"[३] भटार्क वस्तुतः अनन्तदेवी के प्रभाव के कारण ही विद्रोही बनता है और राज्य के विरुद्ध षड्यन्त्र करता है। स्कन्दगुप्त को मार डालने के लिए कुभा का बंध तो तोड़ ही देता है। यह बात दूसरी है कि स्कन्दगुप्त भाग्यवश जीवित बच जाता है।

देश-द्रोह के लिए भटार्क की माँ कमला भटार्क की भर्त्सना करतो है। भटार्क सत्पथ पर आना चाहता है। परन्तु अनन्तदेवी के प्रभाव के कारण पुनः उसी कुमार्ग पर आ जाता है।

---

१. द्वितीय अंक, दृश्य ७।

२. वही।

३. पंचम अंक, दृश्य ४।

स्कन्दगुप्त अनन्तदेवी को एक बार क्षमा कर देता है – यह कहकर कि "कुसुमपुर में पुरगुप्त को लेकर चुपचाप बैठी रहो।.......विद्रोह की इच्छा न करना, नहीं तो क्षमा असम्भव है।"[१]

परन्तु अनन्तदेवी नहीं मानती है। वह बराबर षड्यन्त्र करती है—यहाँ तक कि विदेशी आक्रमणकारियों के साथ भी दुरभिसन्धि कर लेती है। उसका चरित्र भटार्क के इन शब्दों में साकार हो उठता है—

"एक दुर्भेद्य नारी-हृदय में विश्व-प्रहेलिका का रहस्य बीज है। आह ! कितनी साहसशीला स्त्री है।"[२]

पुरगुप्त और भटार्क को अनन्तदेवी अपने इशारे पर नचाती है तथा अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए बौद्ध कापालिक प्रपंच बुद्धि का सफल उपयोग करती है।

देवसेना—देवसेना मालव-नरेश बन्धुवर्मा की बहिन है। वह स्कन्दगुप्त की प्रेमिका और प्रेयसी है। वह देश के लिए सब कुछ त्याग देती है—यहाँ तक कि गाना गाकर भिक्षा माँगती है और देश के लिए लड़ने वाले सेनानियों के लिए साधन जुटाती है।

देवसेना का चरित्र अत्यन्त महिमा-मण्डित है। वह अपने प्रेम को किसी प्रकार कलंकित नहीं करना चाहती है। स्कन्द उससे जब विवाह का प्रस्ताव करता है, तब वह केवल इतना ही कहती है कि—"प्रतिदान लेकर मैं उस महत्त्व को कलंकित न करूँगी।...........मैं आपकी ही हूँ, मैंने अपने को दे दिया है। अब उसके बदले कुछ लिया नहीं चाहती।"[३]

देवसेना के त्यागपूर्ण प्रेम के सम्मुख नाटक का नायक स्कन्दगुप्त पराजय स्वीकार करता है। यथा—"उठो देवसेना ! तुम्हारी विजय हुई।" और इसी के साथ वह यह भी प्रतिज्ञा करता है—"मैं कुमार जीवन ही व्यतीत करूँगा।"[४]

अन्तिम समय, महाप्रयाण के समय, देवसेना स्कन्दगुप्त से केवल इतना ही

---

१. द्वितीय अंक, दृश्य ४।
२. प्रथम अंक, दृश्य ४।
३. पंचम अंक, दृश्य २।
४. वही।

कहती है, "कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या अग्नि है। सब क्षणिक सुखों का अन्त है।........इसलिए सुख करना ही न चाहिए।"[1]

देवसेना के इन शब्दों में समस्त व्यावहारिक जीवन-दर्शन का सारांश निहित है।

देवसेना आद्यन्त, प्रेम और संगीत की साक्षात् प्रतिमा-सी दिखाई देती है। उसका कहना है कि "जहाँ हमारी सुन्दर कल्पना आदर्श का नीड़ बनाकर विश्राम करती है, वहीं स्वर्ग।"[2]

देवसेना वास्तव में हमारी कल्पना की आदर्श सुन्दरी प्रेमिका है। उसके बाह्य और अन्तः समान रूप से सुन्दर हैं। देवसेना के विषय में स्कन्दगुप्त का यह कथन सर्वथा उपयुक्त ही है—

"नन्दन की वसन्त श्री, अमरावती की शची और स्वर्ग की लक्ष्मी मालवेश कुमारी देवसेना का देश-प्रेम और निष्काम प्रेम की साधना महान् है।"

जयमाला—मालव-नरेश बन्धुवर्मा की पत्नी जयमाला एक सामान्य नारी के रूप में हमारे सामने आती है। वह एक वीर क्षत्राणी है। वह वस्तुतः आग की चिनगारी है। उसमें राज्य एवं वैभव के प्रति आसक्ति है। परन्तु कर्त्तव्य-बुद्धि द्वारा वह शीघ्र ही संयत हो जाती है, और एक आदर्श नारी के रूप में हम उसका स्वागत करते हैं—"आज हमने जो राज्य पाया है, वह विश्व-साम्राज्य से भी ऊँचा है।"[3]

विजया—विजया मालव के धन कुबेर की कन्या है। उसमें धन के प्रति मोह और लिप्सा है। वह वैभव की पुजारिन है। इसी कारण उसका पतन होता है। वह कभी भटार्क के प्रति और कभी स्कन्दगुप्त के प्रति आकर्षित होती है। अपनी इस चंचलता के कारण वह कहीं की भी नहीं रह जाती है और अन्त में वह आत्म-हत्या करके ही अपनी रक्षा पाती है।

आरम्भ में युद्ध के नाम से डरती है, परन्तु क्रमशः उसका भय दूर हो जाता है और वह देश-सेवा कार्य में सक्रिय भाग लेने लगती है। यहाँ तक कि

---

१. **पंचम अंक, दृश्य ६।**
२. **द्वितीय अंक, दृश्य १।**
३. **द्वितीय अंक, दृश्य ५।**

वह मातृगुप्त को भी उद्‌बोधन गीत गाने के लिए प्रेरित करती है। मातृगुप्त उसके सम्मुख नतमस्तक हो जाता है—"वीर बाले ! तुम धन्य हो। आज से मैं यही करूँगा"

अतन्तदेवी की इच्छा है कि विजया पुरगुप्त की पत्नी बने—परन्तु विजया को पुरगुप्त स्वीकार नहीं। यहाँ पर हम उसका भयंकर रूप देखते हैं। वह अपने आपको "पहाड़ी नदी से भी अधिक भयानक, ज्वालामुखी के विस्फोट से वीभत्स और प्रलय की अनल शिखा से नीलहरदार"[१] बताती है। परन्तु अनन्त-देवी की एक डाँट में ही चुप हो जाती है। विजया के विषय में यह कथन सर्वथा समीचीन है—

"प्रसाद ने विजया के रूप में नारी के जटिल स्वरूप को अत्यन्त सुन्दरता के साथ प्रस्तुत किया है। विजया, नारी को सम्पूर्ण दुर्बलताओं का आदर्श है। उसका सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अध्ययन विजया नारी के रूप में प्रस्तुत कर जीवन के एक पक्ष—नारी स्वभाव के यथार्थ—को हमारे सामने रख दिया है।"

कमला—महाबलाधिकृत भटार्क की माता कमला एक आदर्श माता के रूप में हमारे सामने आती है। प्रसाद ने कमला को एक ऐसी वीर माता के रूप में चित्रित किया है जो देश-द्रोही पुत्र की माता होने में लज्जा का अनुभव करती है। ऐसी पुत्रवती होने की अपेक्षा तो वह बाँझ अथवा निपुत्र होना अधिक अच्छा समझती है। वह अपने देश-द्रोही पुत्र से सीधा-सा प्रश्न करती है कि "तू मेरा पुत्र है या नहीं ?"[२] इसके बाद वह समस्त बातें कह डालती है, जो एक वीर माता कह सकती है। कमला यहाँ तक सोचती है कि अधिक अच्छा हो यदि वह स्वयं ही अपने पुत्र को दण्डनायक के हाथों में जाकर सौंप दे।[3]

कमला को जब यह विदित होता है कि भटार्क ने देश-द्रोह करके स्कन्द-गुप्त को कुभा की क्षुब्ध लहरों में डुबा दिया है, तो वह उसको नरक का कीड़ा

---

१. चतुर्थ अंक, दृश्य १।
२. द्वितीय अंक, दृश्य ६।
३. वही।

कहती हुई पूछती है,—"तू जीता रहा। × × × मैंने भूल की। सूतिका-गृह में ही तेरा गला घोंटकर क्यों न मार डाला।"१

रामा—अन्तर्वेद के विषयपति शर्वनाग की पत्नी रामा का चरित्र भी कम उज्ज्वल नहीं है। वह अपने राज्य की रक्षा के लिए अपने पति का भी विरोध करती है और इसी पुण्य के प्रभाव के कारण पति को स्कन्दगुप्त द्वारा जीवन दान मिलता है। स्कन्दगुप्त स्पष्ट कहता है—"सती तेरे पुण्य से आज तेरा पति मृत्यु से बचा।"२

प्रसाद का युग नारी-सम्मान का युग था। नारी गृह-देवी भी थी और कर्मक्षेत्र की सखी भी थी। प्रसाद युग में नारियाँ घर के द्वार से बाहर आकर स्वतन्त्रता-संग्राम में निर्द्वन्द्वतापूर्वक भाग ले रही थीं। नारी का व्यक्तित्व महिमा-मण्डित बन चुका था। प्रसाद ने स्कन्दगुप्त नाटक में नारी के चरित्र को गौरवशाली बनाने में कोई बात उठा नहीं रखी है। उनकी जितनी भी कोमल कल्पनाएँ है, उनके जितने भी उदात आदर्श हैं, वे सब के सब नाटक पात्रों के रूप में साकार हो उठे हैं। देश-रक्षा के नाम पर रामा के रूप में प्रत्येक स्त्री काली का ताण्डव करने को कमला के रूप में पुत्र की बलि चढ़ाने को तथा देवसेना के रूप में आत्म-समर्पण करने को प्रस्तुत दिखाई देती है। देश-सेवा के व्रती स्कन्दगुप्त के लिए उसकी प्रेयसी—प्रेमिका देवसेना का बस यही सन्देश है कि "कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या अग्नि है।"

अपनी माता की आज्ञानुसार स्कन्दगुप्त क्षमा के बल पर शासन करना चाहता है। वह लोहे की नहीं, बल्कि प्रेम की विजय में विश्वास करता है।

इस नाटक की नारी पात्रों को देखकर हमें भी यह कहना पड़ता है कि "तुम (कमला) जैसी जननियाँ जब तक उत्पन्न होंगी, तब तक आर्य राष्ट्र का विनाश असम्भव है।"3

तथा—"आर्य नारी सती ! तुम धन्य हो ! इसी गौरव से तुम्हारे देश का सिर ऊँचा रहेगा।"४

---

१. चतुर्थ अंक दृश्य २।
२. द्वितीय अंक, दृश्य ७।
३. द्वितीय अंक दृश्य ६—गोविन्दगुप्त का कथन।
४. तृतीय अंक, दृश्य ७—कुमारदास का कथन।

माता कमला का निम्नलिखित सन्देश आज देश के कोने-कोने में प्रसारित किया जाना चाहिये—"राम और कृष्ण के समान क्या तुम भी अवतार नहीं हो सकते ? समझ लो, जो अपने कर्मों को ईश्वर का कर्म समझ कर करता है, वही ईश्वर का अवतार है।"[1]

प्रश्न २५—स्कन्दगुप्त नाटक सुखान्त है या दुःखान्त, तर्कयुक्त अपना मत स्थापित कीजिये।

उत्तर—नायक को जब अधिकार या फल की प्राप्ति हो जाती है, और समस्त द्वन्द्व एवं संघर्ष समाप्त हो जाते हैं, तब नाटक सुखान्त कहा जाता है। ऐसी स्थिति में चारों ओर प्रसन्नता का वातावरण छा जाता है, और प्रेक्षकगण प्रसन्न चित्त होकर प्रेक्षागृह के बाहर आते हैं। इसके विपरीत, जब नायक को फल की प्राप्ति न हो सके, वह अन्याय और अत्याचार का शिकार होकर अपने अधिकार से वंचित रह जाय अथवा उसकी मृत्यु हो जाय, तो नाटक दुःखान्त माना जाता है, क्योंकि वातावरण अवसादमय हो जाता है और प्रेक्षागृह से बाहर आते समय प्रेक्षक का मन खिन्न अथवा उदास रहता है। भारतीय नाटक परम्परा के अन्तर्गत दुःखान्त नाटकों का प्रायः अभाव रहा है—संस्कृत के नाटककार प्रायः सुखान्त नाटकों की ही रचना करते रहे हैं। इसके मूल में हमारी संस्कृति विशेष की मान्यताएँ रही हैं। भारतीय संस्कृति आदर्शवादी है और उसने सदैव ही अधर्म के ऊपर धर्म की, अनाचार के ऊपर सदाचार की, असत्य के ऊपर सत्य की विजय दिखाई है। परिणामतः विषम से विषम, कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी हमारे साहित्यकार निराश नहीं होते हैं और मंगल की वर्षा करते हुए दिखाई देते हैं। भारतवर्ष के साहित्य-शास्त्रियों ने प्रेक्षकों की भावना का ध्यान यहाँ तक रखा है कि उन्होंने रंगमंच पर मृत्यु आदि अनिष्टकारी दृश्य दिखाने का निषेध किया है।

दुःखान्त नाटक वस्तुतः पश्चिम की देन हैं। पाश्चात्य इतिहास कुछ इसी प्रकार का रहा है। वहाँ धर्म की अधर्म पर सदैव विजय नहीं हुई है। वहाँ के महापुरुष जीवन काल में प्रायः उपेक्षित ही रहे हैं। अधिकांश की तो हत्याएँ की गई हैं। अस्तु—

---

१. चतुर्थ अंक, दृश्य ७।

प्रश्न उत्पन्न होता है कि स्कन्दगुप्त नाटक सुखान्त है अथवा दुःखान्त। इसका उत्तर प्राप्त करने के लिये हमको यह देखना होगा कि नायक को फल की प्राप्ति होती है अथवा नहीं ? वह अन्याय और अधर्म पर विजय प्राप्त कर पाता है या नहीं ?

नाटक के पात्रों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—आदर्श पात्र और खल पात्र। स्कन्दगुप्त के पक्ष के पात्रों को हम आदर्श पात्र कहते हैं और उसके विरोधी पात्रों को हम खल पात्र कहते हैं। खल पात्रों में मुख्य हैं—स्कन्दगुप्त की विमाता अनन्तदेवी, नवीन महाबलाधिकृत भटार्क, प्रपंचबुद्धि तथा हूण सेनापति। कहने को अनन्तदेवी का पुत्र पुरगुप्त भी विरोध पक्ष में ही है, परन्तु वह एक प्रकार से निष्क्रिय और केवल अपनी माता के वश में है। विजया और शर्वनाग भी एक समय उसका विरोध करते हुए दिखाई देते हैं। मालवेश्वरी जलमाला एक क्षण के लिए स्कन्दगुप्त के पक्ष का समर्थन नहीं करती है, परन्तु वह दूसरे ही क्षण अपना राज्य स्कन्दगुप्त को अर्पण करके सुख-शान्ति का अनुभव करने लगती है। अनन्तदेवी अन्त में वन्दिनी होती है और स्कन्दगुप्त से क्षमा माँगती है—"मुझे क्षमा करो सम्राट !"[१] पुरगुप्त पैर पकड़ता है।[२] भटार्क अपने व्यवहार के लिए लज्जित है। वह क्षमा-याचना करता है और स्कन्दगुप्त के चरणों में बैठकर आत्महत्या करना चाहता है।[3] स्कन्दगुप्त उसको ऐसा करने से रोक देता है। अन्त में वह स्कन्दगुप्त के सामने घुटने टेककर कहता है, "श्री स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य की जय हो। जो आज्ञा होगी, वही करूँगा।"[४] इसी अवसर पर विजया भी छुरी निकाल कर आत्म-हत्या कर लेती है।[५]

प्रपंच बुद्धि का निधन हो जाता है। अन्त में स्कन्दगुप्त हूणों को पूर्णतः परा-जित करता है। वह हूण सेनापति खिगिल को इस आदेश के साथ क्षमा करता है

---

१. पंचम अंक, दृश्य ५।
२. वही।
३. पंचम अंक, दृश्य २।
४. पंचम अंक, दृश्य ३।
५. वही।

कि "वह सिन्धु के इस पार के पवित्र देश में आने का साहस कभी न करे।"[१]

तात्पर्य यह है कि स्कन्दगुप्त के विरोधी खल-पात्र एक-एक करके समाप्त हो जाते हैं। वे या तो पश्चात्ताप करते हैं अथवा मृत्यु को प्राप्त होते हैं। स्कन्दगुप्त को वस्तुत: राज्य की प्राप्ति हो जाती है, परन्तु वह अपने त्यागी स्वभाव के कारण राज्य लक्ष्मी को स्वीकार नहीं करता है और भावी नीति की घोषणा करता हुआ राज्य त्याग कर देता है। अनन्तदेवी और भटार्क ने उसके विरुद्ध दुरभिसन्धि की थी। वह दोनों को पराजित करता है और दोनों को क्षमा कर देता। दोनों का उद्देश्य पुरगुप्त को राजा बनाना था। वह अपने भाई पुरगुप्त को राजा बना देता है और इस प्रकार उन दोनों को अनन्त क्षमा की ज्वाला में जलने को छोड़ देता है। अनन्तदेवी के प्रति उसका यह कथन द्रष्टव्य है,—"माता का हृदय सदैव क्षम्य है। तुम जिस प्रलोभन से इस दुष्कर्म में प्रवृत्त हुई हो वही तो कैकेयी ने किया था। तुम्हारा इसमें दोष नहीं। जब तुमने मुझे आज पुत्र कहा, तो मैं भी तुम्हें माता ही समझूँगा। परन्तु कुमार-गुप्त के इस अग्नि तेज को तुमने अपने कुत्सित कर्मों की राख से ढक दिया।"[२] भटार्क के प्रति वह व्यंग्य करता हुआ कहता है—"भटार्क! मैंने तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी की है। लो आज इस रणभूमि में पुरगुप्त को युवराज बनाता हूँ। देखना, मेरे बाद जन्मभूमि की दुर्दशा न हो।"[३]

हूण सेनापति खिंगिल उसकी आज्ञा को शिरोधार्य करता ही है। इस प्रकार इस नाटक में अन्याय पक्ष के ऊपर न्याय-पक्ष की पूर्ण विजय होती है। परन्तु स्कन्दगुप्त को राज्य सिंहासन की प्राप्ति नहीं होती है। वस्तुस्थिति यह है कि स्कन्दगुप्त को राज्य सिंहासन उपलब्ध तो हो ही जाता है। वह उसका त्याग कर देता है। हमारे विचार से तो उसका त्याग सिंहासन की प्राप्ति से कहीं अधिक महान् और महत्त्वपूर्ण है। हम तो इसको नाटक का सुखान्त ही मानते हैं, क्योंकि नाटक के आरम्भ में हम राज्य के प्रति उदासीन एवं त्याग भावना द्वारा ओतप्रोत स्कन्दगुप्त से परिचित होते हैं। अन्त तक हमको उसके

---

१. पंचम अंक दृश्य ५।

२. पंचम अंक, दृश्य ५।

३. वही।

उसी रूप का सफल निर्वाह दिखाई देता है। स्कन्दगुप्त राज्य-त्याग करके मानो प्रेक्षक की आशाओं को तृप्त कर देता है। प्रेक्षक का स्कन्दगुप्त प्रेक्षक की कल्पना के अनुरूप ही प्रमाणित होता है। यदि स्कन्दगुप्त राज्य-सिंहासन स्वीकार कर लेता, तो प्रेक्षक एक क्षण के लिए यह भी सोच सकता था कि अधिकारों के प्रति उदासीनता प्रदर्शन मात्र था, अनुकूल अवसर आते ही नजर बदल गई और स्कन्दगुप्त की उदासीनता एवं त्यागशीलता न मालूम कहाँ चली गई ? महाकाव्य की भाँति नाटक का उद्देश्य यदि पुरुषार्थ चतुष्टय—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में किसी पुरुषार्थ की सिद्धि मानी जाय, तो हमको यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि स्कन्दगुप्त नाटक का उद्देश्य-मोक्ष है और इस उद्देश्य की प्राप्ति में नाटक का नायक स्कन्दगुप्त पूरी तरह सफल होता है।

विजया द्वारा विवाह का प्रस्ताव करने पर स्कन्दगुप्त प्रत्युत्तर में अपने जीवन का लक्ष्य स्पष्ट कर देता है—"मैं सम्राट बनकर सिंहासन पर बैठने के लिए नहीं हूँ, शस्त्र बल से यदि शरीर देकर भी यदि हो सका, तो जन्म-भूमि का उद्धार कर लूँगा। सुख के लोभ से, मनुष्य के भय से, मैं उत्कोच देकर क्रीत साम्राज्य नहीं चाहता।"[१]

स्कन्दगुप्त देवसेना के साथ विवाह करके जीवन व्यतीत करना चाहता है। देवसेना भी उसके प्रति अनुरक्त है। वह स्पष्टतः कह देती है—"इस हृदय में—आह ! कहना ही पड़ा, स्कन्दगुप्त को छोड़कर न तो कोई दूसरा आया और न आएगा। अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर उसी की उपासना करने दीजिए।"[२]

इच्छा होते हुए भी देवसेना स्कन्दगुप्त के साथ विवाह नहीं कर सकती है, क्योंकि "प्रतिदान लेकर वह अपने भाई के राज्य-त्याग के महत्त्व को कलंकित नहीं करना चाहती।"

स्कन्दगुप्त अपनी प्रेयसी के इस उद्देश्य में सहायक होता है और आजीवन अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा करता है। अपनी जननी की समाधि को साक्षी करता हुआ स्कन्दगुप्त कहता है—"मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं कुमार जीवन

---

१. पंचम अंक, दृश्य २।
२. वही।

ही व्यतीत करूँगा।...... ...कल्याण का श्रीगणेश। यदि साम्राज्य का उद्धार कर सका, तो उसे पुरगुप्त के लिए निष्कंटक छोड़ जा सकूँगा।"[१]

महाप्रयाण के समय देवसेना अपने प्रेमी स्कन्दगुप्त से कहती है कि "मेरे इस जीवन के देवता! और उस जीवन के प्राप्य।"[२]

कौन कहता है कि स्कन्दगुप्त को देवसेना मिली नहीं? त्याग और क्षमा की गंगा-यमुना के मध्य नाटक का अन्त होता है। इसे यदि सुखान्त नहीं कह सकते हैं, तो इसको दुखान्त भी नहीं कह सकते हैं। 'प्रसाद' ने अपने नाटकों का अन्त प्रायः सुख-दुःख के विचित्र संयोग द्वारा किया है। विद्वानों ने इनको प्रासादान्त कहा है। उपर्युक्त विवेचन के निष्कर्ष रूप स्कन्दगुप्त नाटक का अन्त भी 'प्रसादपूर्ण' कहा जा सकता है और हम इसको भी प्रसादान्त कह सकते हैं।

स्कन्दगुप्त नाटक में आरम्भ से अंत तक क्षमा और क्रूरता का संघर्ष चलता है। नाटक की समाप्ति तक क्षमाशीलता की पूर्ण विजय हो जाती है और सर्वत्र सुख-शांति का साम्राज्य हो जाता है। इस दृष्टि से भी नाटक सुखान्त ही कहा जाना चाहिए।

अन्त में देवसेना घुटने टेक देती है और स्कन्दगुप्त उसके सिर पर हाथ रखता है। यह दृश्य-विधान मानसिक तृप्ति एवं शान्ति का सूचक है। हमारे विचार से देवसेना की मृत्यु 'प्रसाद पूर्ण' अवसादन ही करती है और नाटक दुःखान्त नहीं होने पाता है। प्रेक्षक दुःखी होकर नहीं, बल्कि गद्‌गद् होकर प्रेक्षागृह से बाहर निकलता है। देवसेना की मृत्यु पर कदाचित् ही कोई प्रेक्षक दुःखी होता हो, क्योंकि मनोवैज्ञानिक रूप से प्रेक्षक इसके लिए पहले से तैयार रहता है।

अत्याचार और अधर्म की पराजय तथा क्षमाशीलता और धर्म की विजय के साथ समस्त क्रूर पात्र क्षमा और सद्भावना के संगम में स्नान करके पवित्र होते हुए दिखाई देते है। खल-पात्र अपने कुकर्मों का फल भोग चुकते हैं। इससे

---

१. पंचम अंक, दृश्य २।
२. पंचम अंक, दृश्य ६।

प्रेक्षक को प्रसन्नता होती है। इस दृष्टि से भी नाटक सुखान्त ही कहा जाना चाहिए।

वस्तु-स्थिति यह है कि स्कन्दगुप्त ने अधिकार या फल को प्राप्त करने की कभी इच्छा ही नहीं की। अत: उसके सम्बन्ध में यह प्रश्न ही नहीं उठता है कि उसको अधिकार या फल की प्राप्ति हुई अथवा नहीं? वह तो सब कुछ प्राप्त करके भी छोड़ देता है। स्कन्दगुप्त के जीवन का उद्देश्य केवल कर्त्तव्य-पालन है—निमित्तमात्र बनकर ईश्वरेच्छा का निर्वाह करना है। वह स्वयं कहता है—"इसी पृथ्वी को स्वर्ग होना है;......विश्व-नियन्ता का ऐसा ही उद्देश्य मुझे विदित होता है।.......मैं कुछ नहीं, उसका अस्त्र हूँ,......मेरी निज की कोइ इच्छा नहीं। मुझे उसके संकेत पर केवल अत्याचारियों के प्रति प्रेरित होना नहीं।"[1]

कहने की आवश्यकाता नहीं है कि स्कन्दगुप्त उक्त उद्देश्य की पूर्ति में पूरी तरह सफल होता है।

कुछ आलोचक स्कन्दगुप्त नाटक के उदेश्य पर एक भिन्न दृष्टिकोण से विचार करते हैं। उसके मतानुसार—"स्कन्दगुप्त नाटक में प्रसाद जी का उद्देश्य गृह-कलह और विदेशी आक्रमणों से देश को निरापद बनाकर आर्य-साम्राज्य की स्थापना करना तथा देश-प्रेम आदि आधुनिक परिस्थितियों और समस्याओं को सामने लाकर उनका हल खोजना है।" पाठक सहमत होंगे कि इस दृष्टि से भी नाटककार अपने उद्देश्य में सफल हुआ है और स्कन्दगुप्त ही उसके इस उद्देश्य की पूर्ति का मुख्य हेतु है। वह हूणों को परास्त करके सिन्धु के उस पार भगा देता है और देश को विदेशी आक्रमणकारियों से निरापद कर देता है। अपने सौतेले भाई को राज्य सौंप देता है। सौतेली माँ अनन्तदेवी की महत्त्वाकांक्षा पूरी होती है—वह राजमाता बनती है और कुचक्री भटार्क को ही महाबलाधिकृत बना रहने देता है—क्योंकि अनन्तदेवी एवं पुरगुप्त को उसका विश्वास प्राप्त है। स्कन्दगुप्त सदा के लिए हट जाता है। इस प्रकार गृह-कलह भी शांत हो जाता है। चूँकि स्कन्दगुप्त आजन्म, अविवाहित रहने की

---

१. **पंचम अंक, दृश्य २।**

प्रतिज्ञा कर लेता है, इसलिए दूरस्थ भविष्य में भी गृह-कलह की आशंका नहीं रह जाती है।

स्कन्दगुप्त के व्यक्तित्व में प्रसाद ने महात्मा गांधी जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचन्द बोस, वल्लभ भाई पटेल आदिक सच्चे देश-सेवियों एवं आजादी के दीवानों का समन्वित रूप प्रस्तुत किया है। निस्पृह एवं अनासक्त भाव से देश-सेवा ही हमारी समस्याओं का एकमात्र समाधान हो सकता है।

स्कन्दगुप्त मातृभूमि का सच्चा सेवक है। उसको माता देवकी मानो भारत-माता है! देवकी का संदेश ही मानो भारत माता का संदेश है। उसका सदेश है—"बुरे दिन कहते किसे हैं? जब स्वजन लोग अपने शील-शिष्टाचार का पालन करें—आत्मसमर्पण, सहानुभूति, सत्पथ का अवलम्बन करें, तो दुर्दिन का साहस नहीं कि उस कुटुम्ब की ओर आँख उठाकर देखें। इसलिए इस कठोर समय में भगवान् की स्निग्ध करुणा का शीतल ध्यान करें।"[1]

स्कन्दगुप्त के रूप में प्रसाद ने सच्चे देश-सेवक की अवतारणा की है और देवकी के उक्त संदेश द्वारा आन्तरिक एकता की कल्पना की है। निस्पृह देश-सेवा के फलस्वरूप विदेशी आक्रमणकारी पराजित होते हैं और देश सदा-सर्वदा के लिए निरापद हो जाता है। तत्कालीन परिस्थितियों में यह कल्पना सर्वथा यथार्थ द्वारा समर्थित थी और हुआ भी ऐसा ही। भारतवर्ष के नर-नारी, बाल-वृद्ध सब ने मिलकर अहिंसा के पथ का अवलम्बन किया और भारत माता की दासता की बेड़ियाँ कट गयीं। शान्ति-सेना के नायक महात्मा गांधी ने स्वतन्त्र भारत की शासन-व्यवस्था में कोई पद स्वीकार नहीं किया। वह नई दिल्ली छोड़कर नोआखाली में लगी हुई साम्प्रदायिकता की आग को बुझाने के लिए चला गया। स्कन्दगुप्त नाटक में प्रस्तुत समाधान तत्कालीन परिस्थितियों के सर्वथा अनुकूल सिद्ध होता है। इस दृष्टि से भी हम नाटक को सफल एवं सुखान्त ही कहगे।

निष्कर्ष—देवसेना की मृत्यु और स्कन्दगुप्त के राज्य सिंहासन त्याग द्वारा प्रेक्षक के सुख में विशेष व्याघात उत्पन्न नहीं होता है। अतः नाटक का अंत सर्वप्रकारेण प्रसादनकारी ही कहा जाना चाहिए। स्कन्दगुप्त नाटक में सुख-दुख

---

१. **द्वितीय अंक, दृश्य ४।**

दोनों का सुन्दर समन्वय किया गया है। स्कन्दगुप्त नाटक के सम्बन्ध में प्रो० शिलामुख का यह कथन पूरी तरह लागू होता है "कि प्रसाद की सुखान्त भावना प्रायः वैराग्यपूर्ण अथवा मानव प्रेम से भरित शान्ति होती है।"[१]

प्रसाद के पात्र किसी सांसारिक उद्देश्य के लिए भयानक संघर्ष में प्रविष्ट होकर शान्ति अवश्य प्राप्त करते हैं। इस दशा में प्रसाद के नाटक संस्कृत (प्राचीन) और अंग्रेजी (अर्वाचीन) दोनों शैलियों से भिन्न रहते हैं। स्कन्दगुप्त नाटक भी एक ऐसा ही नाटक है।

अन्य नाटकों की भाँति स्कन्दगुप्त नाटक में भी प्रसाद ने दुखान्त भावना में दार्शनिकता का पुट दे दिया है। उन्होंने कर्त्तव्य को सर्वोपरि मानकर आत्म-संतोष को उसका परिणाम माना है। नायक स्कन्दगुप्त आत्म-संतोष की सजीव प्रतिमा है।

कर्त्तव्य-पालन की अवस्था में इतना बड़ा त्याग करते हुए भी स्कंद असीम आत्म संतोष का अनुभव करता है। स्कन्दगुप्त का राज्य-त्याग एवं आजन्म कौमार-व्रत धारण करना—नाटक को दुखान्त रूप दे सकते थे, परन्तु ऐसा नहीं हो पाया है। उसका त्याग आत्म-संतोष जन्य सुखान्त भावना पर अवलम्बित है। यह नाटक निश्चय ही प्रसादान्त है।

प्रश्न २६—प्रसाद के नाटकों में अभिनेयता सम्बन्धी गुण-दोषों का विवेचन करते हुए अभिनेयता की दृष्टि से स्कन्दगुप्त की समीक्षा कीजिए।

उत्तर—अभिनयशीलता : दृश्य काव्य का आवश्यक गुण है—नाटक दृश्य काव्य है। अतः यह आवश्यक है कि नाटक का अभिनय किया जाय और वह हमारी चक्षुयेन्द्रिय की तृप्ति का विधान कर सके। अभिनयशीलता नाटक का अनिवार्य गुण है। हो सकता है कि कुछ नाटकों की रचना इस प्रकार की गई हो कि उनका आनन्द पढ़कर भी लिया जा सके अथवा केवल पढ़कर ही लिया जा सके। परन्तु यह निर्विवाद है कि नाटक का वास्तविक आनन्द उसके मंच पर खेले जाने में ही है। अन्यथा उसको दृश्य-काव्य कहा ही क्यों जाता? दृश्य-काव्य अथवा नाटक की यह विशेषता है कि वह श्रव्य-काव्य की अपेक्षा कहीं अधिक प्रेक्षक को प्रभावित कर सकता है। अतः जिस नाटक का रंगमंच पर

---

१. प्रसाद की नाट्यकला, पृ० ६५।

अभिनय जितनी ही सफलतापूर्वक किया जा सके, वह नाटक उतना ही अधिक सफल कहा जाना चाहिए।

चित्रोपमता और सजीवता—श्रेष्ठ काव्य-कला के लक्षण माने जाते हैं। वह श्रव्य-काव्य भी अत्यधिक सफल माना जाता है, जिसमें उपर्युक्त गुण होते हैं। वह जिस सीमा तक भावनाओं को मूर्तिमान कह सकता है तथा वर्ण्यविषय के सजीव चित्र प्रस्तुत कर सकता है, उसी सीमा तक वह सफल भी माना जाता है। तब दृश्य-काव्य अथवा नाटक में तो चित्रोपमता और सजीवता के गुणों का निर्वाह विशेष रूप होना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि नाटक और नाटककार की सर्वोपरि सफलता यह है कि वह अदृश्य को दृश्य में परिवर्तित करके अपनी निपुणता एवं प्रतिभा के द्वारा दर्शकों के चित्त को मोह लेता है।

अभिनय की दृष्टि से प्रसाद के नाटकों की कमियाँ—श्री जयशंकर प्रसाद हिन्दी के सर्वप्रथम मौलिक नाटककार हैं और काव्य के अन्य क्षेत्रों की भाँति नाटक रचना के क्षेत्र में भी उनका बहुत ही उच्च स्थान है। परन्तु उनके नाटकों में एक दोष प्रायः पाया जाता है। रंगमंच पर उनका अभिनय सफलता-पूर्वक नहीं किया जा सकता है। अभिनय की दृष्टि से प्रासाद के नाटकों में कुछ दोष पाए जाते हैं। संक्षेप में वे निम्नलिखित प्रकार के हैं:—

१. पात्रों की संख्या की अधिकता।
२. दृश्यों की अधिकता।
३. देश-काल की सीमाओं का विस्तार।
४. लम्बे-लम्बे कथोपकथन।
५. 'सहसा प्रवेश' की अधिकता।
६. दार्शनिकता का समावेश।
७. भाषा का क्लिष्ट होना।
८. गीतों की अधिकता और उनकी भाषा का अत्यधिक साहित्यिक होना।
९. नाटक का अत्यधिक विस्तार।

इन तत्वों को ध्यान में रखकर हम 'स्कन्दगुप्त' नाटक की अभिनेयता पर विचार करते हैं। यथा—

(१) पात्रों की संख्या—नाटक के पात्रों की संख्या जितनी ही अधिक होगी,

पात्रों को रंगमंच पर प्रस्तुत करने में उतनी ही अधिक कठिनाइयाँ सामने आती हैं। इसके दो मुख्य कारण हैं—(क) अधिक पात्रों की साज-सज्जा में अधिक कठिनाई होती है। जितने ही अधिक पात्र होंगे, नाटक तैयार करने के लिए उतने ही अधिक पात्रों को प्रशिक्षित करना पड़ता है और उतनी ही अधिक वेश-भूषा की व्यवस्था करनी पड़ती है, तथा (ख) अधिक पात्रों के नामों का ध्यान रखने में एवं उनके चरित्र को याद रखने में प्रेक्षकों को भी असुविधा होती है। स्कन्दगुप्त नाटक में महाप्रतिहार, महादण्डनायक, नन्दीग्राम का दण्डनायक, प्रहरी, सैनिक इत्यादि के अतिरिक्त १७ मुख्य पुरुष पात्र हैं, तथा सखियों, दासियों इत्यादि के अतिरिक्त ८ मुख्य नारी-पात्र हैं। इस प्रकार केवल मुख्य पात्रों की संख्या ही २५ है। यह संख्या निश्चय ही असुविधाकारक है। इतने अधिक पात्रों को खोजना और पात्रों की इस लम्बी पलटन को अभिनय के लिए तैयार करना कोई साधारण और सरल काम नहीं है।

(२) **दृश्यों की संख्या**—प्रत्येक दृश्य का विधान पृथक् रूप में करना पड़ता है। कम से कम इतना तो करना ही पड़ता हैं कि प्रत्येक दृश्य के लिए एक पृथक चित्र वाला पर्दा हो। और फिर प्रत्येक दृश्य-विशेष में कुछ सामान विशेष—फर्नीचर आदि की व्यवस्था करनी पड़ती है। अतः स्पष्ट है कि नाटक में जितने ही अधिक दृश्य होंगे, रंगमंच को तैयार करने में उतनी ही अधिक असुविधा होगी। प्रत्येक दृश्य के लिए विशेष प्रकार के सामान की व्यवस्था करनी ही पड़ती है। स्कन्दगुप्त नाटक में निम्नलिखित दृश्यों का विधान करना पड़ता है—

(i) गुप्त-साम्राज्य का स्कन्धावार—(उज्जयिनी)
(ii) कुमारगुप्त और उनके परिषद् का राजमन्दिर—(कुसुमपुर)
(iii) पथ
(iv) अनन्तदेवी का सुसज्जित प्रकोष्ठ
(v) अन्तःपुर का द्वार
(vi) नगर-प्रान्त का पथ
(vii) अवन्ती का दुर्ग
(viii) शिप्रा-तट-कुंज—(मालव)

(ix) बौद्ध मठ
(x) देवकी का राजमन्दिर
(xi) बन्दीगृह
(xii) राजसभा
(xiii) श्मशान
(xiv) उपवन
(xv) गान्धार की घाटी—रणक्षेत्र
(xvi) कुम्भा का रणक्षेत्र
(xvii) भटार्क का शिविर
(xviii) कश्मीर
(xix) बिहार के समीप चतुष्पथ
(xx) कमला की कुटी
(xxi) कनिष्क स्तूप
(xxii) महाबोधि-विहार

इस प्रकार इस नाटक में २२ प्रकार के दृश्य-विधान का संकेत है। यदि बहुत निर्देशीय कुशलता दिखाई जाए, तो ४ दृश्यों में काट-छाँट की जा सकती है। तब भी १८ प्रकार के पर्दों और २२ दृश्यों से सम्बन्धित सामग्री का जुटाना तो बना ही रहता है। यह अवश्य ही असुविधाकारक है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसाद जी रंगमंच की आवश्यकताओं का ध्यान किए बिना ही दृश्यों का विधान करते गए हैं। इतने अधिक दृश्यों से युक्त नाटक का अभिनय सचमुच असुविधाकारक है। यह बात दूसरी है कि स्वाभाविकता की बलि देकर ४-५ दृश्यों से ही काम चला लिया जाय। वैसे दृश्य-विधान की दृष्टि से इसका अभिनय करना बहुत ही कठिन कार्य है।

(३) **देश-काल की सीमाओं का विस्तार** -- नाटक की अभिनेयता पर विचार करते समय साहित्य-शास्त्रियों ने संकलन-त्रय पर बहुत बल दिया है। इससे प्रेक्षक का ध्यान घटनाचक्र एवं कार्य पर केन्द्रित रहता है। 'स्कन्दगुप्त' नाटक में गान्धार से लेकर मगध तक और काश्मीर से लेकर मालवा तक की विस्तृत सीमाओं में घटित होने वाले घटनाचक्र को लेकर कथानक का संगठन किया गया है। प्रेक्षक का ध्यान कभी गान्धार, कभी मगध, कभी काश्मीर और कभी

मालवा की ओर जाता है। इसी प्रकार नाटक के काल-तत्त्व की भी सीमाएँ बहुत व्यापक हैं। इसके कथानक में कई वर्षों के भीतर घटित होने वाली घटनाओं का समावेश कर दिया गया है। इस प्रकार संकलनत्रय का निर्वाह प्राय: दूभर है और इस कारण इसमें व्याघात उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

(४) **कथोपकथन**—प्रसाद के नाटकों के कथोपकथन विचार एवं चिन्तन गर्भित होते हैं। ऐसा होने से वे काफी लम्बे हो जाते हैं और व्याख्यानवत् प्रतीत होने लगते हैं। उनमें वार्त्तालाप को स्वाभाविकता नहीं रह पाती है और वे प्राय: नीरस हो जाते हैं। ऐसे कथोपकथनों को प्रेक्षक सुनते हुए और पाठक पढ़ते हुए ऊब जाता है। यह संतोष की बात है कि स्कन्दगुप्त नाटक में बहुत कम अवसरों पर कथोपकथन आवश्यकता से अधिक लम्बे हो पाए हैं। लगभग १० स्थलों पर कथोपकथन व्याख्यानवत् हो गए हैं। परन्तु ये स्थल ऐसे हैं जहाँ पर थोड़ा सा प्रयत्न करके इनमें काट-छाँट की जा सकती है और कथोपकथनों को रंगमंच के अनुकूल बनाया जा सकता है।

(५) **सहसा प्रवेश**—सहसा प्रवेश का प्रयोग पारसी नाटक कम्पनियों की देन है। 'सहसा प्रवेश' का प्रयोग प्रसाद के नाटकों में प्राय: किया जाता है। हमारे विचार से इसके द्वारा रंगमंचीय सुविधा हो जाती है और इसको बहुत बड़ा दोष नहीं माना जाना चाहिए। इससे अभिनय में कुछ अस्वाभाविकता तो आ जाती है, परन्तु सुविधा यह रहती है कि एक पात्र विशेष अपना कार्य करके चला जाता है और दूसरा पात्र अवसर विशेष पर प्रवेश कर लेता है। स्कन्दगुप्त नाटक में स्कन्दगुप्त और धातुसेन कई बार सहसा-प्रवेश करते हैं। इसके द्वारा अभिनय में सुविधा हो आई है।

प्रसाद के नाटकों में तो यह दोष सर्वथा क्षम्य ही है। जिन दिनों प्रसाद जी नाटक-रचना कर रहे थे, उन दिनों रंगमंच की सुविधाएँ बहुत सीमित थीं। आधुनिक ढंग के सर्वसाधन सम्पन्न रंगमंच का विकास नहीं हो पाया था।

(६) **दार्शनिकता का समावेश**—प्रसाद जी का व्यक्तित्व एक चिन्तनशील दार्शनिक का व्यक्तित्व था। उनके दार्शनिक व्यक्तित्व की छाप उनकी प्रत्येक रचना के ऊपर दिखाई देती है। दार्शनिकता के पुट के फलस्वरूप विचारधारा गहन-

गम्भीर बन जाती है और उसको वहन करने वाली भाषा दुरूह एवं क्लिष्ट हो जाती है। प्रसाद के नाटकों की विचारधारा इसी कारण दुरूह बन गई है।

स्कन्दगुप्त नाटक इस प्रवृत्ति का अपवाद नहीं है। इस नाटक का प्रत्येक पात्र, विशेषकर पुरुष पात्र—दार्शनिक की भाँति चिन्तनशील व्यक्ति के रूप में हमारे सामने आता है। इस नाटक की विचारधारा निश्चय ही दुरूह बन गई है। इस कारण अन्य नाटकों की भाँति स्कन्दगुप्त नाटक भी सामान्य जनता की पहुँच के बाहर की वस्तु है। स्कन्दगुप्त के स्वगत-कथन सामान्य शिक्षित पाठक की भी पहुँच के बाहर को वस्तु हैं।

(७) **भाषा की क्लिष्टता**—गम्भीर विचारधारा के फलस्वरूप प्रसाद के नाटकों की भाषा संस्कृतनिष्ठ और साहित्यिक है। प्रसाद कवि भी थे। इस कारण वह काव्यमय भी है। काव्यमय एवं संस्कृत गर्भित होने के कारण इनकी भाषा सामान्य पाठक एवं प्रेक्षक के लिए कठिन हो जाती है। इस क्लिष्टता के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग उसमें साहित्यिकता का दर्शन करते हैं और कुछ लोगों की राय में वह दुरूह एवं क्लिष्ट है। हमारे विचार से प्रसाद के नाटक विद्वानों के मनोरंजन की वस्तु हैं, अधकचरे शिक्षितों के मन बहलाने की सामग्री नहीं हैं। उनकी भाषा की दुरूहता एवं क्लिष्टता के मूल में हिन्दी-भाषा-भाषियों का सीमित भाषा-ज्ञान है, भाषा की अस्वाभाविकता नहीं है। अंग्रेजी भाषा की क्लिष्टता एवं दुरूहता की शिकायत करने वाले बहुत कम पाठक दिखाई देते हैं, जब कि हिन्दी में संस्कृत के चार-छः शब्द देखकर ही लोग चौंक पड़ते हैं। प्रसाद उच्च कोटि के कलाकार थे। इस कारण उनके नाटकों की भाषा यदि साहित्यिक है तो यह सर्वथा स्वाभाविक ही है। प्रसाद के नाटक मध्यकालीन भारत के इतिहास को लेकर लिखे गए हैं। इस कारण उसकी भाषा में संस्कृत शब्दों की बहुलता उचित है। हाँ, उनकी भाषा में एक दोष अवश्य है। उसमें कहीं-कहीं पात्रानुकूलता का गुण नष्ट हो जाता है। समस्त पात्र एक-सी ही संस्कृतबहुला भाषा बोलते हुए दिखाई देते हैं। परन्तु यह भी कोई बहुत बड़ा दोष नहीं है। नाटकों की कथावस्तु जिस युग से सम्बन्धित है, उस युग की जन-भाषा आज की बोलचाल की हिन्दी से बहुत भिन्न थी। स्कन्दगुप्त नाटक की भाषा में संस्कृत के शब्दों का पुष्कल प्रयोग

है, परन्तु वह अस्वाभाविक नहीं है। उसमें साहित्यिकता एवं चिन्तनशीलता का सुखद संयोग दृष्टव्य होता है।

(८) **गीतों का समावेश**—नाटक में गीतों का समावेश संगीतात्मक सुखद वातावरण की सृष्टि करता है और इनके द्वारा प्रेक्षक का रंजन होता है तथा कथानक सरल एवं मनोरंजक बना रहता है। परन्तु यदि गीतों का समावेश बार-बार किया जाए, तो पाठक ऊबने लगता है। नाटक में गीतों के बाहुल्य के कारण कथानक में व्याघात उत्पन्न होता है और रसात्मकता भंग होती है। प्रसाद के नाटकों में गीतों का बाहुल्य रहता है और इस कारण अभिनय की दृष्टि से उनके नाटकों में एक यह भी दोष पाया जाता है। स्कन्दगुप्त नाटक में १७ गीत हैं। इनमें कई गीत तो काफी लम्बे-लम्बे हैं। देवसेना गाने की शौकीन है—अतः वह मौके-बे-मौके गीत छेड़ देती है। हमारे विचार से इस नाटक का यह दोष है। अवसर के अनुकूल नाटक में ३-४ गीत ही अच्छे लगते हैं। परन्तु इसके साथ ही हम यह भी कहेंगे कि यह कोई ऐसा दोष नहीं है, जिसको दूर न किया जा सके। अभिनय की दृष्टि से इने-गिने कुछ उपयोगी गीतों का चयन किया जा सकता है। अन्य गीतों को यदि निकाल दिया जाए, तो नाटक को कथावस्तु की रसात्मकता अक्षुण्ण बनी रहे। स्कन्दगुप्त नाटक के गीतों की अत्यधिकता इसकी गम्भीरता में तो बाधक है ही—उनमें एक अन्य दोष भी है। वे दार्शनिक विचारों से युक्त हैं, अतः कठिन और अस्पष्ट भी हो गए हैं। इनको समझने में सामान्य पाठक एवं प्रेक्षक को कठिनाई होती है।

परन्तु यदि साहित्यिक रसास्वादन की दृष्टि से देखें, तो ये गीत सर्वदा काव्योचित रस से ओतप्रोत हैं। इनको समझने वाला पाठक इनको सुनते हुए कभी भी ऊबने नहीं पाएगा।

(९) **नाटक का विस्तार**—प्रसाद के नाटक प्रायः काफी लम्बे हैं। इनको ३-३½ घण्टों में रंगमंच पर खेलना कठिन ही रहता है। सामान्यतः नाटक इतना लम्बा होना चाहिए जिसको २½-३ घण्टे में रंगमंच पर अभिनीति किया जा सके। प्रस्तुत नाटक स्कन्दगुप्त में पाँच अंक हैं, जो ३३ दृश्यों में विभक्त हैं। इस नाटक को प्रस्तुत रूप में २½-३ घण्टों में प्रायः असम्भव ही है। परन्तु इस

कारण यह कहना कि इसका अभिनय ही नहीं किया जा सकता है, गलती होगी। इसके ७ दृश्यों में आवश्यक सुधार—काट-छाँट करके इसको ३ घण्टे में खेलने की व्यवस्था की जा सकती है। स्कन्दगुप्त नाटक में वास्तव में दृश्यों की संख्या अधिक है। अभिनय की दृष्टि से यह दोष है।

सारांश यह है कि अन्य नाटकों की भाँति स्कन्दगुप्त नाटक में अभिनय की दृष्टि से कई कारण हैं—

(क) प्रसाद के समय तक हिन्दी रंगमंच का यथेष्ट विकास नहीं हो पाया था।

(ख) प्रसाद जी का अवतरण मुख्यतः कवि के रूप में हुआ था। फलतः उनकी समस्त कृतियों पर रहस्यवाद की छाप है और भाषा अस्पष्ट एवं जटिल हो गई है। उनके नाटक भी इसके अपवाद नहीं हैं।

(ग) प्रसाद स्वभावतः एक चिन्तनशील और दार्शनिक प्रकृति के व्यक्ति थे। अतः दार्शनिकता का पुट आ जाने के कारण उनकी भाषा-शैली अपेक्षाकृत क्लिष्ट बन गई है।

(घ) प्रसाद ने नाटकों की रचना वस्तुतः अभिनय की दृष्टि से की भी नहीं थी। उन्होंने तो पठनीय नाटकों की रचना की थी।

निष्कर्ष—अन्य नाटकों की भाँति प्रसाद का यह नाटक स्कन्दगुप्त भी एक ऐतिहासिक नाटक है। इसके अन्तर्गत नाटककार ने भारत की प्राचीन संस्कृति और सभ्यता का रूप स्पष्ट करने का प्रयास किया है। अपनी प्रतिभा एवं कल्पनाशीलता के द्वारा नाटककार ने विषय प्रतिपादन को बहुत ही सरस और प्रभावशाली बना दिया है। स्कन्दगुप्त नाटक में यद्यपि अभिनय सम्बन्धी कतिपय त्रुटियाँ हैं, तथापि आवश्यक काट-छाँट करके उनका अभिनय किया जा सकता है। कई स्थानों पर इसके कई दृश्यों का सफलतापूर्वक अभिनय किया जा चुका है।

अन्य नाटकों की भाँति प्रसाद का यह नाटक भी हिन्दी साहित्य की अक्षय निधि है।

प्रश्न २६—भारतेन्दु और प्रसाद की नाट्यकला की तुलना कीजिए।

उत्तर—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी में नाटकों का श्रीगणेश किया, तथा

प्रसाद जी ने इस क्षेत्र को परिष्कृत किया। इनकी नाटक-सम्बन्धी विशेषताएँ निम्नलिखित प्रकार हैं :—

भारतेन्दु द्वारा विरचित रचनाओं को चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। यथा—

(अ) अनुवादित नाटक

(ब) रूपान्तरित नाटक

(स) मौलिक

(द) प्रहसन

वे इस प्रकार हैं : (अ) अनुवादित नाटक—रत्नावली, पाखण्ड विडम्बन, धनंजय-विजय, कर्पूर मंजरी, दुर्लभ बन्धु तथा मुद्रा राक्षस; (ब) रूपान्तरित नाटक—विद्या सुन्दर, सत्य हरिश्चन्द्र; (स) मौलिक—प्रेम, जोगिनी, चन्द्रावली, भारत-दुर्दशा, नीलदेवी, सती प्रताप; और (द) प्रहसन—वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति, विषस्य विषमौषधम् तथा अन्धेर नगरी।

सारांश यह है कि भारतेन्दु ने सभी प्रकार के नाटकों की रचना की और हमारे विचार से समय को देखते हुए, हिन्दी साहित्य के तत्कालीन स्वरूप को देखते हुए, प्रत्येक क्षेत्र में आशातीत सफलता प्राप्त की।

अनुवादित नाटकों में किसी प्रकार के परिवर्तन का अवसर तो रहता ही नहीं। भारतेन्दु ने नाटकों का अनुवाद करते समय किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं ली। नाटकों का अनुवाद करते समय उन्होंने मूल-भाव को अक्षुण्ण रखा, और साथ ही ऐसी व्यावहारिक भाषा का प्रयोग किया कि अनुवाद में मूल का-सा आनन्द आ जाता है। अतः भारतेन्दु का एक सफल अनुवादक का रूप भी है।

भारतेन्दु की कलात्मकता उनके प्रहसनों में देखी जा सकती है। उनके दो प्रहसन 'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति' तथा 'अंधेर नगरी' उच्च कोटि के प्रहसन हैं। दोनों नाटकों की भाषा अत्यन्त सजीव एवं व्यावहारिक है। उनमें तीखे व्यंग्यों की मार है, पात्रों का चुनाव उपयुक्त तथा वस्तु का विकास स्वाभाविक है। बीच-बीच में आ जाने वाले शिष्ट-हास्य के छींटे नाटकों को अत्यन्त सरस और कलात्मक बना देते हैं। इन नाटकों के निर्माण-तत्त्व सराहनीय हैं। सारांश यह है कि भारतेन्दु हास्य और कौतुकपूर्ण रचनाओं के लिखने में

भी पूर्ण रूप से दक्ष थे। भारतेन्दु के नाटकों में प्राचीन तथा नवीन—दोनों परम्पराओं का मिश्रण हो गया है। वस्तु-विषय के लिए उनके सम्मुख यद्यपि प्राचीन परम्परा थी, धार्मिक और पौराणिक नाटकों की परम्परा थी तथापि इस परम्परा के अन्तर्गत लिखे जाने वाले उनके केवल दो नाटक आते हैं—(१) **सत्य हरिश्चन्द्र**, और (२) **चन्द्रावली नाटिका**। इस परम्परा के अन्तर्गत चन्द्रावली को रखने का यही कारण है कि उसके अन्दर भक्ति-तत्त्व का प्रदर्शन किया गया है। उनकी अन्य सब रचनाओं के विषय प्रख्यात ऐतिहासिक न होकर समयानुकूल ही हैं।

नाटकों के विषयों को समयानुकूल बना देने से नाटककार को एक बहुत बड़ा लाभ यह होता है कि उसके विस्तृत और अनेक रूप बन जाते हैं। भारतेन्दु को भी संस्कृत नाट्यशास्त्र को इस निर्धारित परम्परा में परिवर्तन करने से यह लाभ हुआ कि उन्हें नाटक में जीवन के विविध अङ्गों का समावेश कर सकने का अवसर प्राप्त हो गया और उनके सामने नाट्य-रचना सम्बन्धी कठिनाइयाँ अपेक्षाकृत कम रह गईं। विचारधारा सीमित न रहकर नवीन आख्याओं की ओर उन्मुख हो गई। जैसे—'विद्यासुन्दर' एक रोमांटिक नाटक है, 'प्रेमजोगिनी' में सामाजिक जीवन के चित्र हैं, 'भारत जननी' और 'भारत दुर्दशा' राष्ट्र-प्रेम की भावना से ओत-प्रोत हैं और 'नोल देवी' में तत्कालीन नारी समाज के लिए जीवन-संघर्ष की प्रेरणा है। प्रहसनों में उस समय में प्रचलित अनेक सामाजिक धारणाओं एवं विचारों पर उत्कृष्ट व्यंग्य है। अस्तु,

यही बात पात्रों और उनके चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध में भी समझ लेनी चाहिए। कथावस्तु के अनुरूप पात्रों और उनके चरित्र-चित्रण का भी क्षेत्र व्यापक बन गया है। संस्कृत नाट्यशास्त्र में चूँकि मूलतः आदर्शवाद की प्रेरणा है, इसलिए प्रख्यात कथावस्तु की भाँति नाटक का नायक उच्च घराने का क्षत्रिय राजा एवं कोई देवोपम पुरुष होना चाहिए। परन्तु क्षेत्र विस्तृत हो जाने से भारतेन्दु के नाटकों में सब प्रकार के पात्रों का समावेश हो गया है। उनमें सत्यवादी प्रजावत्सल हरिश्चन्द्र भी हैं और 'अन्धेर नगरी' से ज्ञानहीन राजा भी, उनमें त्यागी, वीर, सुन्दर, प्रेमी भी हैं और पापात्मा मीर अबदुश्शरीफखाँ सूर भी हैं; उनमें भगवद्भक्त चन्द्रावली भी है और धनदास तथा बनितादास जैसे धूर्त भी हैं। उनके नाटकों में—मन्त्री, वैद्य, पण्डित,

काजी, मुल्ला, सिफारिशी, व्यापारी, गुण्डे, पण्डे, कुँजड़े और फल बेचने वाले भी हैं और राजनीतिक कर्मचारी भी हैं, और सबका चरित्र प्रत्येक पात्र के अनुकूल है, उपदेशप्रद भी है और यथार्थ भी।[1]

संस्कृत के नाटकों का साहित्यिक महत्त्व अधिक है, इसी कारण इनमें रस-परिपाक पर विशेष बल दिया गया है। भारतेन्दु के नाटकों का काव्य की दृष्टि से कम महत्त्व है, इस कारण उनके अन्तर्गत रस वाले तत्त्व की एक प्रकार से उपेक्षा-सी की गई है। परन्तु इन नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे अभिनेय हैं। संस्कृत के नाटकों जैसी एक-रसता का उनमें अभाव है।

भारतेन्दु के नाटकों में शृंगार और हास्य—ये दो रस प्रधान हैं। उनमें पात्रों को सजीव रखने का प्रयत्न किया गया है। उन्हें अपने वास्तविक रूप में ही चित्रित करने के कारण नाटककार ने उनकी भावनाओं पर विशेष ध्यान दिया है। इस प्रकार उनके नाटकों में बाह्य द्वन्द्व के साथ अन्तर्द्वन्द्व का सामंजस्य किया गया है। विचारधारा की नवीनता के मूल में तत्कालीन समाज, अंग्रेजी-साहित्य का सम्पर्क, अंग्रेजी सभ्यता के कारण उत्पन्न नई-नई आवश्यकताएँ; आदि कारण थे।

नाटकों की रचना-शैली में भारतेन्दु ने पूरी स्वतन्त्रता बरती है। किन्हीं नाटकों में तो उन्होंने संस्कृत नाट्यशास्त्र के नियमानुसार प्रारम्भ का नाँदीपाठ और अन्त का भरत-वाक्य—दोनों ही वस्तुएँ रखी हैं, किन्हीं में केवल यही कम किया है और किन्हीं में दोनों की उपेक्षा कर दी है। सारांश यह है कि भारतेन्दु संस्कृत नाट्य-शास्त्र से प्रभावित अवश्य हुए थे और उन्होंने उसे अपनी नाट्य-रचना का मूल-आधार भी बनाया परन्तु यथासम्भव उन्होंने अपने नाटकों में नवीनता को भी स्थान दिया। पूर्व और पश्चिम के इस समन्वय ने परवर्ती साहित्यकारों के लिए एक सुन्दर मार्ग प्रशस्त किया।

भारतेन्दु के नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता उनके गीत हैं। इनके द्वारा अभिनय में किस प्रकार सरसता आती है, बताने की आवश्यकता नहीं है।

---

१. हिन्दी नाटक-साहित्य का विकास—डॉ०सोमनाथ गुप्त।

गीतों द्वारा स्थूल क्रियाओं की अभिव्यक्ति भी होती है और मानसिक स्थिति का व्यक्तीकरण भी। भारतेन्दु के नाटकों के गीत इस उद्देश्य की पूर्ति करने में सर्वथा समर्थ हुए हैं। जैसे 'भारत-दुर्दशा' का यह प्रारम्भिक गीत—

रोवहु सब मिलि के आबहु भारत भाई।
हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

इस गीत द्वारा नाटककार ने हमारी राष्ट्रीयता की भावना को उच्छ्वसित करके हमारे साहित्य को नवीन गति एवं नूतन स्फूर्ति प्रदान की थी।

मातृ-हृदय की कोमलता को व्यक्त करने वाली इस करुण लोरी को भी सुन लीजिए—

सोओ सुख निंदिया प्यारे ललन।
नैनन के तारे दुलारे मेरे बारे,
सोओ सुख निंदिया प्यारे ललन।
भई आधी रात बन सनसनात,
पथ पंछी कोउ आवत न जात।
जड़ प्रकृति भई मन थिर लखात,
पातहु नहिं पावत तरुन हलन।

इस प्रकार के सरस एवं प्रसंगानुकूल गीतों के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। उनके नाटकों में आने वाले कवित्त और सवैया भी अत्यन्त प्रसंगानुकूल, भावाभिव्यंजक एवं प्रभावशाली हैं।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि भारतेन्दु ने प्राचीन और अर्वाचीन, दोनों ही परम्पराओं को अपनाकर हिन्दी-साहित्य की एक बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति की। उन्होंने नाटक के अनेक भेदों के उदाहरण प्रस्तुत किए, एकांकी नाटकों की प्रथा का उन्होंने ही सूत्रपात किया। 'चन्द्रावली' और 'भारत-जननी' को हिन्दी के प्रथम एकांकी माना जाना चाहिये। उनके 'भारत दुर्दशा' और 'नीलदेवी' हिन्दी के प्रथम वियोगान्त नाटक हैं। प्रहसन लिखने की भी परम्परा भारतेन्दु ने ही चलाई। उन्होंने पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर अभिनय-सम्बन्धी भी अनेक सुधार किए।

भारतेन्दु अति मानवीय चरित्रों की सृष्टि के पक्षपाती नहीं थे। उन्होंने जीवन को यथातथ्य रूप में अंकित करने की ओर विशेष ध्यान दिया। उन्होंने कथावस्तु, मात्र, चरित्र-चित्रण, वार्त्तालाप, वातावरण, देश, काल, भाषा, उद्देश्य आदि नाटकों के तत्त्वों की वह परम्परा स्थापित की जिसके द्वारा आगे चलकर हिन्दी के नाटक साहित्य की उन्नति में विपुल सहायता मिली।

सन् १९१९ के रोलट एक्ट तथा अमृतसर हत्याकाण्ड के बाद राष्ट्रीय चेतना को एक नया बल मिला। देश का नेतृत्व गांधी जी के हाथ में आया, और उन्होंने जनता को असहयोग और अहिंसा की शिक्षा देनी प्रारम्भ की। 'जख्मी पंजाब', 'वतन' आदि नाटकों ने जनमत तैयार करने में बहुत सहायता दी।

नये-नये वैज्ञानिक आविष्कार हुए तथा व्यापार-प्रतियोगिता बढ़ी। लोग शारीरिक सुख-सुविधाओं के साधनों की ओर विशेष आकर्षित हुए। शोषक और शोषित वर्ग के अन्तर्द्वन्द्व का बीजारोपण हुआ। सारांश यह कि वह युग सब प्रकार से जन-जागृति का युग था। प्राचीन विचारधारा में महत्त्वपूर्ण प्रतिक्रियाएँ हुईं और फलस्वरूप हिन्दी साहित्य में एक नवीन दृष्टिकोण परिलक्षित हुआ। छायावाद और रहस्यवाद काव्य-क्षेत्र के प्रधान अंग बने। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में भारतीय जीवन की तत्कालीन समस्याओं के सच्चे चित्र चित्रित किये, मैथिलीशरण गुप्त ने राष्ट्रीयता के गीत सुनाये तथा 'हिन्दी-साहित्य सम्मेलन' और 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' ने अनेक पुस्तकें प्रकाशित कीं और अनेक विद्वानों को हिन्दी की ओर आकर्षित किया तथा हिन्दी के अनेक लेखकों को प्रेरणा प्रदान की। इन सब परिस्थितियों में बाबू जयशंकर 'प्रसाद' का व्यक्तित्व सर्वोपरि था।

आरम्भ में 'प्रसाद' हिन्दी जगत में एक सफल कवि के रूप में ही आये। इतिहास के अध्ययन और मनन ने भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में उनकी धारणाओं को बनाया भी और दृढ़ भी किया। 'भाषा, भाव, विचार, अन्वेषण अध्ययन' आदि सभी आवश्यक ज्ञान-सम्बन्धी मान्यताओं से सुसज्जित होकर 'प्रसाद' ने नाटक-क्षेत्र में प्रवेश किया।

आरम्भ में 'प्रसाद' ने चार एकांकी नाटक लिखे—सज्जन, कल्याणीपरिणय, करुणालय और प्रायश्चित्त। कला की दृष्टि से इनका विशेष महत्त्व नहीं है। इनके माध्यम से प्रसाद जी अनेक प्रकार के प्रयोग करते दिखाई पड़ते हैं—काव्य की ब्रजभाषा को अपनाना, खड़ीबोली का उपयोग, अतुकांत गीतों का प्रयास आदि। कथावस्तु के विकास में दोनों प्रकार के मानवी और अतिमानवी साधनों का प्रयोग किया गया। इनमें प्रायः ऐतिहासिक काल के पात्रों से लेकर मुसलमानों के आक्रमण काल तक के व्यक्तियों—जयचन्द आदि को पात्र बनाया गया। प्रसाद की ऐतिहासिक प्रवृत्ति के अंकुर इन एकांकी नाटकों में ही प्रकट होने लगे थे।

प्रसाद ने कई ऐतिहासिक नाटक लिखे। यथा—विशाख, राज्यश्री, अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त, जनमेजय का नागयज्ञ, स्कन्दगुप्त, कामना, एक घूँट, तथा ध्रुवस्वामिनी। अपनी ऐतिहासिक निष्ठा को प्रसाद ने अपने नाटकों में यथास्थान स्पष्टतया व्यक्त भी किया है। जैसे—"इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिये आवश्यक है। हमारी जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है उससे बढ़कर उपयुक्त और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं इसमें मुझे संदेह है।"

"...... मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंग में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत प्रयत्न किया है।"—(विशाख)। अपने इन्हीं विचारों को कार्य रूप में परिणत करने के लिये 'प्रसाद' ने अपनी नाटकमाला तैयार की थी, जिसका प्रथम पुष्प 'विशाख' है तथा अन्तिम पुष्प 'ध्रुवस्वामिनी'।

विशाख, अजातशत्रु तथा जनमेजय—इन तीनों नाटकों में प्रतिहिंसा, करुणा और सहानुभूति का रूप धारण कर लेती है और आत्म-संयम और आत्म-शासन की प्रतिष्ठा होती है। इन नाटकों का विधान इस प्रकार किया गया है कि—महत्त्वाकांक्षाएँ पुरातन को हटाकर नूतन की स्थापना करना चाहती हैं। कहीं-कहीं तो ऐसा प्रतीत होने लगता है कि भारत की युवक आत्मा ही प्राचीनता के प्रति विद्रोह कर उठी है। परन्तु नाटक अतीत के ऐतिहासिक वातावरण में वर्तमान की झाँकी प्रस्तुत करके पाठकों में कौतूहल का सृजन करते हैं।

चन्द्रगुप्त में आदर्श और यथार्थ का सुन्दर समन्वय है तथा अखण्ड भारत की भावना समाई हुई है। यथा—

"मालव और मगध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त्त का नाम लोगे तभी वह (आत्मसम्मान) मिलेगा।"

—(चाणक्य)

"..........परन्तु मेरा देश मालव ही नहीं, गांधार भी है। यही क्या, समग्र आर्यावर्त्त है।"

"एक घूँट' में उन्होंने यही निर्णय किया है कि—"पुरुष की कठोरता का अवसान स्त्री की कोमलता और सौन्दर्याकर्षण में होता है। मधुर मिलन में ही, विरोधों की संधि से ही, संसार का समस्त श्रम-सन्ताप खो जाता है।"

'ध्रुवस्वामिनी' में उन्होंने नारी-समस्या पर नया प्रकाश डाला है। उनकी यह खोजपूर्ण नाटिका पुरातन जीवन का उद्घाटन भी करती है और वर्तमान को प्रेरणा भी देती है।

सारांश यह है कि प्रसाद समय के साथ ही नहीं चले हैं, अपितु उन्होंने समय के अनेक प्रश्नों के विचारपूर्ण उत्तर भी प्रस्तुत किये हैं, युग की अनेक समस्याओं को सुलझाने में उन्होंने मौलिक सुझाव देकर सहायता प्रदान की है। उनके नाटकों का मुख्य गुण यही है कि ऐतिहासिक वातावरण की पृष्ठभूमि में वर्तमान को रखकर उन्होंने भविष्य के लिए मार्ग-प्रदर्शन किया है।

नाटकीय विधान में प्रसाद ने सर्वमुखी मौलिकता एवं प्रतिभा का परिचय दिया है। यथा—

कथावस्तु—'प्रसाद' ने इतिहास की खोज के आधार पर अपने नाटकों की कथावस्तु का निर्माण किया है और नाट्यकला की उत्कृष्टता के विचार से उसमें अपनी कल्पना के योग द्वारा ऐसी परिस्थितियों की योजना की है, जो एकदम नई हैं। इस प्रकार विषय की नूतनता 'प्रसाद' की हिन्दी नाटकों को सबसे बड़ी देन है। इतना अवश्य है कि ऐतिहासिकता के निर्वाह के फलस्वरूप प्रसाद की सीमाएँ अपेक्षाकृत, विशेषकर भारतेन्दु को देखते हुए, संकुचित हो गई हैं।

इसी प्रकार पात्रों के चरित्र-विकास में भी उन्होने एक ही सूत्र रखा है। प्रत्येक पात्र अपने संस्कारों एवं जातिगत व्यवहारों में बद्ध है। यदि वह कभी

उनसे बाहर जाने का प्रयास भी करता है तो ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं कि वह अपने प्रयास में सफल नहीं हो पाता।

अपनी चरित्र-चित्रण-कला में प्रसाद जी ने एक नई प्रणाली का उपयोग किया है। उनके लगभग प्रत्येक नाटक में ऐतिहासिक घटनाओं के साथ-साथ एक ऐसा भी मनुष्य है जो विषमता में समता लाने का उद्योग करता है। संस्कारों में परिवर्तन, अधर्म पर धर्म की विजय, कठोरता पर कोमलता का प्रभुत्व और विरोधी के प्रति करुणा का भाव उत्पन्न करना—उसका प्रधान कार्य है। कभी-कभी तो यह काम किसी साधु-महात्मा से लिया गया है।

यह प्रसाद की कुशलता है कि ऐसे उदात्त चरित्रों के सम्पर्क में रखकर अपने पात्रों को वह ऐसी स्थिति तक गिरने ही नहीं देते जहाँ से वे ऊपर न उठ सकें। इन व्यक्तियों को लाकर प्रसाद ने देश-काल-तत्त्व की भी रक्षा कर ली है और मानवता का आदर्श भी सुरक्षित कर लिया है।

प्रसाद ने अपने नाटकों में सम्वाद बहुत ही सजीव एवं साभिप्राय रखे हैं। इनमें तर्क भी है तथा भावुकता का पुट भी। इन संवादों में 'स्वगत' तथा 'सूच्य' दोनों शैलियों का बहुत ही अच्छी तरह उपयोग किया गया है। इनके द्वारा पात्रों के चरित्र-चित्रण में एक नवीनता का समावेश हो गया है। कुछ नाटकों, जैसे—चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त तथा ध्रुवस्वामिनी में बाह्य परिस्थितियों से टक्कर लेते हुए पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व का इन सम्वादों द्वारा बहुत सुन्दर चित्रांकन हुआ है। इनकी धारावाहिकता—इनका प्रधान गुण है। प्रसाद के नाटकों के संवादों में एक ही दोष है—वे कहीं-कहीं आवश्यकता से अधिक बड़े हो गये हैं। इस कारण कहीं-कहीं वे अस्वाभाविक एवं अरुचिकर लगने लगते हैं।

प्रसाद के नाटकों की भाषा संस्कृतनिष्ठ हिन्दी है। सभी पात्र एक ही सी भाषा बोलते हैं। जटिलता—भाषा का दोष है, तथा भाषा की समानता—शैली का दोष है।

नाटकों के विधान में प्रसाद जी ने भारतीय नाट्य-शास्त्र के साथ पाश्चात्य नाट्य-सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय किया है। डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा के शब्दों में—"एक ओर तो उनके नाटकों में प्राचीन भारतीय नाट्यशास्त्र के समस्त

अंगों का परिपाक हुआ और दूसरी ओर उन्होंने पश्चिमी सिद्धान्तों का समावेश भी अपने नाटकों में दिखाया है ।"

प्रसाद ने प्रस्तावना और वर्जित विषय दिखाने वाले गर्भाङ्कों को एकदम छोड़ दिया है । उनके नाटकों का प्रारम्भ नितान्त आवश्यकीय दृश्य से होता है । कार्य-अवस्थाओं का सुन्दर निर्वाह है । प्रथम अङ्क भावी समस्याओं और घटनाओं की ओर सुन्दरता के साथ संकेत करता है ।

इन्हीं मूल घटनाओं के आधार पर कथा विकसित होती चलती है और पात्रों के चरित्र स्पष्ट होते रहते हैं । अन्त तक पहुँचते-पहुँचते समस्त चित्र समाप्त होते चलते हैं तथा हमारा कुतूहल और उत्सुकता भी समाप्त हो जाती है ।

नाटकों के अंक और दृश्य-विभाजन में प्रसाद ने कोई एक निश्चित क्रम नहीं अपनाया है ।

प्रसाद के नाटकों में आदर्श और यथार्थ के समन्वय द्वारा जीवन का सम्यक् चित्रण किया गया है । जीवन की भाँति उनके नाटकों में भी सुख और दुःख का सम्मिश्रण है ।

प्रसाद के अधिकांश नाटकों के नायक फल-प्राप्ति के अधिकारी हैं । परन्तु जहाँ नाटक का अन्त दुःखमय है, वहाँ प्रसाद ने दुःखान्त की भावना को दार्शनिकता का रूप दे दिया है । उन्होंने कर्त्तव्य को सर्वोपरि मानकर आत्म-संतोष को उसका परिणाम माना है । इस प्रकार वह शान्ति भी, जो चाहे मृत्यु अथवा पश्चात्ताप के द्वारा ही क्यों न प्राप्त हो, सुख की द्योतक बन जाती है । उन्होंने अपनी कल्पना और कुशलता द्वारा ऐसे वातावरण की सृष्टि की है जिसमें अपराध करने वाले को समय आने पर कर्त्तव्य का बोध हो जाता है और वह पश्चात्ताप करने लगता है । इस आत्म-ग्लानि को मिटाने के लिए वह मृत्यु का सामना करने को तैयार होता है, क्योंकि ऐसा करके वह सुख और शान्ति का अनुभव करता है । दुःख का सुख में पर्यवसान कर देना प्रसाद की अपनी विशेषता है और यह सुखान्त भावना ही उनके नाटकों की जान है ।

प्रसाद की सुखान्त भावना के सम्बन्ध में डॉक्टर सोमनाथ ने लिखा है— "प्रसाद की इस सुखान्त भावना में आत्म-शोध और सत्य की खोज की

दार्शनिकता छिपी है। अतएव इस नवीनता का सौंदर्य केवल उन्हीं को अनुभव हो सकता है जो सांसारिक स्तर से उठकर आत्मिक स्तर पर पहुँच जाते हैं।" मानवी भोगों और आदर्शों में उस उदात्त वृत्ति का सृजन प्रसाद की अनुपमता, विश्वकल्याण के प्रति उनकी विशाल-हृदयता का सूचक है, और हिन्दी नाटकों के लिए तो एक अनुपम देन है ही।

प्रसाद ने नाटकों में सुन्दर गीतों का समावेश किया है। गीत का साहित्यिक महत्त्व तो है ही, साथ ही ये गीत प्रसंगानुकूल भी हैं तथा पात्रों के चरित्र के उद्घाटन में विशेष सहायता प्रदान करते हैं। जैसे—

'चन्द्रगुप्त' नाटक में सुवासिनी के गीत और 'ध्रुवस्वामिनी' में मन्दाकिनी के गीतों द्वारा नारी की आन्तरिक स्थिति का सुन्दर उद्घाटन होता है। सुवासिनी के निम्नलिखित गीत में सौन्दर्य और यौवन के संकेत का भावपूर्ण वर्णन है—

तुम कनक किरण के अन्तराल में
लुक छिपकर चलते हो क्यों ?
नत मस्तक गर्व वहन करते,
यौवन के धन, रस बन ढरते;
हे लाज भरे सौन्दर्य, बता दो,
मौन बने रहते हो क्यों ?

प्रसाद ने इस प्रकार के अनेक गीत लिखे हैं जिनमें प्रेम और सौन्दर्य के बड़े ही सजीव वर्णन किये गए हैं।

सारांश यह है कि भारतेन्दु और प्रसाद—दोनों ही के नाटक हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। एक ने श्रीगणेश किया और दूसरे ने उन्हें चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया। दोनों ही काशी के अधिवासी थे।